अंक 289 वर्ष 59

भाषा

मार्च–अप्रैल 2020

वैदिक ज्ञान-विज्ञान विशेषांक

ॐ

स्वच्छ भारत
एक कदम स्वच्छता की ओर

सत्यमेव जयते

केंद्रीय हिंदी निदेशालय
भारत सरकार

भाषा (द्वैमासिक)

लेखकों से अनुरोध

1- ***भाषा*** में छपने के लिए भेजी जाने वाली सामग्री यथासंभव सरल और सुबोध होनी चाहिए। रचनाएँ प्रायः टंकित रूप में भेजी जाएँ। हस्तलिखित सामग्री यदि भेजी जाए तो वह सुपाठ्य, बोधगम्य तथा सुंदर लिखावट में होनी अपेक्षित है। रचना की मूलप्रति ही भेजें। फोटोप्रति स्वीकार नहीं की जाएगी।

2- लेख आदि सामान्यतः फुल स्केप आकार के दस टंकित पृष्ठों से अधिक नहीं होने चाहिए और हाशिया छोड़कर एक ओर ही टाइप किए जाने चाहिए।

3- अनुवाद तथा लिप्यंतरण के साथ मूल लेखक की अनुमति भेजना अनिवार्य है। इससे रचना पर निर्णय लेने में हमें सुविधा होगी। मूल कविता का लिप्यंतरण टंकित होने पर उसकी वर्तनी संबंधी त्रुटियाँ प्रायः नहीं होंगी, अतः टंकित लिप्यंतरण ही अपेक्षित है। रचना में अपना नाम और पता हिंदी के साथ–साथ अंग्रेजी में भी देने का कष्ट करें।

4- सामग्री के प्रकाशन विषय में संपादक का निर्णय अंतिम माना जाएगा।

5- रचनाओं की अस्वीकृति के संबंध में अलग से कोई पत्राचार कर पाना हमारे लिए संभव नहीं है, अतः रचनाओं के साथ डाक टिकट लगा लिफाफा, पोस्टकार्ड आदि न भेंजे। इन पर कोई कार्रवाई नहीं की जाएगी।

6- अस्वीकृत रचनाएँ न लौटा पाने की विवशता/असमर्थता है। कृपया रचना प्रेषित करते समय इसकी प्रति अपने पास अवश्य रख लें।

7- भाषा में केंद्रीय हिंदी निदेशालय द्वारा स्वीकृत मानक हिंदी वर्तनी का प्रयोग किया जाता है। अतः रचनाएँ इसी वर्तनी के अनुसार टाइप करवाकर भेजी जाएँ।

8- समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिए।

संपादकीय कार्यालय

संपादक भाषा, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, पश्चिमी खंड–7, रामकृष्णपुरम,
नई दिल्ली–110066

सत्यमेव जयते

भाषा

मार्च–अप्रैल 2020

वैदिक ज्ञान–विज्ञान विशेषांक

अध्यक्ष, परामर्श एवं संपादन मंडल
प्रोफेसर अवनीश कुमार

परामर्श मंडल
श्रीमती चित्रा मुद्गल
प्रो. गंगा प्रसाद विमल
डॉ. नरेंद्र मोहन
प्रो. श्याम आर. असोलेकर
श्री राहुल देव
प्रो. एम. वेंकटेश्वर
डॉ. मिलन रानी जमातिया

संपादक
डॉ. राकेश कुमार

सह–संपादक
श्रीमती अर्चना श्रीवास्तव

प्रूफ रीडर
श्रीमती इंदु भंडारी

कार्यालयीन व्यवस्था
सेवा सिंह

केंद्रीय हिंदी निदेशालय, उच्चतर शिक्षा विभाग,
मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार

ISSN 0523-1418
भाषा (द्वैमासिक)
वर्ष : **59** **अंक : 2 (289)**
मार्च–अप्रैल 2020

संपादकीय कार्यालय
केंद्रीय हिंदी निदेशालय,
उच्चतर शिक्षा विभाग,
मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार,
पश्चिमी खंड-7, रामकृष्णपुरम्,
नई दिल्ली-110066
वेबसाइट : www.chdpublication.mhrd.gov.in
www.chd.mhrd.gov.in
ईमेल : bhashaunit@gmail.com
दूरभाषः 011–26105211 / 12

बिक्री केंद्र :
नियंत्रक,
प्रकाशन विभाग, सिविल लाइंस,
दिल्ली - 110054
वेबसाइट : www.deptpub.gov.in
ई–मेल : pub.dep@nic.in
दूरभाष : 011-23817823/ 9689

सदस्यता हेतु ड्राफ्ट नियंत्रक,
प्रकाशन विभाग, दिल्ली के पक्ष में भेजें।

बिक्री केंद्र :
केंद्रीय हिंदी निदेशालय,
उच्चतर शिक्षा विभाग,
मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार,
पश्चिमी खंड-7, रामकृष्णपुरम्,
नई दिल्ली-110066
वेबसाइट : www.chdpublication.mhrd.gov.in
www.chd.mhrd.gov.in
ईमेल : bhashaunit@gmail.com
दूरभाषः 011–26105211 / 12
सदस्यता हेतु ड्राफ्ट निदेशक, कें. हिं. नि.,
नई दिल्ली के पक्ष में भेजें।

पत्रिका में व्यक्त विचार लेखकों के अपने हैं। इनसे भारत सरकार या
संपादन मंडल का सहमत होना अनिवार्य नहीं है।

अनुक्रमणिका

निदेशक की कलम से
आपने लिखा
संपादकीय
आलेख

खंड-I

वेद एवं विज्ञान

1.	संस्कृत साहित्य एवं वैदिक भूगर्भविज्ञान	डॉ. नीरज शर्मा	09
2.	संस्कृत-हिंदी भाषा-साहित्य में वैदिक-मनोविज्ञान	डॉ. विनोद कुमार	13
3.	वैदिक संस्कृत भाषा एवं नीतिविज्ञान	डॉ. विशाल भारद्वाज	18
4.	संस्कृत धर्मशास्त्र एवं वैदिक राजधर्म	डॉ. सलोनी	22
5.	वैदिक ग्रंथों में न्याय की अवधारणा एवं वर्तमान विधि व्यवस्था	डॉ. प्रशांत मिश्र	28
6.	वैदिक संस्कृत : वैज्ञानिक एवं राजनैतिक चिंतन	डॉ. दलबीर सिंह चाहल	33
7.	वैदिक साहित्य : भारतीय जिजीविषा का आईना	डॉ. राजहंस कुमार	36
8.	योगदर्शन और वेद : एक समग्र विवेचना	अखिलेश आर्येंदु	42
9.	वैदिक साहित्य और विविध विषयक नीतियाँ	डॉ. विजेंद्र प्रताप सिंह	50
10.	वैदिक ज्योतिष-विज्ञान अथवा आस्था	डॉ. शालिनी राजवंशी	54
11.	वैदिक एवं लोकसाहित्य में ज्ञान-विज्ञान	डॉ. अर्चना झा	57
12.	वैदिक वाङ्मय एवं पर्यावरण विज्ञान	डॉ. कपिल गौतम	62
13.	वर्ण व्यवस्था का वैदिक विज्ञान	डॉ. माधव कृष्ण	70
14.	वेदों में कृषि विज्ञान चिंतन	प्रोफेसर (डॉ.) दिनेश चमोला 'शैलेश'	77
15.	वैदिक वाङ्मय और तकनीकी : यातायात के प्राचीन वैज्ञानिक साधनों के संदर्भ में	डॉ. (कु.) साधना जनसारी	81
16.	वेदों में कृषि विज्ञान	डॉ. किरण शर्मा	85
17.	वैदिक काल और वर्तमान ज्यामितियों का अध्ययन	अवनीश कुमार चतुर्वेदी	89
18.	वेद-साहित्य और लोकमंगल का भाव	डॉ. नोदनाथ मिश्र	92
19.	वैश्विक ज्ञान-विज्ञान की संपूर्ण क्रियाओं का मूल उत्स : वेद	डॉ. पूरन चंद टंडन	96

खंड-II

वेद-भारतीय भाषाओं के संदर्भ में

20. भारतीय भाषाओं में वैदिक ज्ञान-विज्ञान	आ. अ. वेताल	100
21. भारतीय भाषाएँ एवं वैदिक आयुर्वेद (मलयालम भाषा के संदर्भ में)	लक्ष्मी वी.	103
22. भारतीय भाषाएँ एवं वैदिक चिकित्सा विज्ञान	अमित सिंह	105
23. भारतीय भाषाओं में प्राचीन जैन गणित विज्ञान	हरीश जैन	112
24. भारतीय भाषाओं में वैदिक कला विज्ञान : असमिया के विशेष संदर्भ में	डॉ. अंजू लता	115
25. भारतीय भाषाएँ एवं वैदिक ज्ञान विज्ञान : कन्नड भाषा के संदर्भ में	डॉ. शोभा	120
26. भारतीय भाषाएँ और वैदिक व्याकरण	डॉ. रेखा	124
27. भारतीय भाषाओं में वैदिक ज्ञान परंपरा : संस्कृत भाषा के विशेष संदर्भ में	डॉ. विदुषी शर्मा	129
28. कश्मीर की वैदिक परंपरा एवं भाषा	डॉ. प्रियंजन	140
29. मलयालम साहित्य में वैदिक दर्शन और योगशास्त्र	डॉ. के. वनजा	144

खंड-III

वेद एवं भारतीय साहित्य

30. काव्य और छांदोग्योपनिषद् की प्राणमयी संस्कृति	डॉ. राजेश कुमार	151
31. संस्कृत और वैदिक धर्म : श्रीमद्भगवद्गीता के विशेष संदर्भ में	प्रो. रवींद्र कुमार	156
32. स्वामी दयानंद सरस्वती का वेदों के प्रचार में योगदान	डॉ. राजरानी शर्मा	158
33. भारतीय भाषाओं में वेदों की नैतिक शिक्षा (महर्षि दयानंद सरस्वती के 'वेदामृत' एवं आचार्य विनोवा भावे के 'वेदामृत' के संदर्भ में)	सागर चौधरी	165
34. वैदिक सौंदर्यबोध और रामविलास शर्मा का चिंतन	अमन कुमार	167
35. 'कामायनी' में वैदिक ज्ञान-विज्ञान	डॉ. साक्षी जोशी	174
36. 'वैश्वानर' उपन्यास में वैदिक संदर्भ	डॉ. उमेश कुमार शुक्ल	179

हिंदी कविता

37. वेद सभ्यता के आदि ग्रंथ	सतीश श्रोत्रिय	183
संपर्क सूत्र		**184**
सदस्यता फार्म		

निदेशक की कलम से

शिक्षा और संस्कार मानव सभ्यता के दो आधार बिंदु हैं, जिनपर मानव जीवन का निर्माण निर्भर करता है। ये जन्म-जन्मान्तर तक संक्रान्त होते हैं। यह तथ्य भी महत्वपूर्ण है कि संस्कार करने या शिक्षा प्रदान करने की परंपरा भारत वर्ष में कई सदियों तक अविच्छिन्न रूप से चलती रही। इन दोनों का संबंध ज्ञान से है और ज्ञान को वैदिक परंपरा में बहुत महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। अद्वैत वेदान्त में 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' कहकर परम पुरुषार्थ के लिए अनिवार्य हेतु कह दिया गया। भगवद्गीता में ज्ञान को पवित्रतम बताया गया अर्थात् ज्ञान व्यक्ति को पवित्र करता है और अज्ञान के आवरण को दूर कर उसे निर्भय बना देता है। ज्ञान के मूल स्रोत तो वेद ही हैं। 'वेदोखिलो धर्ममूलम्' (मनुस्मृति 2.6) सर्वं वेदे प्रतिष्ठितम् (मनुस्मृति) सर्वज्ञानमयो हि सः (मनुस्मृति 2.7) आदि अनेक संदर्भ इसके प्रमाण हैं।

महाभारत में यह स्पष्टतः कहा गया है कि स्वयंभू ब्रह्मा ने अनादि, अनंत, नित्य एवं दिव्य रूप वाक् को सबसे प्रथम वेद के रूप में ही प्रकट किया, जिससे संसार की समस्त प्रवृत्तियाँ प्रारंभ हुई। अर्थात् वेद ही हमारी समस्त प्रवृत्तियों का, ज्ञान-विज्ञान का मूल स्रोत है। इसका प्रभाव तदुत्तरवर्ती चिंतन में भी दिखाई पड़ता है। वेदों के रहस्य को जानने के लिए वेदाङों के अध्ययन का विधान है। वैदिक ज्ञान मीमांसा का पल्लवन भारतीय वैदिक दर्शन में देखा जा सकता है। वैदिक ज्ञान गुरुशिष्य परंपरा के रूप में आगे बढ़ता रहा। साथ ही साथ देश-कालानुरोध से उत्पन्न नए चिंतन को भी आत्मसात् करता गया। इससे प्रभावित मानव जीवन पद्धति ने पूरे विश्व के कल्याण की कामना की। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की पवित्र भावना वैदिक शिक्षा की सर्वोत्तम देन है।

वेद ही भारतवर्ष की शिक्षा की आत्मा है। इससे भारतीय साहित्य का अनुप्राणित होना स्वाभाविक है। इस प्रकार मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से संबंधित ज्ञान की सामग्री से परिपूर्ण वेदों की महत्ता प्रत्येक काल में असंदिग्ध है। वेदों के इसी महत्वपूर्ण योगदान एवं उसकी बहुआयामी उपयोगिता को विभिन्न लेखकों ने अपनी लेखनी द्वारा भाषा के मार्च-अप्रैल 2020 के अंक में प्रस्तुत किया है। वेद स्वयंसिद्ध हैं। यहाँ हमारा लक्ष्य इनकी महत्ता का प्रस्तुतीकरण नहीं वरन् इनके महत्व के प्रति जनमानस का ध्यानाकर्षण मात्र है।

रमेश कुमार पाण्डेय

प्रोफेसर रमेश कुमार पांडेय

‘.....मैं भी देशभक्ति में विश्वास करता हूँ, और देशभक्ति के संबंध में मेरा भी एक आदर्श है। बड़े काम करने के लिए तीन बातों की आवश्यकता होती है। पहला है हृदय की अनुभव-शक्ति। बुद्धि या विचारशक्ति में क्या है? वह तो कुछ दूर जाती है और बस वहीं रुक जाती है। पर हृदय तो प्रेरणास्रोत है। प्रेम असंभव द्वारों को भी उद्घाटित कर देता है। यह प्रेम ही जगत् के सब रहस्यों का द्वार है।.....क्या तुम हृदय से अनुभव करते हो कि लाखों आदमी आज भूखों मर रहे हैं, और लाखों लोग शताब्दियों से इसी भाँति भूखों मरते आए हैं। क्या तुम अनुभव करते हो कि अज्ञान के काले बादल ने सारे भारत को ढक लिया है? क्या तुम यह सब सोचकर बेचैन हो जाते हो? क्या इस भावना ने तुमको निद्राहीन कर दिया है? ..... क्या देश की दुर्दशा की चिंता ही तुम्हारे ध्यान का एकमात्र विषय बन बैठी है? ..... यदि हाँ, तो जानो कि तुमने देशभक्त होने की पहली सीढ़ी पर पैर रखा है- हाँ, केवल पहली ही सीढ़ी पर!’

भारतीय व्याख्यान, स्वामी विवेकानंद

अनुवादक : श्री सूर्यकांत त्रिपाठी, ‘निराला’

भाषा ISSN 0523-1418

संपादकीय

वेद ज्ञान की निधि हैं। वेदों में अनंत ज्ञान और विज्ञान भरा हुआ है। विश्व-संस्कृति के आधार वेद हैं। वेदों से ही विश्व की विभिन्न संस्कृतियों का विकास हुआ है। इसलिए हमारे स्मृति ग्रंथों में वेदों को सर्वज्ञानमय बताया गया है और उन्हें धर्म का आधार कहा गया है। वेदों के विषय में स्मृतियों की यह अवधारणा गंभीर चिंतन का परिणाम थी। महर्षि दयानंद सरस्वती ने वेदों को अक्षय ज्ञान का स्रोत और संपूर्ण मानवता के लिए कल्याण का आधार माना है। उन्होंने विविध मंत्रों के उल्लेख से यह सिद्ध किया कि विज्ञान की अनेक शाखाओं से संबद्ध मंत्र वेदों में प्राप्त होते हैं और इनके गहन अध्ययन के द्वारा शिल्प और विज्ञान की अनेक शाखाओं के रहस्य का पता लगाया जा सकता है। भारतीय आचार्यों ने वेदों का अर्थ करने में सभी मंत्रों को देव-स्तुति-परक अथवा यज्ञ-परक मानकर तदनुसार मंत्रों की व्याख्या की है। उन्होंने उन मंत्रों के आध्यात्मिक और वैज्ञानिक अर्थों की सर्वथा उपेक्षा की और पाश्चात्य विद्वानों ने केवल उनके अर्थों को आधार मानकर अपने अनुवाद आदि प्रस्तुत किए हैं। अतः वे वास्तविक गंभीरता से वंचित रह गए हैं। वैदिक मंत्रों के साथ-साथ वैदिक भाषा का भी महत्व है। वैदिक मंत्रों में बहुत थोड़े शब्दों में अगाध भाव-गांभीर्य भरा हुआ है।

वैदिक काल से आज तक भाषा एवं शैक्षिक विषयों पर गहन मनन और चिंतन होता रहा है। वैदिक महर्षियों ने ही नहीं अपितु वर्तमान भाषाविदों और शिक्षाशास्त्रियों ने इन विषयों पर गंभीर चर्चा की है। भाषा और शिक्षा जीवन का वह महत्वपूर्ण अंग है जो मनुष्य को न केवल अनुशासित, संयमी और प्रगतिशील बनाए रखता है बल्कि मनुष्य के आध्यात्मिक नैतिक, बौद्धिक, मानसिक और चारित्रिक गुणों का सतत विकास करता है। ऋग्वेद में वाग्देवी का महत्व बताते हुए कहा गया है कि वह राष्ट्र और मानव में तेजस्विता प्रदान करती है और सद्भाव का संचार करती है, वही मनुष्य को ऋषि, महर्षि, मेधावी और तेजस्वी बनाती है। प्राचीन शिक्षा पद्धति में पुरुषार्थ-चतुष्टय अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को जीवन का लक्ष्य माना गया है। इसमें अर्थ से पूर्व धर्म को स्थान दिया गया है। वैशेषिक दर्शन में भी लौकिक उन्नति को धर्म के अंदर समाविष्ट किया गया है। इस विषय में महाभारत में चेतावनी दी गई है कि इन चारों को समान महत्व दिया जाना चाहिए जो व्यक्ति इनमें से किसी एक में आसक्त हो जाता है, वह लक्ष्य से च्युत हो जाता है। व्यक्ति के संपूर्ण विकास के लिए वेदों में इन गुणों की आवश्यकता बताई गई है। मानव जीवन की सफलता के लिए कर्तव्यनिष्ठा, सत्यनिष्ठा और सच्चरित्रता अनिवार्य है। यजुर्वेद का कथन है कि विद्या और अविद्या, संभूति और असंभूति, ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग, अध्यात्मवाद और भौतिकवाद इनमें से एक मार्ग व्यावहारिक जगत में सफलता प्रदान करता है तो दूसरा अध्यात्म मार्ग में। इसलिए दोनों का समन्वय आवश्यक है। भारतीय और पाश्चात्य विचारधारा में यही मौलिक अंतर है। भारतीय विचारधारा जहाँ अध्यात्म प्रवण है, वहीं पाश्चात्य विचारधारा विशुद्ध रूप से भौतिकवादी है।

वेदों में मानवीय व्यवहार के लिए कुछ उपयोगी निर्देश दिए गए हैं जिससे मनुष्य का जीवन नैतिक और आदर्श उच्च हो सकें। वेदों में चरित्र की उच्चता और पवित्रता पर बहुत बल दिया गया है। यदि मनुष्य की इच्छा शक्ति दृढ़ है तो वह जीवन में कठिन से कठिन लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। ऋग्वेद में कहा गया है दृढ़ संकल्प शक्ति से मनुष्य जीवन में सदैव विजयी होता है- "अहमिन्द्रो न परा जिग्ये (ऋग. 10.48.5)"

भारतीय भाषाओं में वैदिक ज्ञान और विज्ञान विषय पर आधारित यह विशेषांक सुधी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। भाषा के माध्यम से सभी लेखकों का भाषा-परिवार अत्यंत आभारी है तथा आशा है भविष्य में भी आपका सहयोग इसी प्रकार मिलता रहेगा।

(डॉ. राकेश कुमार)

"संगच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।"
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।।
ऋ. 10/191/2

"समानो मंत्रः समितिः समानी, समानं मनः सह
चित्त्मेषाम्।
समानं मंत्रमभिमंत्रये वः समानेन वो हविषा, जुहोभि।।"
(ऋ. 10/191/3)

"मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।। (यजु. 36/18)

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम्।।"
(अथर्व. 3/30/2)

संस्कृत साहित्य एवं वैदिक भूगर्भविज्ञान

डॉ. नीरज शर्मा

संस्कृत साहित्य की जो विशाल संपदा प्राचीन भारतीय साहित्य परंपरा में सर्वत्र बिखरी पड़ी है, वह सृष्टि के अनेक रहस्यों को समाहित किए हुए है। एक विदेशी विद्वान कापरा ने अपने ग्रंथ 'ताओऑन फिजिक्स' में कहा है कि आधुनिक विज्ञान जिन विषयों पर आज पहुँच रहा है, उनमें से अनेक वेदों में पहले से ही उपलब्ध हैं। महर्षि अरविंद तो यहाँ तक कहते हैं कि वेदों में वह ज्ञान-विज्ञान भी है, जिन्हें आने वाले समय के भावी वैज्ञानिक खोजेंगे।

ज्ञान के बहुत से पक्षों एवं सिद्धांतों को बड़े ही स्पष्ट ढंग से संस्कृत भाषा में रचित ग्रंथों में वर्णित किया गया है। प्रस्तुत शोधालेख को इस संदर्भ में देखने का प्रयास नहीं किया जाना चाहिए कि संस्कृत साहित्य विज्ञान का आधारभूत स्रोत है, जहाँ से हमें विज्ञान के सिद्धांतों का संपूर्ण ज्ञान सुलभ हो सकेगा, वरन इसे इस प्रकार से समझना चाहिए कि साहित्य, साहित्य है और विज्ञान, विज्ञान। इन दोनों में मूलभूत अंतर रहा है। सदा रहेगा और रहना भी चाहिए। न तो विज्ञान में साहित्य की कलात्मकता पूर्णरूपेण आ सकती है और न ही साहित्य में विज्ञान को उसके मूल रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इस तथ्य में सत्य होते हुए भी हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि एक सामान्य से सामान्य व्यक्ति के मन में भी विज्ञान के रहस्यों को लेकर अनेक विचार-शृंखलाएँ उद्भूत होती हैं, जिन्हें वह अपने साथ संबद्ध पाता है। कभी अपनी कल्पना की उड़ानों में जाकर विज्ञान के सिद्धांतों को अपनी भावनाओं के अनुकूल अनुभव करता है, कभी वह अपने आध्यात्मिक एवं धार्मिक पक्षों को विविध विज्ञानों के समरूप अनुभव करता है।

वैदिक संस्कृत में रचित द्रष्टा ऋषि-मुनि तथा संस्कृत के पुरोधाओं का संपूर्ण जीवन विविध क्षेत्रों के चिंतन मनन से परिपूर्ण था। इस चराचर जगत के स्थूल रूप से लेकर सूक्ष्म अणु-परमाणु तक के विषय में उनका गंभीर चिंतन रहा है। इसका परिणाम यह हुआ कि जब उनकी अनुभूति ने साहित्य की निर्मल धारा के रूप में स्वरूप ग्रहण किया, तो उसमें उनके ज्ञान-क्षेत्र की विविधता भी सहज ही समावेशित हो गई। उसी का कारण है कि हमारी वैदिक ऋचाओं, उपनिषदों, ब्राह्मण-ग्रंथों, पौराणिक एवं अन्य आध्यात्मिक ग्रंथों में उस समय के ज्ञान-विज्ञान की परंपराओं एवं स्थापनाओं के अनेक संकेत उपलब्ध होते हैं। संपूर्ण संस्कृत साहित्य में भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, प्राणी विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, आयुर्वेद विज्ञान, ज्योतिष विज्ञान, गणित विज्ञान तथा अन्य विविध विज्ञानों का विवरण सहज ही देखा जा सकता है।

संस्कृत साहित्य में भूगर्भविज्ञान से संबद्ध सूक्ष्म ज्ञान बिखरा पड़ा है। यह विज्ञान पृथ्वी के संघटन के प्रकार, स्वरूप एवं संरचनात्मक प्रक्रिया का वर्णन करता है। इस भू का बाह्य एवं आंतरिक भाग किस प्रकार निर्मित हुआ, इसका प्रारंभिक स्वरूप क्या था?

वर्तमानकालिक स्वरूप कैसा है? यह सब भूगर्भविज्ञान के अंतर्गत वैदिक काल से भूसंचालन, भूकंपन, ज्वालामुखी विस्फोट, पर्वत-निर्माण का सूक्ष्म विवेचन, संस्कृत भाषा एवं साहित्य में प्राप्त होता है। उक्त सभी प्रक्रियाओं के कारणों का भी विस्तार से विवेचन वेद-द्रष्टा ऋषियों द्वारा किया गया है। प्रयोगों के आधार पर आज वैज्ञानिकों के द्वारा भूगर्भविज्ञान के जिस स्वरूप का निर्धारण किया गया है, वह सब वैदिक विश्वकोश में वर्णित है। 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' नामक विश्वकोश में भूगर्भविज्ञान का विवरण निम्नलिखित रूप में उपलब्ध होता है-

पृथ्वी की आंतरिक संरचना के बारे में यह बताया गया है कि पृथ्वी की आंतरिक संरचना के तीन भाग हैं- भूपर्पटी, प्राकार और भूक्रोड। यह विभाजन पृथ्वी तल के 25 किलोमीटर परिमाण से 3500 किलोमीटर परिमाण तक विद्यमान है। पृथ्वी नारंगी के समान गोल है और इसके दोनों भाग संकुचित हैं। इसके चार मंडल हैं- स्थलमंडल, जलमंडल, वायुमंडल और आयनमंडल।

स्थलमंडल रासायनिक तत्वों के मिश्रण से निर्मित पर्वत, पत्थर की शिलाओं और समतल भूभाग का वाचक है। वहाँ पाषाण शिला तीन प्रकार की होती हैं। आग्नेय पाषाण शिला, कल्कीय पाषाण शिला और विरूपित पाषाण शिला।

आग्नेय पाषाण शिला का निर्माण पृथ्वी के द्रवीभूत पदार्थों के साथ होता है और कल्कीय पाषाण शिला का निर्माण तालाबों और समुद्रों में वर्षा-जल के साथ आए हुए पर्वत के खंडों से तथा मिट्टी के कणों से होता है। जब आग्नेय पाषाण शिला और कल्कीय पाषाण शिला के अत्यधिक भार से और ताप की अधिकता से घनीभूत द्रव निकलता है, तब विरूपित पाषाण शिला का निर्माण होता है।

ज्वालामुखी से संबद्ध ज्ञान के बारे में भी विश्व कोश में बोध उपलब्ध है। विज्ञान जगत में यह मान्यता प्राप्त तथ्य है कि पृथ्वी के आभ्यंतर भाग में ताप की अधिकता होती है। इस ताप की अधिकता से अंदर स्थित पाषाण शिला तरलीभूत होकर द्रवत्व को प्राप्त हो जाती है और जब तरलीभूत द्रव्य के ऊपर भार की अधिकता होती है, तब यह द्रवीभूत पदार्थ पृथ्वी से बाहर आ जाता है। यह बाहर आया हुआ पदार्थ ही ज्वालामुखी होता है।

भूकंप के बारे में कहा गया है कि भूमि का कंपन भूकंपन कहलाता है। जब पृथ्वी के आंतरिक भाग में कुछ गति की अधिकता से हलचल उत्पन्न होती है, तब भूमि काँपती है। इसी प्रकार जब पृथ्वी के गर्भ में गैस के भार की अधिकता होती है तब भी धरती काँपती है। पृथ्वी का यह कंपन ही भूकंपन कहलाता है। वैज्ञानिक पर्वतों की स्थिति को भी भूकंपन का प्रमुख कारण स्वीकार करते हैं। भूकंपन के साथ उत्पन्न हुई तरंगों से लोगों की, नगरों की और पृथ्वी की अत्यधिक हानि होती है, क्योंकि भूकंपन वाले स्थान पर उत्पन्न हुई विभिन्न तरंगे विभिन्न दिशाओं में जाती हैं, जिनके साथ भूमिकण भी चले जाते हैं। इसी कारण पृथ्वी पर कहीं गड्ढे होते हैं, कहीं नदी का प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है और कहीं जलाशयों की उत्पत्ति हो जाती है। पृथ्वी में उत्पन्न हुए गड्ढों में वृक्ष, गृह, पशु और मानव विलीन हो जाते हैं। डे ग्रेट महोदय भूकंपीय तरंगों का आश्रय लेकर भूगर्भ रचना का निम्न प्रकार से वर्णन करते हैं। बाह्य स्थल परिधि, आभ्यंतर-सिलीकेट परिधि, सिलीकेट और धातुओं की परिधि, धातुरूप नाभिक परिधि।

पाषाण शिलाओं से सूचित युगक्रम से संबद्ध वैज्ञानिक तथ्य है कि पूर्वोक्त आग्नेयादि पाषाणशिला पृथ्वी की प्राचीन अवस्था का बोध कराती हैं। इन पाषाणशिलाओं से युगक्रम भी ज्ञात होता है। तदनुसार युगक्रम के निम्नलिखित भेद बताए गए हैं-

पूर्व त्रिखंड, त्रिखंड, अवर प्रवाल खंड, प्रवाल खंड, मत्स्य युगीन खंड, पुरातन रेतोऽश्म खंड, गिरी युगीन खंड। इन सभी पाषाण शिलाओं का संबंध आदिकल्प और प्रथम शृंखला से है। इसके अतिरिक्त द्वितीय-स्तरीय पाषाण शिलाओं के भी अनेक भेद बताए गए हैं जैसे- प्रतिनूतन, आदिनूतन, मध्यनूतन और नूतन।

भूगर्भ- वैज्ञानिकों के द्वारा पृथ्वी की समस्त विकास शृंखला हिमकाल और हिमांतर आदि काल में भी विभक्त है। वैज्ञानिकों के द्वारा इन पाषाण शिलाओं की आयु सात करोड़ वर्षों की बताई गई है।

अनेक भूगर्भ वैज्ञानिकों के द्वारा पृथ्वी की आयु का काल-निर्धारण करने में अनेक विधियों का प्रयोग किया गया है।

कल्कनविधि- इस विधि के अनुसार नदियाँ समुद्र में लवण लाती हैं, यह सब जानते हैं। नदियाँ प्रतिवर्ष कितनी ही मात्रा में लवण लाती हैं और कितनी मात्रा में लवण की मात्रा समुद्र में विद्यमान है; इस तत्व के विश्लेषण से भूगर्भवेत्ता पृथ्वी की आयु का निर्णय करते हैं।

भूतत्वीय विधि- इस विधि से भूगर्भ वैज्ञानिक पृथ्वी का रचनाकाल निर्धारित करते हैं। वह भूमितल पर विभिन्न भूतत्वीय युगों में जो कल्कीय पदार्थ हैं, उनकी स्थूलता, वर्तमान कल्कीय पदार्थों की घनीभूत गति को मापते हैं। उसके अनुसार वर्तमान स्तनधारी जीवों का काल पाँच लाख वर्षों से सात लाख वर्षों तक विद्यमान बताया गया है। और क्या प्राचीन युगकाल दो सौ बीस लाख से पाँच सौ लाख वर्ष तथा अति प्राचीन युग काल अठारह करोड़ वर्ष प्राचीन माना गया है।

हीलियम विधि- इस विधि से खनिज पदार्थों के छिद्रों में स्थित हीलियम गैस नामक तत्व की मात्रा जानकर पृथ्वी की आयु निश्चित की जाती है। इसके अनुसार पृथ्वी की रचना छह करोड़ वर्ष पहले हुई।

विकरणशील विधि- धरती की आयु जानने के लिए वैज्ञानिक विकरणशील विधि का भी प्रयोग करते हैं। विज्ञान जगत में यह प्रसिद्ध है कि यूरेनियम-रेडियम आदि गुरुभूत तत्वों के परमाणुओं का निंतर विघटन होता है। इनमें भारत के तापमान का कोई भी प्रभाव नहीं होता। तत्वों के निरंतर विघटन से इन पाषाणशिलाओं से सीसा नामक पदार्थ उत्पन्न होता है। किसी युग में सीसा नामक बीजभूत पदार्थ और रेडियो जनक सीसा पदार्थ मिलकर अस्यक नामक पदार्थ का रूप धारण कर लेते हैं। अस्यक नामक पदार्थ की विभिन्न रूपों में समस्थानिक आकृति और परमाणु भार को अच्छी तरह से जानकर भूगर्भवैज्ञानिक पृथ्वी की आयु का निर्णय करते हैं और बताते हैं कि पृथ्वी की आयु साढ़े तीन से चार अरब करोड़ वर्ष प्राचीन है।

भूगर्भ से संबद्ध आधुनिक वैज्ञानिकों के आज के दावे और संस्कृत भाषा में रचित वैदिक साहित्य में सुलभ तथ्यों में अद्भुत समानताएँ देखने को मिलती हैं, जिन्हें संकेत रूप में यहाँ प्रस्तुत करने का विनम्र प्रयास है।

ब्राह्मणग्रंथों और उपनिषदों में सृष्टि की रचना सहित भूगर्भ का स्वरूप निम्नलिखित रूप से उपलब्ध होता है-

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार प्रजापति ने पृथ्वी के निर्माण के लिए समुद्र का मंथन किया। उनमें कर्मतत्व उत्पन्न हुए। पुनः ब्रह्मा ने अपः अतप्यत, उनमें फेन, मिट्टी, ऊष, सिकता और शर्करा उत्पन्न हुई। उसके पश्चात् अयः, हिरण्य और औषधियाँ उत्पन्न हुई। इस ब्राह्मण ग्रंथ के अन्य स्थल पर कहा गया है कि पहले यह पृथ्वी संकुचित थी। एमूषः वाराह ने इसका विस्तार किया। यास्काचार्य एमूषः सब ओर वृष्टि करने वाले, वाराहः मेघः इसे निर्वचनपूर्वक सिद्ध किया है।

संक्लिश्याप्सु प्राविध्यत् तस्यै यः पराङ् रसोऽत्यक्षरत्- स कूर्मोऽभवत्। शतपथ ब्राह्मण 6.1.1.12

तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार प्रलय काल में असद् कारण रूप सामग्रय ही था। तारू ब्रह्मा अतप्यत। ..... उससे क्रमशः अग्नि, ज्योति, मरीचि और ज्वाला उत्पन्न हुई और फिर मेघ उत्पन्न हुए। उसके भेदन से समुद्र उत्पन्न हुआ और फिर पार्थिव कणों से युक्त जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई। इदं वै अग्ने नैव किंचनासीत्। तदप्यता तस्मात्तपनाद् धूमो जायत। .....स पृथिव्यभवत्। तैत्तिरीय ब्राह्मण 2.2.91

तैत्तिरीय उपनिषद में वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई। तत्पश्चात पृथ्वी से औषधियाँ, औषधियों से अन्न, अन्न से पुरुष हुआ। (तस्मादात्मनः आकाशः संभूतः। आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्य पृथिवी। पृथिव्याः ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात् पुरुषः। तैत्तिरय उपनिषद् 8.1.

वेदों में पृथ्वी की रचना का वर्णन संक्षेप में उपलब्ध होता है। ऋग्वेद के अनुसार सर्वप्रथम यह पृथ्वी तरल थी और यह विस्तारमुखा भी थी तब कहीं पर्वतों की उत्पत्ति हुई और कहीं समुद्र स्वयं अपना स्थान परिवर्तित करते थे तब इंद्र रूप परमेश्वर ने शिथिल पृथ्वी को जड़ किया; इधर-उधर चलते हुए

पर्वतों को नियमित किया। यः पृथिवीं व्यथमानामंदृहत/ यः पर्वतान् प्रकुपितान् अरम्णात्। ऋग्वेद 2.12.2

पृथ्वी लोक की उत्पत्ति

ऋग्वेद में और ऐतरेय ब्राह्मण में पृथ्वी लोक की उत्पत्ति विद्यमान है। ऋग्वेद के अनुसार पहले पृथ्वी सूर्य का ही भाग थी और बाद में वरुण के द्वारा वह सूर्य से अलग की गई। वि यो ममे पृथ्वीं सूर्येण- ऋग्वेद 5.85.5

ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार तो पहले द्युलोक और पृथ्वीलोक एक ही भूत थे। वायु और भौतिक अग्नि ने इन दोनों लोकों को अलग किया। इमौ वै लोकौ सहास्ताम् - ऐतरेय ब्राह्मण 7.10.16

द्यावापृथ्वी सहास्ताम् -तैति. संहिता 5.2.3/ इमौ वै लोकौ। ते वायुर्व्यवात् तैत्ति. 3.4.3

अग्न आ याहि वीतये-इति। तद्वा भवति वीतये इति...। ते देवा अकामयन्त कथन्नु इमे लोका वितरां स्युः.... तानेतैरेव त्रिभिरक्षरैः व्यनयन् वीतये-इति। त इमे विदुरं लोकाः ...शतपथ ब्राह्मण 1.4.1.22.23

ऋग्वेद में पृथ्वी की परतों का भी वर्णन उपलब्ध होता है। उसके अनुसार पृथ्वी की सात प्रविधियाँ हैं और उनका स्वामी वरुण विद्यमान है। वरुण की श्वेत रश्मियाँ तीनों परिधियों का विस्तार करती हैं। यह तीनों परिधियाँ दृढ़ हैं और शेष तरलीभूत हैं। यस्य श्वेता विचक्षणा भूमिरधिक्षितः। त्रिरुत्तराणि पप्रतुर्वरुणस्य रुवं सदरू स सप्तनाभिरज्यति। ऋग्वेद 8.41.1

पृथ्वी की ज्योतिषमति विकरण शक्ति के बारे में आता है कि विशिष्ट गुरु पदार्थों के अंदर से निरंतर वेग से निस्पंदनमान तड़ित कण रूपी सूक्ष्म अणु ही विकरण शक्ति कहलाती है। यजुर्वेद के अनुसार पृथ्वी अपने गर्भ में अग्नि धारण करती है। यह अग्नि ज्योतिषमान और तेजोमय है। इसलिए यह शक्ति निरंतर प्रकाशित होती है। संवसाथा स्वर्विदा समीची उरासात्मना। अग्निमन्त - र्भरिष्यन्ती ज्योतिष्मन्त जसुमित्। यजुर्वेद 11.31 उरसातमना हृदये अग्निं धारयती पृथ्वी.....

पृथ्वी के जलों और समुद्रों के भीतर पुरीष्य अग्नि का वास होता है। यह पुरीष्य अग्नि प्राकृतिक गैस नाम से संसार में प्रसिद्ध है, जो तेजोमय है। यह मत यजुर्वेद में वर्णित है: पृथ्व्याः सधस्थाद् अग्निं पुरिष्यम् अंगिरस्वत् खनामि। यजुर्वेद 11.28 अपां पृष्ठमसि योनिरग्नेः, समुद्मभितः पिन्वमानम्। यजुर्वेद 11.29

अथर्ववेद के अनुसार पृथ्वी के गर्भ में स्थित शक्ति ही पृथ्वी की गति का कारण है। या अपसर्प विजमाना विमृग्वरि। अथर्ववेद 12.1.37

अथर्ववेद के अनुसार पृथ्वी की आयु चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष विद्यमान है। एकं यद्दंगमकृकणोत सहस्रधाकियताः सकम्भः प्रविवेश तत्र। ऋग्वेद के अनुसार मनुष्य की उत्पत्ति से पहले औषधियों की उत्पत्ति हुई। यह एक करोड़ उनतीस लाख वर्ष पहले मनुष्य की उत्पत्ति से भी पहले हुई। तभी पृथ्वी की आयु चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष मानी गई है।... अथर्ववेद. 10. 7.9

उपसंहार

इस प्रकार आधुनिक वैज्ञानिकों और प्राचीन ऋषियों के भूगर्भवैज्ञानिक तथ्यों का अवलोकन करने के पश्चात् निसंकोच कहा जा सकता है कि आधुनिक भूगर्भ वैज्ञानिकों द्वारा विवेचित तथ्यों और संस्कृत वैदिक साहित्य में भूगर्भ विज्ञान से संबद्ध जानकारी में अद्भुत समानताएँ हैं। कहीं-कहीं तो सृष्टि विज्ञान के विषय में वेद दृष्टाओं के वचन आज के वैज्ञानिक तथ्यों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और विश्वसनीय प्रतीत होते हैं।

– अध्यक्षा, संस्कृत विभाग, कन्या महाविद्यालय, जालंधर, पंजाब

❑❑❑

संस्कृत-हिंदी भाषा-साहित्य में वैदिक-मनोविज्ञान

डॉ. विनोद कुमार

मनोविज्ञान आज जिस ढंग से पल्लवित पुष्पित हुआ है और पूरे विश्व में इसकी जिस प्रकार से अनेक शाखाएँ चल रही हैं, इससे इसकी महत्ता पर तो किसी को कोई संदेह नहीं और पिछले काफी लंबे अरसे से पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने इस क्षेत्र में जो उपलब्धियाँ हासिल की हैं, उसके लिए वे प्रशंसा के पात्र और सम्मान के अधिकारी हैं, लेकिन इसका अभिप्राय यह नहीं लेना चाहिए कि भारतीय भाषाओं और साहित्य की परंपरा में मनोविज्ञान संबंधी सामग्री का अभाव है। हमारे वैदिक, पौराणिक, औपनिषदिक तथा अन्य बहुत से ग्रंथों में इससे संबद्ध विपुल ज्ञानराशि बिखरी पड़ी है। वेदोपनिषद में मनोविज्ञान से संबद्ध सूक्ष्म ज्ञान उपलब्ध है। वेदांत और योग में भी मनोविज्ञान के तत्व भरे पड़े हैं। ब्रेट कृत 'हिस्ट्री ऑफ साइकोलॉजी' नामक ग्रंथ के पहले भाग के18वें अध्याय में भारतीय मनोविज्ञान का उल्लेख किया गया है। इस ग्रंथ में वेदांत, सांख्य, न्याय, वैशेषिक तथा बौद्ध दर्शन में भारतीय मनोविज्ञान के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। पश्चिमी मनोविज्ञान के पुजारी भारतीय मनोवैज्ञानिक, अपने अज्ञान को यह कहकर छुपाते हैं कि भारत में मनोविज्ञान था ही कब? जो कुछ भारतीय मनोविज्ञान के नाम पर लिखा गया है, वह वास्तव में भारतीय दर्शन है, धर्म शास्त्र है।... लेकिन यह तो ऐतिहासिक सत्य है कि अपने आरंभिक काल से लेकर और कुछ सदियों पूर्व तक विश्व के सभी दर्शनों में मनोविज्ञान सम्मिलित था (मनोविज्ञान की ऐतिहासिक रूपरेखा विषय प्रवेश पृ.2) तो यदि भारतीय मनोविज्ञान दर्शन का अंग बनकर आया है, तो इससे उसकी महत्ता और गुणवत्ता कम नहीं हो जाती।

मनोविज्ञान के अध्ययन का क्षेत्र मन है, जिसका वेदों, उपनिषदों तथा अन्य भारतीय ग्रंथों में सूक्ष्म विवेचन मिलता है। मन को ज्ञानेद्रिय एवं कर्मेंद्रिय दोनों ही कहा गया है। क्योंकि वह दोनों प्रकार की इंद्रियों को अपने-अपने कार्य में लगाता है। मन के द्वारा ही आँखें अपने देखने का और रसना बोलने का कार्य करती है।

यद्यपि मनोविज्ञान अन्य विज्ञानों की भाँति नहीं है। इसमें आंकड़े, तथ्य और निष्कर्ष हमेशा समान नहीं रह सकते, लेकिन इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि इसमें कोई संभावना ही नहीं हो सकती, जहाँ यह संभव हो सके। इसके लिए जिस वर्ग के लोगों ने मन के अध्ययन की गहराई में प्रवेश किया है, उनके द्वारा निरीक्षित तथ्य सर्वत्र एक जैसे रहे हैं, चाहे इस तरह के व्यक्ति दुनिया के किसी भी भाग में क्यों न हों, या किसी भी धर्म के अनुयायी क्यों न हों। जो लोग मन की गहराई में काफी भीतर तक घुसते हैं, उन्हें जो निष्कर्ष उपलब्ध होते हैं, वे एक जैसे होते हैं (विवेकानंद साहित्य, जन्मशती संस्करण, चतुर्थ खंड, पृष्ठ 115) मनोविज्ञान में मन के साथ ही शरीर भी अभिन्न है। इस शाश्वत सत्य को जानने वाले ऋषियों एवं योगाचार्यों ने इसीलिए योग चित्त की वृत्तियों का निरोध है; कहकर शारीरिक साधना से मानसिक साधना का मार्ग दिखाया है।

वास्तव में मनोविज्ञान आदिम मानव की अपने संबंध में जानकारी प्राप्त करने की चेष्टा का परिणाम है। उसकी सब कुछ जान लेने की प्रवृत्ति ने ही ज्योतिष-

विज्ञान, भौतिक-विज्ञान तथा जीव-विज्ञान सरीखे शास्त्रों को जन्म दिया है। धीरे-धीरे जब मानव ने अपनी ओर देखना प्रारंभ किया, तब मनोविज्ञान अथवा मनोविद्या का जन्म होता है, (मानव मनोविज्ञान, पृ.5) जिससे संबद्ध वेदों में सहस्त्रों मंत्र मिल जाते हैं।

वैदिक पाणिनि के अनुसार - "मत्रि गुप्त परिभाषणे" से मंत्र शब्द बनता है, जिसका अर्थ है - 'रक्षा करने वाला फार्मूला।' यास्क आचार्य ने निरुक्त में 'मंत्रामननात्'7-12) द्वारा मंत्र का अर्थ 'बुद्धि से किया हुआ विचार' बताया है। शतपथ ब्राह्मण (6-4-1-7) में महर्षि याज्ञवल्कय ने 'वाग्वै मंत्र:' द्वारा प्रभावशाली वाणी को मंत्र कहा है। इस प्रकार की मंत्र विद्या से अपने पर तथा दूसरों पर प्रभाव डाला जाता है। इसके तीन प्रकार हैं-

1. संकल्प या आवेश (मैग्नेटिज्म और विल पॉवर)
2. अभिमर्श और मार्जन (मेस्मरिज्म)
3. आदेश (हिप्नोटिक सजैशन)

मन की शक्तियों पर यजुर्वेद के अध्याय 34 में 6 मंत्र आए हैं, जिन्हें शिवसंकल्प मंत्र कहते हैं। उनमें तीसरा मंत्र इस प्रकार है।

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्जोतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यसमान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मन शिव संकल्पमस्तु

अर्थात् जो विशेष ज्ञान और दूसरे को चिताने वाला धैर्य स्वरूप और मनुष्यों के अंदर नाशरहित प्रकाश पैदा करता है, जिसके बिना कोई भी कर्म नहीं किया जाता, वह मेरा मन कल्याणकारी संकल्प वाला हो।

यहाँ यह संकेत है कि एक व्यक्ति का मन प्रजा में विशेष ज्ञान चेतना और प्रकाश पैदा कर सकता है और तब वह उसके आदेश के बिना कोई कार्य नहीं कर सकता। अतएव प्रत्येक का मन दूसरे के लिए कल्याणकारी संकल्प वाला ही हो।

संकल्प या आवेश

1.पाप को हटाने का संकल्प-

प्रथम उदाहरण- रोपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।
परेहि न त्वा कामये वृक्षां वनानि संचर गृहेषु गोषु मे मन: 11(अ.वे 6/48/1)

प्रतिबोध या विकल्प अर्थात् अनभीष्ट पापभाव में दोष देखना तथा फिर उसे कहीं और लगाना।

दूसरा उदाहरण- कृतं मे दक्षिण हस्ते जयो मे सव्य अहित:

गोजिद भूयासमश्वजिद् धनञ्जयो हिरण्यजित।।
(अ.वे. 7./52/8)

मैं सब को जीतने वाला होऊँ।

तीसरा उदाहरण- त्रुटि न्यूनता दूर करने का संकल्प-

अग्ने यन्मे तन्वा ऊनन्तन्म आपृण।।
(यजु. 3/17)

अभिमर्ष और मार्जन-

(शरीर में सनसनाहट उत्पन्न कर देने वाला स्पर्श)

इससे रोग तथा मानसिक दोष दूर किए जा सकते हैं। हाथ फेरकर रोग दूर करने का अथर्ववेद में वर्णन है।

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तर:।
अयं मे विश्वभेजोय्यं शिवाभिमर्शन:।।
हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाच: पुरोगवी।
अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभिमुशामसि।।
(अथर्व. 4/13/6,7)

मार्जन

पुरश्चरण - (झाड़फूँक साधन - जल, वस्त्र, कूच्, चमर, मृग की पूँछ आदि)

शरीर में पित्ती उछल आने पर जुलाहे के ताना संवारने वाले ब्रश से पुन: पुन: अनुलोम स्पर्श से वह दब जाती है। जल से सर्प विष उतरता है । फिर पशुओं तथा वनस्पतियों पर यह रोग उतारा जा सकता है ।

शुकेषु ते हरिमाणं रोपणाकासु दध्मसि।
अथो हारिद्रवेषु ते हरिमाणं निदध्मेसि।।
(अथर्व.1/22/4)

वैदिक साहित्य में प्राप्त इन मंत्रों में मनोविज्ञान का अत्यंत सुंदर संयोग दिखाई देता है। संकल्पात्मक, प्रार्थनात्मक और आदेशात्मक मनोविज्ञान के उपयोग हैं, किंतु पाश्चात्य मनोविज्ञान में आदेशात्मक मनोविज्ञान ही बहुधा उपलब्ध है। वहाँ जीवन-सुधार विषयक आदेश का अभाव सा दीख पड़ता है। पुन: संकल्प और प्रार्थना भी वेद का प्रमुख विषय है, इसलिए वैदिक मनोविज्ञान का स्थान उच्च है। (2 वैदिक मनोविज्ञान, पृ.45)

आधुनिक मनोविज्ञान में मन मांइड का पर्याय है, जबकि भारतीय परंपरा में इसे अंत:करण की प्रवृत्ति

माना गया है। आत्मा का अंश भी मन को बताया गया है। वैश्वानर आत्मा के उन्नीस मुखों में- पाँच ज्ञानेंद्रियाँ, पाँच कर्मेंद्रियाँ, पाँच प्राणादि वायु, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार को परिगणित करते हैं। (मनोविज्ञान की ऐतिहासिक रूपरेखा, पृ.22)

यजुर्वेद में मन को समस्त कर्मों का द्वार कहा गया है। यथा-

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।।
(यजु. 34/2)

आधुनिक और वैदिक विज्ञान दोनों ही यह मानते हैं कि मन एक अभौतिक तत्व है पर उसमें प्रसुप्त शक्तियाँ और संस्कार विद्यमान रहते हैं। सोचना, कल्पना करना व स्मरण करना मन के कार्य हैं।

यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण में मन की प्रक्रिया को इस प्रकार समझाया गया है-

यन्मनसाध्यायति, तद् वाचा वदति,
यद् वाचा वदति, तद् कर्मणा करोति
यत्कर्मणा करोति तदभिसम्पद्यते।

(जीव जिसका मन से ध्यान करता रहता है, उसी को वाणी से बोलता है। जिसको वाणी से बोलता रहता है उसको कर्म से करता है, जिसको करता रहता है वह अवश्य संपन्न होता है।)

अतः मन की शक्तियों द्वारा एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को प्रभावित कर सकता है। पश्चिमी देशों में इस पर काफी प्रयोग हुए हैं। वैदिक वाङ्मय में प्रमुख रूप से अथर्ववेद में ये तीनों विद्याएँ मूल रूप में विद्यमान हैं।

समस्त बाह्य इंद्रियों के विषयों का एकीकरण जिसमें होता है वह एक ही साधन है अंतःकरण। इसी अंतःकरण को अनेक नाम दिए गए हैं। कोई इसे मन, कोई बुद्धि, कोई चित्त और कोई अहंकार नाम से व्यवहार करता है, लेकिन यह अंतर केवल कार्यभेद से ही है। अथर्ववेद में कहा गया है-

मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये मत्यै श्रुताय चक्षसे।
विधेम हविषा वयम। (अथर्ववेद, 6/41/1)

वैशेषिक दर्शन में मन को एक द्रव्य माना गया है और उसी से सुख-दुख की अनुभूति होना भी बताया गया है; क्योंकि आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त नहीं करती, उसे मन का सहयोग आवश्यक है। (मनोविज्ञान की ऐतिहासिक रूपरेखा, पृ.59)

कठोपनिषद में कहा भी गया है-

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीराँ रथमेव तू।
बुद्धि तू सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।।
(कठोपनिषद, 3/57)

न्यायदर्शन में मन के व्यवहार को लौकिक ज्ञान प्राप्ति कहा गया है। (मनोविज्ञान की ऐतिहासिक रूपरेखा, पृ.52)

मनोविज्ञान मन का विज्ञान है; तो स्पष्ट ही है कि इसमें अध्ययन का विषय मन ही है, लेकिन मन का शरीर के साथ ही अस्तित्व होता है। मन और शरीर के संबंध की बात इतनी गूढ़ है कि कोई विचारक इसे समझने में थोड़ी देर के लिए हतबुद्धि सा हो जाता है। वह नहीं समझ पाता कि शरीर का वास्तविक रूप क्या है? क्योंकि शरीर कभी उसका दास दिखाई देता है और कभी स्वामी। श्री अरविंद जी का कथन है कि शरीर के प्रत्येक अवयव का नियमन करने में मन को समर्थ होना चाहिए। यही तर्क है; दर्शन है; लेकिन जब हम वास्तविकता में आते हैं तो बात वैसी नहीं दीख पड़ती। दूसरी ओर, तुम्हारे लिए तो गाड़ी आगे और घोड़ा पीछे है। शरीर ही मन को शासित करता है। यदि मेरी अंगुली दब गई है तो मैं दुखी हो जाता हूँ। (विवेकानंद साहित्य, चतुर्थ खंड, पृ.152)

वास्तव में मन और शरीर का संबंध क्या है? इस प्रश्न का उत्तर एक मनोवैज्ञानिक के लिए अत्यंत अनिवार्य है, जिसकी प्राप्ति के लिए विविध सिद्धांत हैं। भारतीय ग्रंथों में मन और शरीर संबंधी सात प्रमुख सिद्धांतों का उल्लेख मिलता है। ये सिद्धांत निम्नलिखित हैं-

1. द्वैतवाद- मन और शरीर एक दूसरे से भिन्न वस्तुएँ हैं।

2. भौतिकवाद- मन केवल एक सूक्ष्म भौतिक पदार्थ है और मानसिक प्रक्रियाएँ शारीरिक क्रियाओं की सूक्ष्म रूप मात्र हैं।

3. मानस दैहिक मिथक्रियावाद- मस्तिष्क शारीरिक क्रियाओं के साथ छाया की तरह रहता है।

4. मानस-दैहिक सहज यांत्रिक क्रियावाद- मानसिक प्रक्रियाएँ सहज यांत्रिक क्रियाओं के सूक्ष्म रूप हैं।

5. समानांतरवाद- मानसिक और शारीरिक क्रियाएँ एक दूसरे के समानांतर चला करती हैं।

6. परस्परक्रियात्मक संबंधवाद- मानसिक और शारीरिक क्रियाओं में घनिष्ठ संबंध है।

7. आदर्शवाद- केवल मन ही सत्य है और शरीर असत्य है। (मनोविज्ञान, पृ.89)

वैदिक मनोविज्ञान के अनुसार भी मन जागृत ही नहीं अपितु सुप्तावस्था में भी क्रियाशील रहता है-

अपेहि मनसस्तेपऽपे काम परश्चर। परो निऋत्या आचक्ष्व बहुधा जीवतो मनः (ऋग. 10.164.1, अथर्ववेद, 20.96.24)

मनुष्य का संपूर्ण शरीर नाड़ियों का एक जाल है। कुछ छोटी तो कुछ बड़ी हैं और ये सभी शरीर को चेष्टारत रखने में सहायक होती हैं। इनके बिना शरीर में किसी भी प्रकार की चेष्टा का होना असंभव है, परंतु इनमें भी किसी प्रकार की गति एक केंद्र से ही आती है। वह केंद्र है स्नायुमंडल अथवा चेतना नाड़ी चक्र।

समस्त शरीर में इन नाड़ियों के माध्यम से विद्युत के समान नाड़ी शक्ति भरी हुई है; जिसका केंद्र मस्तिष्क और मेरूदंड में विद्यमान है। जिस प्रकार बिजली के तारों से शक्ति एवं संदेश आते जाते हैं, उसी प्रकार यह नाड़ी चक्र भी शरीर में वही काम करता है। (यौगिक स्वास्थ्यशास्त्र तथा आध्यात्मिक विकास, पृ. 30)

संगीत की पुस्तकों में कहा गया है कि राग भैरव से कफ जनक रोग, कब्ज व बुखार, मल्हार, शरत, जजैवंती से अशक्ति, क्रोध, उन्मत्तता, असावरी से रक्त व वीर्य के विकार भैरवी से निमोनिया, श्वास संबंधी रोगों तथा प्लूरिसी, यक्ष्मा, गुर्जरी, वागेश्वरी तथा मालकोष से श्वास रोग, सारंग से पित्तजनक रोग, सिरदर्द, पलाशी, मुलतानी वात-दीपक से आँख के रोग, राग दरबारी से दिल का दर्द वात संबंधी कष्ट, राग हिनोला से स्पलीन संबंधी तथा राग पंचम से गैस संबंधी रोगों का शमन होता है। वेद के कुछ एतद्विषयक उद्धरण-

अथर्व. 7/13/4- वो मनोमयि रमताम्।

अथर्व. 6/8/6- मम वशेषु वः हृदयानि कृणोमि।

अथर्व. 3/8/6- हृदयं शोकमग्नितम् निर्वापयामसि।

अथर्व. 5/30/8- तव अंगेभ्यः अंगज्वरं यक्ष्म।

अहं निरवोचम्-

अथर्व. 5/13/1- उग्रैर्वचोभिः ते विषम् निरिणामि।

आश्वासन से विषनाश- (चरक 23/2/8)

मणि बंधन- कंड-मस्तक-शिर-नाभि और हाथ में मणियाँ बाँधाना न कि गंडा-नक्श-डोरी। इनके 3 प्रयोजन हैं-

1. भूषा-अलंकार
2. मन में प्रसन्नता
3. रोग/विष/आक्रमण का प्रतिकार

चरक 46/18 में मोती मूँगा आदि का वर्णन है। मणियों के प्रकार- खनिज/ सामुद्रिक/ प्राणिज/ वानस्पत्य

खनिज मणि- आंजन मणि (सुरमा) -टिकिया का संकेत अथर्व. 4/9 में है।

मंत्र 3- आ जन हरितभेषजम् पांडुरोग नाशक है। निकास के पास उपलब्ध होता है।

सामुद्रिक मणि शंख मणि (मुक्त शंख जिसमें मोती होता है।) इसका संकेत स्थल अथर्वः 4/10 है।

मंत्र 1- कृशनः शंख- अहंस (पीड़ा से बचावे)

मंत्र 6- यह आयु वृद्धि करता है। आयूषि प्रतारिवत् प्राणिज या जांतव मणि अस्तृत मणि जैसे बंधनख अथर्व कांड। 19 सूक्त-4 में इनका संकेत है।

मंत्र-1 वीर्याय, आयुषे, बलाय बध्नामि अस्तृत। यह आयु व बल बढ़ाता है।

वानस्पत्य मणि- जंगिण- अथर्व 2/4 तथा 1/34/35 में बनारस में प्रसिद्ध एक वृक्ष -यह शायद सोम-रस-क्रिया गुटिका है।

मंत्र- विष्कन्धदूषणाम् जंगिण मणिम् (जोड़ों के शैथिल्य को दूर करने के लिए)

पर्ण मणि- अथर्व 3/5 सोम के पत्ते मात्र

मंत्र 2- पर्णमणे ममिक्षत्रयम धारयतात् अहं राष्ट्रस्य अभीवर्णे उत्तमः निजः भूयासम्।

मंत्र 5- अहं संविदः असनानि (होऊँ)

शतवार माणि- ऋषभक औषधि- ऋषभक सींग के आकार की अष्ट वर्ग की अथर्व 19/36 औषधियों में से एक शायद सालम मिश्री।

मंत्र- शतवार मणि यक्ष्यमान् रक्षांसि तथा दुणमिचातनः (गुप्त रोग नाशक है।)

निघन्टु में कहा है कि उदुंबर फल को अंकोल बीज के तेल में पका कर खाने से एक मास तक क्षुधा नहीं लगती।

शिरस- उदुंबर, शगी को घृत में मिलाकर खाने से आधे मास तक भूख नहीं लगती। इसकी क्षाल गर्भ बीज कारक है।

मंत्र1- आदुम्बरेण पुष्टिकामाय गोष्ठे स्फातिम्।

(गौवों के बाड़े में उसे रखने से उनकी पुष्टि होती है।)

मंत्र 4- औदुम्बरः मणिः वीरः वीराय बध्यते।

वरण मणि- इसका संकेत स्थल अथर्ववेद के कांड 10 के तीसरे सूक्त के प्रथम 25 मंत्र हैं। यह एक वनस्पति है और इसे छाती पर धारण करना चाहिए। इससे स्वप्नजन्य भयों से बचने का संकेत मिलता है।

कह सकते हैं कि हम यह जानें कि शरीर में जो ग्रंथियाँ हैं उनमें से कुछ ऐसी हैं जो शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं और कुछ मानसिक क्रियाओं के लिए, जो मनुष्य के बौद्धिक एवं मानसिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। (मानव मनोविज्ञान, पृ.55-56)

हमारे वैदिक वाङ्मय को देखें तो सरलता से समझा जा सकता है कि मनोविज्ञान का मूल संबंध मन और शरीर दोनों के साथ एक समान है। इसीलिए योगशास्त्र में योग को चित्तवृतियों का निरोध कहा गया है। हठयोग प्रदीपिका में मन के लिए शरीर शुद्धि का आधार आवश्यक है-

शुद्धमेति यदा सर्वे नाड़ी चक्रं मलाकुलम्।
तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणे क्षमः।।
(हठयोग प्रदीपिका, 2, श्लोक 5)

भारतीय परंपरा में जो परामर्श पद्धतियाँ विद्यमान हैं, उनका आधार भी मनोविज्ञान ही है और वह भी बहुत उच्च स्तर का मनोविज्ञान। प्रत्येक मनुष्य को आज जन्म से ही व्याधि और उपाधि आदि रोगों ने जकड़ रखा है। हमारे वैदिक, पौराणिक, औपनिषदिक, बौद्ध और जैन ग्रंथों में इनसे संबंधित विस्तृत विवेचन विद्यमान है। मनुष्य को जितने भी रोग लगते हैं, उनमें से अधिकतर तो प्रत्यक्ष ही मानसिकता से संबद्ध होते हैं और जो शारीरिक होते हैं, उनमें भी अप्रत्यक्ष रूप में मन किसी न किसी ढंग से जुड़ा रहता है। इस तथ्य को हमारे ऋषि-मुनि भली-भाँति जानते थे, इसीलिए उन्होंने मानसिक चिकित्सा को अत्यधिक महत्वपूर्ण बताया, जिसे आज हम साइकोलॉजिकल ट्रीटमेंट, साइकोथेरेपी अथवा साइकोलॉजिकल काउंसलिंग का नाम दे रहे हैं। भारतीय परामर्श पद्धितियों में गुरु-शिष्य संवाद, पति-पत्नी संवाद, नर-नारायण संवाद आदि को आधार बनाकर असंख्य कथाएँ, दृष्टांत और उपदेश मिलते हैं, जिनसे मनुष्य जीवन में आने वाली जड़ता, मंदता, हिंसा, अवसाद एवं मानसिक विचलन जैसी स्थितियों से उभारने में प्रेरणा एवं प्रोत्साहन की बात स्पष्ट होती है। पंचतंत्र और हितोपदेश की कहानियाँ, भारतीय मनोविज्ञान की सूक्ष्म वृत्तियों का दिग्दर्शन कराती हैं। श्रीमद्भागवद्गीता का तो प्रारंभ ही इस स्थिति में होता है, जहाँ जीव अथवा मनुष्य का मानसिक संतुलन बिखर गया है और वह कुछ भी कर पाने में स्वयं को अक्षम पाता है और श्री कृष्ण एक मनोवैज्ञानिक और मनोचिकित्सक की तरह अर्जुन के मानसिक रोग का समाधान करते हैं। निस्संकोच कहा जा सकता है कि भारतीय मनीषियों द्वारा अपनाई गई क्रियाओं द्वारा हम ऐसे साधनों तक पहुँच सकते हैं, जो मनोवैज्ञानिक, अज्ञात में छोटी-मोटी, अंधेरी, तंग सुरंगें नहीं, विशाल विस्तृत मार्ग बना सकें। हम यह गौरव के साथ कह सकते हैं कि आधुनिक मनोविज्ञान, प्राप्त सामग्री से मिलने वाले एकमात्र बुद्धिसंगत और न्यायसंगत निष्कर्ष से तथ्यों की बाध्यता से अनिवार्य रूप से चलता हुआ उन्हीं सत्यों पर पहुँचता है, जो प्राचीन ऋषियों ने हजारों वर्ष पूर्व प्राप्त कर लिए थे।

– ऐसो. प्रोफेसर, मानविकी संकाय, लवली प्रोफेशनल यूनिवर्सिटी, फगवाड़ा, पंजाब

❑❑❑

वैदिक संस्कृत एवं नीतिविज्ञान

डॉ. विशाल भारद्वाज

संस्कृत साहित्य में नीतिविज्ञान का इतिहास अत्यंत प्राचीन है। 'नीति' शब्द संस्कृत भाषा की 'नी' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय लगाने से बना है, जिसका अर्थ है- ले जाना'।[1] जो वृत्ति मनुष्य को असत्य से सत्य की ओर, कुमार्ग से सन्मार्ग की ओर, अज्ञान से ज्ञान की ओर तथा मृत्यु से जीवन की ओर ले जाती है, वह नीति कहलाती है। नीति को भली-भाँति समझने वाले, श्रद्धालु एवं नम्र स्वभाव की प्रकृति वाले ही इस जगत में पूजनीय बनते हैं[2], क्योंकि नीतिशास्त्र शीघ्र फल देने वाला होता है।[3] नीति आपत्ति को तथा अनीति अति समृद्ध संपत्ति को भी नष्ट कर देती है।[4] नीति के बिगड़ने से सारा संसार बेबश होकर नष्ट हो जाता है।[5]

एक बौद्धिक एवं विवेकशील प्राणी होने के कारण मनुष्य यह जानने के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है कि मानव जीवन के अनुरूप कर्म कौन से हैं, उसे क्या करना चाहिए, उसके कर्तव्य एवं अधिकार क्या हैं, शुभ एवं अशुभ से क्या तात्पर्य है, जीवन का लक्ष्य क्या है, इत्यादि। नीतिशास्त्र का अध्ययन इन सभी प्रश्नों का उत्तर देते हुए हमें उन्नत मार्ग पर प्रशस्त करता है।[6]

पुरुषार्थचतुष्ट्य (धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष) की प्राप्ति मानवीय जीवन का प्रधान लक्ष्य है। आचार्य चाणक्य का कथन है कि धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष में से जो व्यक्ति एक को भी प्राप्त नहीं कर पाता, उसका जीवन बकरी के गलस्तन के समान निरर्थक सिद्ध होता है।[7] नीतिशास्त्र को पुरुषार्थ-चतुष्ट्य का साधक स्वीकार किया है। नीतिशास्त्रकार महर्षि शुक्राचार्य का कहना है कि नीतिशास्त्र से भिन्न अन्य सभी शास्त्रों में व्यवहारिक जगत के किसी एक अंश को ही वर्णित किया जाता है, किंतु सार्वजनिक हित एवं सामाजिक सुरक्षा का निर्देशन नीतिशास्त्र ही प्रदान करता है, क्योंकि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थचतुष्ट्य का यह साधक है।[8]

ज्ञानी जन की प्रत्येक क्रिया लोकव्यवहार से प्रभावित होती है तथा यह लोकव्यवहार ही उनका उपदेष्टा होता है।[9] भोजन के बिना प्राणियों की देह का अस्तित्व जिस प्रकार नहीं रह सकता, ठीक उसी प्रकार लोकव्यवहार का अस्तित्व नीतिशास्त्र के ज्ञान के बिना टिक नहीं सकता।[10] नीतिशास्त्र सभी मनुष्यों को सारी मनोवांछित वस्तुएँ प्रदान करने वाला माना गया है। इसे सभी मानते हैं तथा यह राजा की जानकारी के लिए भी अत्यावश्यक है, क्योंकि राजा तो जन-सामान्य का स्वामी है।[11] नीतिविहीन स्वेच्छाचारी राजा पग-पग पर दुख झेलता है।[12]

संस्कृत साहित्य नीतिग्रंथों का उद्भव देव-गुरु बृहस्पति एवं दैत्यगुरु शुक्राचार्य से माना जाता है। इन दोनों ने देवताओं एवं दैत्यों को नैतिक मार्ग प्रदर्शन हेतु क्रमशः 'बृहस्पतिनीति' एवं 'शुक्रनीति' नामक गौरवपूर्वक नीतिग्रंथों का सृजन किया। इन दोनों नीतिशास्त्रों ने लौकिक संस्कृत साहित्य के परवर्ती नीतिग्रंथों को अनुप्राणित किया है। ऐसे ग्रंथ की भी एक बड़ी संख्या है, यथा-विदुरनीति, चाणक्यनीति, चाणक्यसूत्र, अर्थशास्त्र, कामंदकीयनीति, पंचतंत्र, हितोपदेश, नीतिशतक आदि।

परंतु वैदिक संस्कृत भाषा को इस नीतिविज्ञान की आधारशिला कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगा। आज मनुष्य धन के अत्यधिक अर्जन तथा संचय की होड़ में प्रवृत्त है। जब मनुष्य की इन असीमित इच्छाओं की

पूर्ति संभव नहीं हो पाती तो वह तनावग्रस्त स्थिति को प्राप्त हो जाता है। इसीलिए यह बात बिल्कुल सार्थक है कि संतोष के अभाव में मानसिक तनाव से निवृत्ति की कल्पना भी नहीं की जा सकती। मानसिक शांति हेतु संपत्ति के लिए अंधी दौड़ को रोकते हुए वैदिक संस्कृत भाषा नीति निर्देश देती है कि इस दृश्यमान संसार में जो कुछ भी है, वह सब ईश्वर-स्वरूप ही है। इसलिए लोभ का परित्याग करते हुए जगत में विद्यमान समस्त भोग्य पदार्थों का त्याग भाव से ही प्रयोग किया जाना चाहिए-

ईशावाज्ञमिदं सर्वं यत्किञ्चित् जगत्यां जगत।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।।[13]

मनुष्य में त्यागशीलता की भावना को स्थापित करना वैदिक संस्कृत भाषा की एक प्रमुख विशेषता है। ऋग्वेद में योग्य धन की प्राप्ति होने पर अभिमान न करने व भूखों को अन्न एवं पानी देने का नैतिक निर्देश दिया गया है-

'सुयमात् रायः मा अव स्थाम्।'[14]
'क्षुध्यद्भयो वय आसुतिं दाः'।[15]

ऋग्वेद में तो दानशीलता की प्रशंसा करते हुए इसे अत्यधिक धन-संपदा की साधक स्वीकार किया गया है-

सुगुरसत् सुहिरण्यः स्वश्वो बृहदस्मै वय इंद्रो दधाति।
यस्वायन्तं वसुना प्रातरित्वो मुक्षीजयेव पदिमुत्सिनाति।।[16]

आज का मनुष्य अपनी असीमित इच्छाओं की पूर्ति हेतु दूसरों द्वारा अर्जित धन को गलत माध्यमों से भी हड़पने के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है, जोकि वैदिक संस्कृत भाषा के नीतिविज्ञान के सर्वथा विपरीत है। ऐसे में वेद मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं को सीमित करके ऋणी न होने तथा स्वयं प्रयत्नशील होकर अपने द्वारा अर्जित धन से ही पदार्थों का उपभोग करने तथा दूसरों द्वारा अर्जित धन का कदापि उपभोग न करने का नैतिक उपदेश देता है-

"परा ऋणा सावीरध मत्कृतानि माहं राजन्नन्यकृतेन भोजम्।"[17]

मानवीय आचरण में गिरावट के कारणों में एक-दूसरे के प्रति द्वेष की भावना, घात, वैर-विरोध, असत्य-भाषण, निडरतापूर्वक दूसरों को कोसना आदि की गणना करते हुए वैदिक संस्कृत भाषा में वर्णित नीतिविज्ञान इनसे निवृत्त की प्रार्थना करता है-

"इदमापः प्र वहतावद्यं च मलं च यत्।
यच्चाभिदुद्रोहानृतं यच्च शेपे अभीरुणम्।
आपो मा तस्मादेनसः पवमानश्च मुञ्चतु।।"[18]

वैदिक संस्कृत भाषा परस्पर बंधुभाव की ओर संकेत करती है। जब मनुष्य घृणा का परित्याग करके परस्पर एक-दूसरे के साथ प्रसन्नतापूर्वक मिलकर आगे बढ़ेगा तो परस्पर वैर-विरोध की कल्पना भी नहीं की जा सकेगी। इसलिए वेद परस्पर मिलकर चलने, समान मन होकर ज्ञान प्राप्त करने, आपस में वैर-विरोध का परित्याग करके संगठित होकर अपने संपूर्ण कार्य संपन्न करने का नीतिपरक निर्देश देता है-

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथापूर्वे संजानाना उपासते।।
समानो मंत्रः समितिः समानी, समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रामभि मन्त्रये वः समानेनवो हविषा जुहोमि।।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।[19]

इसी संदर्भ में वैदिक संस्कृत भाषा का कथन है कि मनुष्य तेज, जल, दृढ़ शरीरों एवं कल्याणकारी शुद्ध मन से भली-भाँति संयुक्त रहते हुए जीवन-यापन करे जोकि परस्पर तनाव से निवृत्ति में सहायक सिद्ध होगा-

'सं वर्चसा पयसा सं तनुभिरगन्महि मनसा सं शिवेन।'[20]

सामाजिक असमानता का भी वैदिक भाषा खंडन करती है। सामाजिक शांति एवं एकता हेतु वैदिक नीति समस्त जातियों एवं समुदायों में समानता की बात करते हुए कहती है कि हमारे सभी वर्णों (ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों, शूद्रों) तथा मुझ में तेजस्विता को स्थापित करो-

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मचि धेहि रुचा रूवम्।।[21]

हिंसा की प्रवृत्ति भी मानवीय तनावग्रस्त सामाजिक जीवन का एक प्रमुख कारण है। क्रोध के वशीभूत होकर मानव हिंसा तो कर बैठता है, परंतु इसके परिणामस्वरूप वह अपनी मानसिक शांति से हाथ धो बैठता है। वैदिक संस्कृत भाषा हिंसा के अत्यधिक विरुद्ध है। अश्विनौ सूक्त में दोनों अश्विनी कुमारों से प्रार्थना की गई है कि वे हमें दिन-रात हिंसा से दूर रखें-

'दिवा नक्तं शरुमस्मद्युयोतम्।।'[22]

वैदिक नीतिविज्ञान का स्पष्ट निर्देश है कि केवल दुष्टों के नाश तथा राष्ट्र की रक्षा के लिए ही हिंसा का प्रयोग किया जाए, अन्यथा नहीं। इंद्र ने भी युद्ध में जलों को मुक्त करवाने के लिए त्वष्टा से प्राप्त स्वर्णनिर्मित वज्र को धारण किया था-

त्वष्टा यद्वज्रं सुकृतं हिरण्ययं सहस्रभृष्टिं स्वपा अवर्तयत्।

धत् इंद्रों नर्यपांसि कर्तवेऽहन्वृत्रं निपामौब्जदर्णवम्।।[23]

वैदिक संस्कृत भाषा गुरुजनों, बालकों, तरुण पुरुषों, गर्भस्थ शिशुओं, माता-पिता, पुत्र-पौत्रादिकों, पशुओं, शूरवीरों आदि की हिंसा-निषेध रूपी नीति की बात करते हुए लोक जीवन में सामाजिक तनाव से रहित शांति-व्यवस्था की कामना करती है-

मा नो महान्तमुतमा मा नो अर्भकं मा न उक्षन्तमुत मा न न उक्षितम्।

मा नो वधीःपितरं मोत मातरं मा नः प्रियास्तन्वो रूद्र रीरिषः।।

मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः।

मा नो वीरान् रूद्र भामिनो वधीर्हविष्मन्तः सदमित् त्वा हवामहे।।[24]

मनुष्य यदि अपने विचारों को परिष्कृत रखे एवं गलत विचारों को अपने मन में कदापि स्थान नहीं दे, तो भी मानवीय जीवन में गिरावट के लिए कोई स्थान नहीं रहेगा। इसके लिए वैदिक संस्कृत भाषा मानवीय मन में शुभ संकल्पों की स्थिति अर्थात् ठीक सोचना, ठीक निर्णय लेना एवं ठीक कार्य करना-की कामना करती है, जोकि श्रेष्ठ नीति का उदाहरण है-

'----तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।।'[25]

पारिवारिक रिश्तों में शिथिलता आधुनिक समाज की प्रमुख समस्या है। आज जहाँ संपत्ति के लिए भाई-भाई को मारने के लिए उद्यत है, वहाँ वैदिक संस्कृत भाषा इंद्र एवं मरूत के माध्यम से भ्रातृवत् उत्तम व्यवहार करने का नैतिक संदेश प्रदान करती है-

किं न इंद्र जिघांससि भ्रातरो मरूतस्तव।

तेभिः कल्पस्व साधुया मा नः समरणे वधीः।।[26]

ऋग्वेद में अग्नि की तुलना भाई से करते हुए कहा गया है कि अग्नि उसी प्रकार सबका पोषक एवं हितकारी है, जिस प्रकार भाई बहिन का हितकारी होता है-

जामिः सिंधूनां भ्रातेव स्वस्रा

मिभयान्न राजा, वनान्यत्ति।।[27]

"परिवार में पुत्र माता-पिता के आज्ञाकारी हों, भाई-भाई से तथा बहिन-बहिन से द्वेष न करे, वधू का श्वसुरगृह में महारानी के समान आदर एवं सम्मान हो"- वैदिक संस्कृत भाषा में वर्णित ये नैतिक उपदेश पारिवारिक संगठन के लिए अत्यंत लाभकारी हैं-

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।[28]

सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव,

ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी भव अधि देवृषु।।[29]

आधुनिक समाज में प्रचलित कुरीतियों में द्यूत-क्रीड़ा का विशेष स्थान है। वैदिक संस्कृत भाषा में द्यूत-क्रीड़ा की बहुत कठोर शब्दों में आलोचना की गई है। जुए से गृहस्थ जीवन किस प्रकार प्रभावित होता है, इसका उल्लेख करते हुए ऋग्वेद का कथन है कि जुआरी की पत्नी उसके विरुद्ध हो जाती है, उसकी सास उससे द्वेष करती है तथा जुआरी व्यक्ति को जीवन में किसी सज्जन व्यक्ति की प्राप्ति नहीं होती-

द्वेष्टि श्वश्रुरप जाया रुणद्धि न नाथितो विंदते मर्डितारम्...।।[30]

जुआरी व्यक्ति की पत्नी को दूसरे जीतने वाले जुआरी (केशादि खींचकर) अपमानित करते हैं तथा ऐसे व्यक्ति को अपने परिवार के सदस्यों यथा माता, पिता एवं भाई आदि का सहयोग भी प्राप्त नहीं होता-

अन्ये जायां परि मृशन्त्यस्य यस्यागृधद्वेदने वाज्यरक्षः

पिता माता भ्रातर एनमाहुर्न जानीमो नयता बद्धमेतम्।।[31]

जुए के पासों के विषय में कथन है कि ये चाबुक के तुल्य होते हुए जड़मूल से बर्बाद करने वाले तथा जुआरी के परिवार को दुख देने वाले होते हैं। जीतते हुए जुआरी को वे धनादि देते हैं, परंतु फिर शहद से सने हुए से पुनः सर्वस्व हरण करके इसको मारने वाले होते हैं-

अक्षास इदङ्कुशिनो नितोदिनो निकृत्वानस्तपनास्तापयिष्णवः।

कुमारदेष्णा जयतः पुनर्हणो मध्वा संपृक्ताः कितवस्य बर्हणा।।[32]

आदर्श जीवन-यापन के लिए वैदिक संस्कृत भाषा ऐसी नीति का कथन करती है। जिसमें मनुष्य अपने समय का सदुपयोग करते हुए अपनी रुचियों को सृजनात्मक

कार्यों में प्रवृत्त करे, स्वयं को वह जुआ, मदिरापान आदि व्यसनों से दूर रखे, कृषि-कर्म करे तथा परिश्रमपूर्वक अर्जित अल्पधन को भी बहुत स्वीकार करते हुए उससे ही अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करे-

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।

तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्थः।।[34] उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि नीतिशास्त्र की समृद्ध परंपरा का आधार वैदिक संस्कृत भाषा है। वैदिक संस्कृत भाषा में वर्णित नीतिविज्ञान की सार्थकता सामाजिक संगठन, भ्रातृभाव, आदर्श जीवन आदि के परिप्रेक्ष्य में अत्यधिक है।

संदर्भ ग्रंथ

1. (i) संस्कृत-हिंदी कोश, पृ.सं. 550.
   (ii) ...नर्यनान्नतिरुच्यते।।
   शुक्रनीति, 1/157.
2. ...नीतिज्ञाः शीलसम्पन भवन्ति कुलपूजिताः।।
   चाणक्यनीति, 2/10.
3. ...नूनं सद्यः फलानि नीतिशास्त्राणि...।
   पञ्चतन्त्र, काकोलूकीयम्, पृ. सं.-387.
4. ...प्रियोपपत्तिः शुचमापदं नयः।
   श्रियः समृद्धा अपि हन्ति दुर्नयः।।
   हितोपदेश, 3/118.
5. ...बधैस्त्यक्ते राज्ये न हि भवति नीतिर्गुणवती।
   विपन्नायां नीतौ सकलमवशं सीदति जगत।।
   वही, 2/77
6. अधीत्येदं यथाशास्त्रं नरो जानाति सत्तमः।
   धर्मोपदेशविख्यातं कार्याऽकार्यं शुभाऽशुभम्।।
   चाणक्यनीति, 1/2.
7. धर्मार्थकाममोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते।
   अजागलस्तनस्यैव तस्य जन्म निरर्थकम्।।
   वही, 13/9, हितोपदेश, प्रस्ताविका, 26.
8. ..क्रियैकदेशबोधीनि शास्त्राण्यन्यानि, सन्ति हि।
   सर्वोपजीवकं लोकस्थितिकृन्नीतिशास्त्रकम्।
   धर्मार्थकाममूलं हि स्मृतं मोक्षप्रदं यतः।।
   शुक्रनीति, 1/4-5.
9. आचार्य्यः सर्वचेष्टासु लोक एव हि धीमतः।..
   वही, 3/32.
10. सर्वलोकव्यवहारस्थितिर्नीत्या विना नहि।
    यथाऽशनैर्विना देहस्थितिर्न स्याद्धि देहिनाम्।।
    वही, 1/11.
11. सर्वाभीष्टकरं नीतिशास्त्रं स्यात्सर्वसम्मतम्।
    अत्यावश्यं नृपस्याति स सर्वेषां प्रभुर्यतः।।
    वही, 1/12.
12. नीतिं त्यक्त्वा वर्त्तते यः स्वतन्त्रः स हि दुखभाक्।...
    वही, 1/16
13. यजुर्वेद, 40/1
14. ऋग्वेद, 2/28/11
15. ऋग्वेद, 1/104/7
16. ऋग्वेद, 1/125/2
17. ऋग्वेद, 2/28/9
18. यजुर्वेद, 6/17
19. ऋग्वेद, 10/191/2-4
20. यजुर्वेद, 8/16
21. यजुर्वेद, 18/48
22. ऋग्वेद, 7/71/1
23. ऋग्वेद, 1/85/9
24. यजुर्वेद, 16/15-16
25. यजुर्वेद, 34/1
26. ऋग्वेद, 1/170/2
27. ऋग्वेद, 1/65/7
28. अथर्ववेद, 3/30/2-3
29. ऋग्वेद, 10/85/46
30. वही, 10/34/3.
31. वही, 10/34/4
32. वही, 10/34/7
33. वही, 10/34/10
34. ऋग्वेद, 10/34/13

– असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, गुरु नानकदेव विश्वविद्यालय, अमृतसर, पंजाब

❑❑❑

संस्कृत धर्मशास्त्र एवं वैदिक राजधर्म

डॉ. सलोनी

संस्कृत साहित्य में धर्मशास्त्रीय ग्रंथों की एक दीर्घ परंपरा है। युगों से इन्होंने भारतीय समाज पर अपना प्रभाव छोड़ा है। भारतीय समाज की परंपराओं में से अनेक, चाहे वे सामाजिक हों अथवा धार्मिक, धर्मशास्त्रों से पूर्णतः प्रभावित हैं। धर्मशास्त्र के मूल की ओर यदि दृष्टिपात किया जाए तो यह बात सर्वसम्मत है कि धर्मशास्त्र का आधार वेद हैं। धर्मशास्त्र को परिभाषित करते हुए महर्षि मनु का स्पष्ट कथन है कि वेद को 'श्रुति' एवं धर्मशास्त्र को 'स्मृति' जानना चाहिए।[1] महर्षि मनु अत्रि, विष्णु, हारीत, याज्ञवल्क्य, उशना (शुक्र), अङ्गिरा, यम, आपस्तम्ब, संवर्त, कात्यायन, बृहस्पति, पराशर, व्यास, शंख, लिखित, दक्ष, गौतम, शातातप च वसिष्ठ नामक धर्मशास्त्रकारों का उल्लेख याज्ञवल्क्यस्मृति में प्राप्त होता है।[2] पराशरस्मृति ने मनु, वसिष्ठ, कश्यप, गर्ग, गौतम, उशना, अत्रि, विष्णु, संवर्त्त, दक्ष, अङ्गिरा, शातातप, हारीत, याज्ञवल्क्य, कात्यायन, प्रचेता, आपस्तम्ब, शंख व लिखित नामक धर्मशास्त्रकारों का नामोल्लेख किया है।[3]

स्मृतिग्रंथों ने वेदार्थ को अपने गर्भ में धारण किया हुआ है।[4] मनुस्मृति के अनुसार भी मनु द्वारा प्रतिपादित सभी धर्म वेदों में कथित हैं।[5] स्मृति को लक्षित करते हुए महर्षि शुक्राचार्य का कहना है कि जिसमें वेदसम्मत चारों वर्णों एवं आश्रमों का वर्णन तथा अर्थशास्त्र का भलीभाँति प्रतिपादन किया गया हो, उसे 'स्मृति' कहते हैं।[6] अतः यह तथ्य निर्विवाद है कि धर्मशास्त्रीय ग्रंथों में वर्णित विचारधारा वेदों की ही है।

किसी भी राष्ट्र की समृद्धि हेतु वहाँ के राजधर्म की सुदृढ़ता परमावश्यक है। संस्कृत धर्मशास्त्रों में राजा, मंत्री, मित्र, खजाना, राष्ट्र (राज्य का प्रजावर्ग), किला तथा सेना रूपी राज्य के सात प्रमुख अंगों (प्रकृतियों) की गणना की गई है।[7] इन सात प्रकृतियों में से राजा को सिर अर्थात् श्रेष्ठ कहा गया है।[8] धर्मशास्त्रकार महर्षि मनु ने राजा को इस पृथ्वी का स्वामी बताया है।[9] धर्मशास्त्र राजा को मनुष्य के रूप में बहुत बड़ा देवता स्वीकार करते हुए इसका अपमान न करने की बात करते हैं।[10] नीतिशास्त्रों की ऐसी मान्यता है कि राजा जिस प्रकार का आचरण करेगा, उसकी प्रकृतियाँ (राज्य के शेष छह अंग) तथा उसकी प्रजा भी इसका वैसे ही अनुकरण करेगी।[11] कहने का तात्पर्य है कि जिस देश का राजा धर्मात्मा होता, है, उसकी प्रजा भी धर्मनिष्ठ होती है तथा जिस देश का शासक पापाचारी होता है, वहाँ की प्रजा भी घोर पापकर्मी होती है।[12]

वैदिक साहित्य से ही राजा के लिए अपेक्षित गुणों का वर्णन हमें उपलब्ध होता है। यजुर्वेद में राजा के लिए कतिपय गुणों से युक्त होना आवश्यक बताया गया है, जिनमें नियमों का पालन, उत्तम एवं श्रेष्ठ कर्मों में प्रवृत्ति, प्रजाओं का आतंकवाद जैसी हिंसक घटनाओं एवं प्राकृतिक उत्पातों यथा बाढ़, सूखा, सुनामी आदि से रक्षण प्रमुख है।[13] यजुर्वेद में ही अपनी राष्ट्र संबंधी नीतियों का प्रतिपादन करते हुए अपने राज्याभिषेक के समय प्रजा से राजा कहता है कि मैं सुचारू रूप से न्याय करूँ, प्रजा से मधुरभाषी बनूँ, दुराचारी मनुष्यों के ऊपर मेरा क्रोध बना रहे, मेरे दोनों हाथ पराक्रम से युक्त हों तथा शारीरिक अंगों के समान संपूर्ण प्रजा-जन मेरे लिए पोषणीय हैं।[14]

भाषा ISSN 0523-1418

धर्मशास्त्रीय ग्रंथों में राजा के गुणों की विशद चर्चा की गई है। राजा के लिए अपेक्षित गुणों का प्रतिपादन करते हुए महर्षि याज्ञवल्क्य का कहना है कि राजा को महान उत्साही, बहुत धन देने वाला, कृतज्ञ, वृद्धोपसेवी, विनीत, सत्तवयुक्त (संपत्ति एवं आपत्ति में हर्ष-विषाद रहित), कुलीन, सत्यवादी, (बाह्यांतर) पवित्र, आलस्य-रहित, (ज्ञात पदार्थों का) स्मरण रखने वाला, अक्षुद (असद्गुणद्वेषी अर्थात् सद्गुण संपन्न), अकठोर अर्थात् परदोष का कथन न करने वाला, धार्मिक (मृगयाक्ष आदि) व्यसन से रहित, बुद्धिमान, वीर रहस्य के गोपन में निपुण, अपने राज्यांगों के छिद्रों को छिपाने वाला तथा आन्वीक्षिकी (आत्मविद्या), दंडनीति व वार्ता कृषि आदि- इसी त्रयी विद्या में विनीत होना चाहिए।[15] गौतमस्मृति ने राजा को सबका शासक प्रतिपादित करते हुए उसके गुणों की चर्चा की है। महर्षि गौतम के कथनानुसार राजा शुभ कर्म करने वाला, सत्यवादी, वेद (त्रयी) तथा तर्क (आन्वीक्षिकी) में सुशिक्षित, ईमानदार, जितेंद्रिय, गुणवान साथियों वाला, उपायों से संपन्न तथा समस्त प्रजाजनों के साथ समानता का व्यवहार करने वाला हो तथा उनका हितकारी रहे।[16]

धर्मशास्त्र राजा के कर्तव्यों में सर्वप्रथम कर्तव्य प्रजापालन तथा प्रजा संरक्षण को मानते हैं। प्रजावर्ग की गणना राज्य के सात अंगों में से एक अंग के रूप में की गई है।[17] इस प्रजा वर्ग की उपमा राज्य के पैर से महर्षि शुक्राचार्य ने की है।[18] प्रजापालन एवं प्रजासंरक्षण के अतिरिक्त अन्य कर्तव्यों का प्रतिपादन भी धर्मशास्त्रों में वर्णित है। महर्षि अत्रि ने दुष्ट को दंड, श्रेष्ठ जन का सम्मान, न्यायपूर्वक कोषवृद्धि, अभ्यागतों के प्रति पक्षपात का अभाव तथा अपने देश की रक्षा—ये पाँच यज्ञ रूपी कर्म राजाओं के लिए वर्णित किए हैं।[19]

धर्मशास्त्रानुसार राजा अप्राप्त को प्राप्त करने हेतु प्रयत्न करे, प्राप्त की यत्नपूर्वक रक्षा करे, रक्षा किए हुए को बढ़ावे तथा बढ़ाए हुए (द्रव्य, भूमि आदि) को दान कर दे।[20] वह सबके साथ निष्कपट बर्ताव करे तथा स्वयं संपूर्ण व्यवहार को गुप्त रखते हुए शत्रु के कपट को मालूम करे। कछुआ जिस प्रकार अपने अंगों को छिपा लेता है, वैसे ही राजा भी अपने स्वामी, अमात्य, राष्ट्र, किला आदि सात राज्य के अंगों को गुप्त रखते हुए यदि उनमें कोई फूट पड़ भी जाए तो उसे दूर करे।[21] राजा को चाहिए कि वह बगुले के समान अर्थचिंतन करे, सिंह के समान पराक्रम करे, भेड़िए की तरह शत्रु का नाश करते हुए खरगोश की भाँति (शत्रु के चंगुल से) मुक्त हो जाए।[22] धर्मशास्त्रानुसार राजा चाँद, अग्नि, सूर्य, वायु, इंद्र, कुबेर, वरुण एवं यम नामक आठ लोकपालों के शरीर को धारण करता है।[23] क्योंकि राजा लोकपालों के अंश से अधिष्ठित है,[24] इसलिए उसे इन लोकपालों के तेज का आचरण करना चाहिए।[25]

धर्मशास्त्र राजा को इंद्र-व्रत[26] (इंद्र द्वारा जल बरसाने रूपी क्रिया के समान साधु-महात्माओं की इच्छा पूर्ति करना), सूर्य-व्रत[27] (सूर्य के जल-हरण करने के समान प्रजा से कर ग्रहण करना), वायुव्रत[28] (वायु की समस्त प्राणियों में विचरणशीलता के तुल्य गुप्तचरों के माध्यम से सर्वत्र प्रवेश करना), यमव्रत[29] (यम द्वारा प्रिय-अप्रिय सबको मारने के समान प्रिय-अप्रिय सभी को दंडित करना), वरुण-व्रत (वरुण द्वारा पाशबद्ध करने के तुल्य पापियों का निग्रह करना)[30], चंद्र-व्रत[31] (चंद्रमा की आह्लादक छवि की भाँति प्रजा को प्रसन्नता प्रदान करना), अग्निव्रत[32] (अग्नि के समान दुष्ट मंत्रियों का वध करना) तथा पार्थिवव्रत[33] (पृथ्वी के प्राणियों को धारण करने तुल्य प्रजाओं का समान भाव से पालन करना) धारण करने का निर्देश देता है।

धर्मशास्त्रीय ग्रंथों में भी राजा के त्याज्य कर्मों की विस्तारपूर्वक चर्चा की गई है। धर्मशास्त्र की दृष्टि में मानवीय व्यसन मृत्यु से भी अधिक कष्टकारी होते हैं।[34] 'व्यसन' शब्द की परिभाषा देते हुए आचार्य कौटिल्य का कहना है कि जो कार्य कल्याणकारी मार्ग से भ्रष्ट कर दे अर्थात् जो कार्य राजा को नीचे गिरा दे, वही उसके लिए 'व्यसन' है।[35] 'विदुरनीति' तथा 'श्रीमद्भागवद्गीता' में काम, क्रोध एवं लोभ रूपी व्यसन को नरक अर्थात् दु:खों में प्रवृत्ति के कारण रूपी द्वार मानते हुए इनके त्याग का उपदेश दिया गया है।[36]

धर्मशास्त्रकार महर्षि मनु ने भी लोभ से प्रादुर्भूत होने वाले दस कामजन्य तथा आठ क्रोधजन्य व्यसनों को लोभ के सहित त्यागने की बात कही है।[37] मृगया, जुआ, दिन में सोना, पराये की निंदा, स्त्री में अत्यासक्ति, मद (मद्यपानादि) नाचने व गाने में अत्यासक्ति तथा व्यर्थ भ्रमण की गणना कामजन्य व्यसनों तथा चुगलखोरी, दुस्साहस, द्रोह, ईर्ष्या, असूया, अर्थदोष, कठोर वचन तथा कठोर दंड की गणना क्रोधजन्य व्यसनों में महर्षि मनु ने की है।[38]

धर्मशास्त्रानुसार कामजन्य व्यसनों से आसक्त राजा अर्थ एवं धर्म से भ्रष्ट हो जाता है व क्रोधजन्य व्यसनों में आसक्त राजा आत्मा से ही भ्रष्ट हो जाता है।[39]

धर्मशास्त्र की ऐसी मान्यता है कि कोई काम चाहे छोटे से छोटा ही क्यों न हो, उसे बिना सहायक के कोई एक अकेला व्यक्ति सहज रूप से संपन्न नहीं कर सकता। फिर वैभवपूर्ण राजकाज-संचालन का तो कहना ही क्या?[40] राजधर्म की दृष्टि से 'मंत्री' के पद को उत्तम माना गया है[41] तथा मंत्री को राज्य रूपी वृक्ष के तने की संज्ञा प्रदान की गई है।[42] धर्मशास्त्र का कथन है कि राजा विवेकशील, वंशपरंपरा से चले आने वाले, धैर्यवान एवं पवित्र पुरुषों को मंत्री बनावे, उनके साथ राज्य के कार्यों संबंधी मंत्रणा करे, पुरोहित से परामर्शपूर्वक स्वयं अपनी बुद्धि से कर्तव्य का चिंतन करे।[43] राजा का कार्य जितने पुरुषों से पूर्ण हो, आलस्यरहित, कार्य करने में उत्साही तथा कार्य के जानकार उतने ही व्यक्तियों को राजा मंत्री बनाए[44] तथा इनमें से शूरवीर, उत्साही, कुलक्रमानुगत, शुद्धचित्त (रिश्वत न लेने वाले तथा चोरी आदि गबन न करने वाले) मंत्रियों को धन-धान्य के संग्रह में तथा डरने की प्रवृत्ति वाले मंत्रियों को महल (रनिवास, भोजन-गृह आदि) में नियुक्त करे।[45] साथ ही राजा इन मंत्रियों के साथ मंत्रणा करता रहे।[46]

देश एवं काल के विषय में अच्छी जानकारी रखने वाला व्यक्ति अमात्य कहलाता है।[47] महत्व की दृष्टि से अमात्य को राजा का बायाँ हाथ, बायाँ कान तथा बाईं आँख माना जाता है।[48] धर्मशास्त्रानुसार तो राजकार्य की अधिकता आदि से उन्हें देखने में असमर्थ अथवा थका हुआ राजा धर्मज्ञाता, विद्वान जितेंद्रिय तथा कुलीन प्रधान अमात्य को प्रजाओं के कार्य को देखने में नियुक्त करे।[49] इसलिए राज्य-संचालन हेतु इनकी नियुक्ति अत्यधिक सोच समझकर करनी चाहिए अन्यथा महान अनिष्ट होता है।[50] अमात्यवर्ग का राजा को कभी भी तिरस्कार नहीं करना चाहिए।[51]

अमात्यों की गणना मंत्रिपरिषद के अंतर्गत की जाती है। अमात्यों की संख्या विषयक आचार्यों के विभित्र मत हैं। मंत्रिपरिषद में महर्षि मनु के अनुयायी बारह, बृहस्पति के अनुयायी सोलह तथा शुक्राचार्य के अनुयायी बीस अमात्य रखने के पक्षधर हैं, किंतु आचार्य कौटिल्य के मतानुसार कार्य करने वाले पुरुषों के सामर्थ्य के अनुसार ही उनकी संख्या नियत होनी चाहिए।[52]

यह अमात्य वर्ग राजा को अनर्थकारी कार्यों से रोकता है।[53] इसलिए धर्मशास्त्र का कथन है कि राजा शुद्ध अर्थात् रिश्वत आदि न लेने वाले, बुदधिमान, स्थिरचित्त भाव, आपातकाल में भी न घबराने वाले तथा सब प्रकार से न्यायपूर्वक, धन-धान्य उत्पन्न करने वाले सुपरीक्षित अमात्यों को नियुक्त करे।[54]

कोश अर्थात् खजाने की गणना भी राज्य के सात अंगों में करते हुए इसे राज्य का 'मुख' स्वीकार किया गया है।[55] कोशयुक्त राजा का वास्तविक प्राण उसका जीवन नहीं, अपितु इसका कोश ही माना जाता है।[56] धर्मशास्त्रानुसार राजा को न्यायपूर्वक कर संग्रह करते हुए प्रजा से पिता के समान व्यवहार करना चाहिए।[57] धर्मशास्त्र के मतानुसार राजा को कर-निर्धारित करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसके नागरिक एवं व्यापारी फल से युक्त रहें तथा उन्हें किसी भी प्रकार की हानि न हो। जिस प्रकार जोंक, बछड़ा एवं भ्रमर थोड़ा-थोड़ा अपने-अपने खाद्य (क्रमशः रक्त, दूध, मधु) को ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार राजा को भी प्रजा से थोड़ा-थोड़ा वार्षिक कर ग्रहण करना चाहिए।[58] पराशरस्मृति का कहना है कि जिस प्रकार माली बाग में से एक-एक फूल को चुनता है, उसे समूल नष्ट नहीं करता, उसी प्रकार राजा भी कर ग्रहण करते समय माली का अनुकरण करे, न कि कोयला बनाने वाले की तरह प्रजा का मूलोच्छेद ही कर दे।[59]

कर-सीमा का निर्धारण करते हुए धर्मशास्त्र ने राजा को आय के छठे भाग का अधिकारी बताया है।[60] मनुस्मृति में भी राजा को वृक्ष, मांस, शहद, घी, गंध, औषधि, रस, फूल, मूल, फल, पत्ता, शाक, घास, चमड़ा, बांस, मिट्टी के बर्तन तथा पत्थर से बनी सब वस्तुओं का छठा भाग कर रूप में ग्रहण करने का निर्देश दिया गया है।[61] साथ ही पशु एवं सुवर्ण का कर उसके मूलधन से अधिक का पचासवाँ भाग तथा भूमि की श्रेष्ठता अर्थात् उपजाऊपन एवं परिश्रम आदि का विचार कर धान्य का छठा, आठवाँ अथवा बारहवाँ भाग कर के रूप में ग्रहण करना चाहिए।[62] किस-किस को कर से छूट दी जानी चाहिए, इस संदर्भ में मनुस्मृति का राजा को निर्देश है कि वह अंधे, जड़, पंगु, 70 वर्ष से अधिक वृद्ध आदि से श्रेत्रियों के उपकारक से कर

ग्रहण न करे।[63] साथ ही साथ धर्मशास्त्र का कहना है कि विकट से विकट परिस्थिति में भी राजा श्रोत्रिय अर्थात् धार्मिक व्यक्ति से कर ग्रहण न करे।[64]

अतः स्पष्ट है कि वैदिक सिद्धांतों को आधार बनाकर लिखे गए संस्कृत के धर्मशास्त्रीय ग्रंथों में वर्णित राजधर्म सिद्धांत आधुनिक संदर्भ में अनुकरणीय तथा अत्यंत सार्थक हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
   मनुस्मृति, 2/10.
2. मन्वत्रिविष्णुहारीतयाज्ञवल्क्योशनोऽङ्गिराः।
   यमापस्तम्बसंवर्ताः कात्यायनबृहस्पती।।
   पराशरव्यासशंखलिखिता दक्षगौतमौः।।
   शातातपो वसिष्ठश्च धर्मशास्त्रप्रयोजकाः।।
   याज्ञवल्क्यस्मृति, 1/4-5.
3. श्रुता मे मानवा धर्म्मा वासिष्ठाः काश्यपास्तथा।
   गार्गेया गौतमाश्चैव तथा चौशनमाः स्मृताः।।
   अत्रेर्विष्णोश्च सांवर्त्ता दाक्षा आङ्गिरसास्तथा।
   शातातपाश्च हारीता याज्ञवल्क्यकृताश्च ये।।
   कात्यायनकृताश्चैव प्राचेतसकृताश्च ये।
   आपस्तम्बकृपा धर्म्माः शंखस्य लिखितस्य च।।
   पराशरस्मृति, 1/13-15.
4. स पृष्टः स्मृतिमान् स्मृत्वा स्मृतिं वेदार्थगर्भिताम्।.
   व्यासस्मृति, 1/2.
5. यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
   स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः।।
   मनुस्मृति, 2/7.
6. वर्णादिधर्म्मस्मरणं यत्र वेदाविरोधकम्।
   कीर्त्तनं चार्थशास्त्राणां स्मृतिः सा च प्रकीर्त्तिता।
   शुक्रनीति, 4/3/54.
7. (i) स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदंडौ सुहृत्तथा।
   सप्त प्रकृतयो ह्येताः सप्ताङ्ग राज्यमुच्यते।।
   मनुस्मृति, 9/294.
   (ii) स्वाम्यमात्या जनो दुर्गं कोशो दंडस्तथैव च।
   मित्राण्येताः प्रकृतयो राज्यं सप्ताङ्गमुच्यते।।
   याज्ञवल्क्यस्मृति, 1/353.
8. सप्तांगमुच्यते राज्यं तत्र मूर्द्धा नृपः स्मृतः।।
   शुक्रनीति, 1/61.
9. ...भूमेरधिपतिर्हि सः।।
   मनुस्मृति, 8/39.
10. बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
    महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति।।
    वही, 7/8.
11. (i) यस्याश्रितो भवेल्लोकस्तद्वदाचरति प्रजा।.
    शुक्रनीति, 4/3/5.
    (ii) स्वयं यच्छीलस्तच्छीताः प्रकृतयो भवन्ति।.
    अर्थशास्त्र, 8/127/1, पृ. सं.-556.
    (iii) राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः।
    राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः।।
    चाणक्यनीति, 13/7.
12. सुपुंयो यत्र नृपतिर्धर्मिष्ठास्तत्र हि प्रजाः।
    महापापी यत्र राजा तत्राधर्मपरो जनः।।
    शुक्रनीति, 4/1/62.
13. निषसाद धृत्तव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा। साम्राज्याय सुक्रयः।
    मृत्योः पाहि विद्योत्पहि।।
    यजुर्वेद, 20/2.
14. शिरो मे श्रीर्यशो मुखं त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि।
    राजा मे प्राणो अमृतं सम्राट् चक्षुर्विराट् श्रोत्रम्।।
    जिह्वा भद्रं वाङ्महो मनो मन्युः स्वराड् भामः।
    मोदाः प्रमोदा अङ्गुलीरङ्गानि मित्रं मे सह।।
    बाहू मे बलमिन्द्रियं हस्तौ मे कर्म वीर्यम्।
    आत्मा क्षत्रमुरो मम।।
    पृष्ठीर्मे राष्ट्रमुदरमसौ ग्रीवाश्च श्रोणी।
    ऊरु अरत्नी जानुनी विशो मे अङ्गानि सर्वतः।।
    वही, 20/5-8.
15. महोत्साहः स्थूललक्षः कृतज्ञो वृद्धसेवकः।
    विनीतः सत्तवसम्पन्नः कुलीनः सत्यवाक्शुचिः।
    अदीर्घसूत्रः स्मृतिमानक्षुद्रोऽपरुषस्तथा।
    धार्मिकोऽव्यसनश्चैव प्राज्ञः शूरो रहस्यवित्।।
    स्वरन्ध्रगोप्ताऽऽन्वीक्षिक्यां दण्डनीत्यां तथैव च।
    विनीतस्त्वथ वार्तायां त्रय्यां चैव नराधिपः।।
    याज्ञवल्क्यस्मृति, 1/309-311
16. राजा सर्वस्येष्टे ब्राह्मणवर्जं साधुकारी स्यात् साधुवादी त्रय्यामान्वीक्षिक्याञ्चाभिविनीतः शुचिर्जितेन्द्रियो गुणवत्सहायोपायसम्पन्नः समः प्रजासु स्याद्धितञ्चासां कुर्वीत...।।
    गौतमस्मृति, 11/1.
17. राष्ट्रं-राज्यस्यप्रजावर्गः।

शुक्रनीति, प्रथमाध्याय, पृ. सं.-24.

18. ...हस्तौ पादौ दुर्गराष्ट्रौ राज्याङ्गानि स्मृतानि हि।।
वही, 1/62.

19. दुष्टस्य दण्यः सुजनस्य पूजा न्यायेन कोषस्य च संप्रवृद्धिः।
अपक्षपातोऽर्थिषु राष्ट्ररक्षाः पंचैव यज्ञाः कतथता नृपाणाम्।।
अत्रि संहिता, श्लोक सं.-28.

20. (i) अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत्प्रयत्नतः।
रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत्।।
(ii) अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया।
रक्षितं वर्धयेद् बुद्धया वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत्।।
मनुस्मृति, 7/99, /101.

21.अमाययैव वर्तेत न कथंचन मायया।
बुद्धयेतारिप्रयुक्तां च मायां नित्यं स्वसंवृतः।।
नास्य छिद्रं परो विद्याद्विद्याच्छिद्रं परस्य तु। गूहेत्कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः।।
वही, 7/104-105.

22. बकवच्चिन्तयेदर्थान्सिहवच्च पराक्रमेत्।
वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत्।।
वही, 7/106.

23. सोमाग्न्यर्कानिलेन्द्राणां वित्ताप्पत्योर्यमस्य च।
अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः।।
मनुस्मृति, 5/96.

24. लोकेशाधिष्ठितो राजा...।।
वही, 5/97.

25. इन्द्रस्यार्कस्य वायोश्च यमस्य वरुणस्य च।
चन्द्रस्याग्नेः पृथिव्याश्च तेजोवृत्तं नृपश्चरेत्।।
वही, 9/303.

26. वार्षिकांश्चतुरो मासान् यथेन्द्रोऽभिप्रवर्षति।
तथाभिवर्षेत्स्वं राष्ट्रं कामैरिन्द्रव्रतं चरन्।।
वही, 9/304,

27. अष्टौ मासान् यथादित्यस्तोयं हरति रश्मिभिः।
तथा हरेत्करं राष्ट्रान्नित्यकर्मव्रतं हि तत्।।
वही, 9/305.

28. प्रविश्य सर्वभूतानि यथा चरति मारुतः।
तथा चारैः प्रवेष्टव्यं व्रतमेतद्धि मारुतम्।।
वही, 9/306.

29. यथा यमः प्रियद्वेष्यौ प्राप्ते काले नियच्छति।
तथा राज्ञा नियन्तव्याः प्रजास्तद्धि यमव्रतम्।।
वही, 9/307.

30. वरुणेन यथा पाशैर्बद्ध एवाभिदृश्यते।
तथा पापान्निगृह्णीयाद् व्रतमेतद्धि वारुणम्।।
वही, 9/308.

31. परिपूर्णं यथा चन्द्रं दृष्ट्वा हृष्यन्ति मानवाः।
यथा प्रकृतयो यस्मिन्स चान्द्रव्रतिको नृपः।।
वही, 9/309.

32. प्रतापयुक्तस्तेजस्वी नित्यं स्यात्पापकर्मसु।
दुष्टसामन्तहिंस्रश्च तदाग्नेयं व्रतं स्मृतम्।।
वही, 9/310.

32. यथा सर्वाणि भूतानि धरा धारयते समम्।
तथा सर्वाणि भूतानि बिभ्रतः पाथिवं व्रतम्।।
वही, 9/311.

34 व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते।
व्यसन्यधोऽधो व्रजति स्वर्गात्यव्यसनी मृतः।।
मनुस्मृति, 7/53.

35. ....व्यस्यत्येनं श्रेयस इति व्यसनम्।। अर्थशास्त्र, 8/127/1, पृ. सं.-555.

36. (i) त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।।
विदुरनीति, 1/71.

(ii) श्रीमद्भागवद्गीता, 16/21.

37. दश कामसमुत्थानि तथाष्टौ क्रोधजानि च।
व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत्।।
द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः।
तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेतावुभौ गणौ।।
मनुस्मृति, 7/45, 49.

38. मृगयाऽक्षो दिवा स्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः।
तौर्यत्रिकं वृथाट्यां च कामजो दशको गणः।।
पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यासूयार्थदूषणम्।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः।।
वही, 7/47-48.

39. कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः।
वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव तु।।
वही, 7/46.

40. अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्।
विशेषतोऽसहायेन किंतु राज्यं महोदयम्।।
मनुस्मृति, 7/55.

41. ...ह्युत्तमा मन्त्रिणः स्मृताः।।
शुक्रनीति, 2/278.

42 राजवृक्षस्य नृपतिर्मूलं स्कन्धाश्च मन्त्रिणः।...
वही, 5/12.
43. स मन्त्रिणः प्रकुर्वीत प्राज्ञान्मौलान्स्थिराञ्शुचीन्।
तैः सार्धं चिन्तयेद्राज्यं विप्रेणाथ ततः स्वयम्।।
याज्ञवल्क्यस्मृति, 1/312.
44. निर्वर्तेतास्य यावद्भिरितिकर्तव्यता नृभिः।
तावतोऽतन्द्रितान्दक्षान्प्रकुर्वीत विचक्षणान्।।
मनुस्मृति, 7/61.
45. तेषामर्थे नियुञ्जीत शूरान्दक्षान्कुलागतान्।
शुचीनाकरकर्मान्ते भीरूनन्तर्निवेशने।।
वही, 7/62.
46. ...विसृज्य च प्रजाः सर्वा मन्त्रयेत्यह मन्त्रिभिः।।
मनुस्मृति, 7/146.
47. देशकालप्रविज्ञाता ह्यमात्य इति कथ्यते।...
शुक्रनीति, 2/86.
48. युवराजोऽमात्यगणो भुजावेतौ महीभुजः।
तावेव नयने कर्णौ दक्षसव्यौ क्रमात् स्मृतौ।।
वही, 2/12.
49. अमात्यमुख्यं धर्मज्ञं प्राज्ञं दान्तं कुलोद्गतम्।
स्थापयेदासने तस्मिन्खिन्नः कार्यक्षणे नृणाम्।। मनुस्मृति, 7/141.
50. बाहुकर्णाक्षिहीनः स्याद् विना ताभ्यामतो नृपः।
योजयेच्चिन्तयित्वा तौ महानाशाय चान्यथा।।
शुक्रनीति, 2/13.
51. ...अमात्या इति तान्राजा नावमन्येत्कदाचन।।
हितोपदेश, 3/133.
52. मन्त्रिपरिषदं द्वादशामात्यान् कुर्वीतेति मानवाः।
षोडशेति बार्हस्पत्याः। विंशतिमित्यौशनसाः।
यथासामर्थ्यमिति कौटिल्यः।।
अर्थशास्त्र, 1/10/14, पृ. सं.-47.
53. मर्यादां स्थापयेदाचार्यानमात्यान् वा। य एनमपायस्थानेभ्यो वारयेयुः।
वही, 1/3/6, पृ. सं.-19.
54. अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन्प्राज्ञानवस्थितान्।
सम्यगर्थसमाहर्तृनमात्यान्सुपरीक्षितान्।।
मनुस्मृति, 7/60.
55. ...मुखं कोशो....।।
शुक्रनीति, 1/62.
56. ....कोशः कोशवतः प्राणाः प्राणाः प्राणा न भूपतेः।।
हितोपदेश, 2/92.
57. सांवत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहारयेद्बलिम्।
स्याच्चाम्नायपरो लोको वर्तेत पितृवन्नृषु।।
वही, 7/80.
58. यथा फलेन युज्येत राजा कर्ता च कर्मणाम्।
तथावेक्ष्य नृपो राष्ट्रं कल्पयेत्सततं करान्।।
यथाल्पाल्पमदन्त्याद्यं वार्योकोवत्सषट्पदाः।
तथाल्पाल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः।।
मनुस्मृति, 7/128-129.
59. पुष्पं पुष्पं विचिनुयान्मूलक्ष्छेदं न कारयेत्।
मालाकार इवोद्याने न यथाङ्गारकारकः।।
पराशरस्मृति, 1/60.
60. ...नित्यं षड्भागार्हः सदा नृपः।।
लघुहारीतस्मृति, 2/3.
61. आददीताथ षड्भागं द्रुमांसमधुसर्पिषाम्।
गन्धौषधिरसानां च पुष्पमूलफलस्य च।।
पत्रशाकतृणानां च चर्मणां वैदलस्य च।
मृन्मयानां च भाण्डानां सर्वस्याश्ममयस्य च।।
मनुस्मृति, 7/131-132.
62. पञ्चाशद्भाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः।
धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वा।।
मनुस्मृति, 7/130.
63. अन्धो जडः पीठसर्पी सप्तत्या स्थविरश्च यः।
श्रोत्रियेषूपकुर्वंश्च न दाप्याः केनचित्करम्।।
मनुस्मृति, 8/394.
64. म्रियमाणोऽप्याददीत न राजा श्रोत्रियात्करम्।...
मनुस्मृति, 7/133.

– म. न. 122, गोकुल एवेन्यू, मजीठा रोड, अमृतसर-143001

❑❑❑

वैदिक ग्रंथों में न्याय की अवधारणा एवं वर्तमान विधि व्यवस्था

डॉ. प्रशांत मिश्र

वैदिक काल स्वर्ण काल था। लोग नीतियुक्त आचरण करते थे, आगे चलकर उनके जीवन में अनैतिकता एवं अनाचार का प्रवेश हुआ। इसी से विद्वानों एवं राजा ने नियमों का निर्माण किया और कानूनों का प्रचलन हुआ। व्यक्ति की असीमित और अप्रतिबंधित स्वतंत्रता को नियंत्रित करने के लिए विधि की आवश्यकता होती है। सामाजिक प्राणियों को सुरक्षा प्रदान करने के उद्देश्य से विधि न्याय प्रदत्त करती है। विधि को लागू करने के लिए राज्य की आवश्यकता होती है। राज्य के अस्तित्व के बिना विधि अनुपयोगी होती है।

वैदिक काल में निष्पक्ष न्याय करना एवं अपराधियों को दंड देना राजा का प्रमुख कार्य था। राजा न्याय का स्रोत माना जाता था। अपितु उसका आचरण भी न्यायाधीश के समान ही होता था। कौटिल्य ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'अर्थशास्त्र' में लिखा है कि दिन के दूसरे भाग में राजा को जनपदों के झगड़ों को निपटाना चाहिए।

भारतीय व्यवस्थाकारों ने समाज एवं मनुष्य को व्यवस्थित और नियंत्रित रखने के लिए जिन मान्य परंपराओं, प्रथाओं तथा विधानों को लिपिबद्ध किया है, उन्हीं नियमों को विधि और कानून की संज्ञा प्रदान की गई। इन विधिक सिद्धांतों को राज्य-संस्था द्वारा स्वीकृत किया गया। इसी कारण इनके अनुपालन के लिए राज्यशक्ति का प्रयोग आवश्यक हुआ। वैदिक युग से ही विधि एवं विधिक संस्थाओं की स्थापना प्रारंभ हो गई थी। वैदिक साहित्य में विधि द्वारा न्याय करने के संकेत मिलते हैं। उत्तर वैदिक काल में धर्मशास्त्रों, सूत्रसाहित्यों तथा स्मृतिग्रंथों में विभिन्न प्रकार से विधि का स्वरूप निर्मित हुआ। सूत्र साहित्य में विधि का मुख्य आधार वेदों को ही माना गया। आपस्तम्ब-धर्मसूत्र के अनुसार धर्म-व्यवस्था के मूल स्रोत वेद हैं तथापि इतिहास, स्मृति और आचार से भी धर्म-व्यवस्था का बोध होता है।

शुक्रनीति, मनु, वशिष्ठ, धर्मसूत्र, नारद, मानसोल्लास, के मतानुसार न्याय शासन राजा का व्यक्तिगत कार्य है। रामायण के उत्तरकांड में लिखा है कि जो राजा आनंद भोग में लिप्त रहता है और प्रजा के झगड़ों का निपटारा नहीं करता है वह नृग (जब दो ब्राह्मणों के गाय संबंधी झगड़ों का निपटारा नहीं हुआ तो उन्होंने राजा नृग को गिरगिट हो जाने का शाप दिया था) की भाँति दुखी होता है। न्यायालय के लिए वैदिक काल में धर्मासन, धर्मस्थान, धर्माधिकरण शब्द का प्रयोग किया गया है।

मनु ने शांति पर्व में लिखा है कि कृत युग या सत्ययुग में धर्म अपनी पूर्णता के साथ विराजमान था। किंतु आगे चलकर चोरी झूठ एवं धोखाधड़ी के कारण तीनों युगों में धर्म की अवनति होती चली गई।

वैदिक ग्रंथों में न्यायालय के प्रकार

राज्य सत्ता का विस्तार होने पर राजा के द्वारा अकेले सभी विवादों का निपटारा करना संभव नहीं था। इसलिए न्यायालय की अवधारणा का जन्म होता है। वैदिक ग्रंथों का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है, उस युग में भी आधुनिक युग की तरह ही न्यायालय स्थापित किए गए थे। वैदिक ग्रंथों में चार प्रकार के न्यायालय मिलते हैं-

1. प्रतिष्ठित न्यायालय
2. अप्रतिष्ठित न्यायालय
3. मुद्रित न्यायालय
4. शासित न्यायालय
5. अन्य न्यायालय

वर्तमान परिस्थितियों में इनकी व्याख्या इस प्रकार से की जा सकती है-

1. प्रतिष्ठित न्यायालय- वैदिक ग्रंथों में वैदिक न्यायालय उन न्यायालयों को माना गया है जो किसी पुर या ग्राम में प्रतिष्ठित हो। वर्तमान समय में भी ग्राम पंचायत के रूप में इसे देखा जा सकता है। आज के समय में भी ग्राम पंचायत ग्रामीण जनों के बहुत से विवादों का निपटारा अपने स्तर पर ही कर लेती हैं। इनमें वे विवाद शामिल होते हैं जो सामान्य अपराध से संबंधित होते थे। गंभीर अपराध के लिए न्यायालय की शरण ली जाती है। वैदिक काल में भी ग्रामीण जनों के सामान्य विवादों का निपटारा ग्रामीण स्तर पर ही किया जाता है।

2. अप्रतिष्ठित न्यायालय- अप्रतिष्ठित न्यायालय उन न्यायालयों को माना गया है जो एक स्थान पर स्थापित न होकर अपना स्थान निरंतर परिवर्तित करते रहते हैं। वैदिक काल में इस प्रकार के न्यायालय इसलिए देखने को मिलते हैं क्योंकि न्याय की अवधारणा के अनुसार पीड़ित व्यक्ति को न्याय यथासंभव आसानी से मिल सके तथा उसे न्याय के लिए परेशान न होना पड़े। वर्तमान समय में भी सरकार द्वारा इस प्रकार की पहल की गई है। मोबाइल कोर्ट के द्वारा जगह-जगह न्यायालय लगा कर लोगों को न्याय देने का प्रयास किया जाता है। इसके साथ ही साथ लोक अदालत का आयोजन कर के भी लोगों को यथासंभव न्याय देने का प्रयास किया जा रहा है।

3. मुद्रित न्यायालय- वैदिक ग्रंथों में मुद्रित न्यायालय उन न्यायालयों को माना गया है जो राजा द्वारा नियुक्त हो और राजा के मुहर का प्रयोग कर सकता हो। चूँकि वैदिक काल में राजा को ही न्याय का स्रोत माना जाता था अत: कोई भी न्याय राजा के नाम पर ही किया जाता था। वर्तमान लोकतांत्रिक देश में राजा और प्रजा की अवधारणा समाप्त हो चुकी है। ऐसे में न्यायालय देश के कानूनों के प्रति उत्तरदायी होते हैं। वर्तमान समय के जिला न्यायालय, उच्च न्यायालय, उच्चतम न्यायालय को इसके अंतर्गत रखा जा सकता है। ये सभी न्यायालय विधि द्वारा स्थापित किए जाते हैं।

4. शासित न्यायालय- वैदिक ग्रंथों में शासित न्यायालय उस न्यायालय को माना गया है जहाँ का न्याय स्वयं राजा करे। राजा न्याय का अंतिम न्यायालय होता था। वह मंत्रियों एवं विद्वानों की सलाह पर न्याय करते था। वर्तमान समय में भी इस प्रकार की कुछ शक्तियाँ राष्ट्रपति के पास हैं। राष्ट्रपति संसद या मंत्रिमंडल की सलाह पर कुछ मामलों में सजा को कम करने या माफ करने के लिए स्वतंत्र होता है। वैदिक काल में यही शक्तियाँ राजा के पास होती थी। वह सजा को कम या माफ कर सकता था।

5. अन्य न्यायालय - वैदिक काल में राजकीय न्यायाधिकरणों के अतिरिक्त विभिन्न विभागों के अपने प्रशासनिक न्यायाधिकरण भी होते हैं, जिन्हें अपने विभागों के अधिकारियों के मामलों में विवादों के निस्तारण का अधिकार था। वर्तमान समय में भी विभिन्न विभागों- सेना, रेलवे एवं अन्य के अपने न्यायालय हैं जहाँ पर वे स्वयं से संबंधित विवादों को सुनते हैं तथा विधि अनुरूप न्याय करते हैं। इसी प्रकार से केंद्रीय कर्मचारियों के लिए भी अपने न्याधिकरण होते हैं जहाँ पर उनके विवादों को सबसे पहले सुना जाता है।

अपराध की अवधारणा

क्राम, क्रोध, लोभ, मोह आदि को मनुष्य का प्रबल शत्रु माना गया है। इनके वशीभूत होकर मनुष्य अपने धर्म का उल्लंघन कर अन्य व्यक्तियों को कष्ट अथवा हानि पहुँचाता है, जो समाज में कलह और द्वेष-भावना की वृद्धि का कारण बन जाता है, उस द्वेष और कलह की भावना को रोकने के लिए प्राचीन भारतीय धर्मशास्त्रकारों ने न्याय व्यवस्था का विधान किया था। राज्य एवं शासन-संस्था के विकास के साथ-साथ प्राचीन काल में न्याय-व्यवस्था का भी समुचित विकास हुआ। सर्वमान्य जनता को अराजक स्थिति से मुक्ति दिलाने तथा सुखी जीवन व्यतीत करने के लिए एक सुव्यवस्थित शासनपद्धति ने जन्म लिया। इस व्यवस्था के लिए आवश्यक था कि सामान्य जन भी परस्पर न्यायोचित व्यवहार कर राज्य के नियमों का पालन करें। कौटिल्य ने वैदिक ग्रंथों में वर्णित विभिन्न

अपराधों को कंटकशोधन और दंडपारुष्य के अंतर्गत दिया है। कंटकशोधन के अंतर्गत उन अपराधों को वर्गीकृत किया गया है जो सामान्य हैं तथा जिससे जन या धन हानि नहीं होती है। दंडपारुष्य के अंतर्गत उन अपराधों को समाहित किया गया है जिसमें जन या धन की हानि होती है। उदाहरण के लिए यदि दर्जी समय से कपड़े सिलकर नहीं देता है तो उससे अपने मेहनताना का चौथाई हिस्सा ही दिया जाता था। यह कंटकशोधन के अंतर्गत वर्गीकृत है। लेकिन यदि वैद्य द्वारा लापरवाही से कोई व्यक्ति मर जाता है तो वैद्य की गलती सिद्ध होने होने पर उसे कड़ा दंड दिया जाता था। यह दंड पारुष्य के अंतर्गत वर्गीकृत किया गया है।

याज्ञवल्क्य ने अपने धर्मग्रंथ में 20 प्रकार के अपराधों का वर्णन किया है। मनु ने 18, कौटिल्य ने 16, नारद ने 18 और बृहस्पति ने 19 प्रकार के दंडों का वर्णन किया है। इसके साथ ही साथ यह प्रावधान भी किया गया है कि राजा जिस चीज को अनुचित समझे उसे अपराध माना जा सकता है। बृहस्पति ने आगे चलकर अपराधों का वर्गीकरण दो प्रकार से किया है- धन संबंधी और हिंसा संबंधी। बृहस्पति ने कहा कि झगड़ों का निर्णय केवल शास्त्र विहित नियमों के आधार पर नहीं होना चाहिए बल्कि यह तर्कों और विवेक पर भी आश्रित होना चाहिए। याज्ञवल्क्य ने 14 विवादों को अर्थविवाद और 4 विवादों को हिंसात्मक श्रेणी में रखा है। कात्यायन ने विवादों को 18 प्रकारों में वर्गीकृत किया है। उन्होंने लिखा है कि ये सभी विवाद एक ही स्थान पर सुने जाते है। अत: इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक काल में एक ही प्रकार के न्यायालय होते थें।

वैदिक काल में स्त्रियों के संरक्षण के लिए सबसे अधिक कानूनों का निर्माण किया गया था। स्त्रियों के साथ अनुचित व्यवहार को सभी विद्वानों ने अपराध की श्रेणी में रखा है। इसमें परस्त्रीगमन, बलात्कार आदि को शामिल किया गया है। इसी प्रकार से बिना पति के गर्भधारण करना और गर्भपात को भी अपराध माना गया है।

वर्तमान समय में देखा जाए तो वैदिक काल में वर्णित अपराधों को आज भी अपराध की श्रेणी में रखा गया है। भारतीय दंड संहिता और समय-समय पर बनाए गए अन्य विधिक ग्रंथों में स्त्रियों के संरक्षण के लिए उपाय किए गए हैं। इस प्रकार से देखा जाए तो भारतीय दंड और अपराध की धारणा वैदिक काल से ही पुष्ट रही है।

न्याय की प्रक्रिया

प्राचीन भारतीय न्याय-प्रक्रिया बहुत ही सरल थी। पीड़ित व्यक्ति को अपनी याचिका के साथ न्यायालय में उपस्थित होना पड़ता था। न्यायालय में सुने जाने वाले विवादों को 'व्यवहार' तथा व्यवहार (न्याय) के लिए आने वाले व्यक्ति को 'अभ्यर्थी' कहा जाता था। याचिकाओं को प्रस्तुत करने के अपने विशेष प्रकार के नियम होते थे। याचिका लिखित रूप में संक्षिप्त और शुद्ध होनी जरूरी थी। याचिका के अशुद्ध होने पर वादी की याचिका अमान्य कर दी जाती थी। युक्तिकल्पत: तथा नारदस्मृति में दिया गया है कि याचिका में सभी तथ्यों का समावेश हो तथा वह दाएँ हाथ से न्यायालय में प्रस्तुत की जाए। जो व्यक्ति; जैसे स्त्री, बालक, वृद्ध, अनाथ, रुग्ण अथवा जिन व्यक्तियों को न्यायालय में उपस्थित होने की छूट थी जैसे-देव, ब्राह्मण, ऋषि, तपस्वी आदि; शारीरिक रूप से स्वयं उपस्थित होने में असमर्थ होते थे, उनके पक्ष को राजकर्मचारी प्रस्तुत कर सकता था। अभ्यर्थी की याचिका प्रस्तुत होने पर प्रतिवादी अथवा प्रत्यर्थी को उसकी सूचना भेजी जाती थी। यह कार्य श्रावणिक नामक कर्मचारी द्वारा संपन्न किया जाता था। निर्धारित सुनवाई के दिन धर्मसैनिक के आदेश पर श्रावणिक, वादी तथा प्रतिवादी को पुकारता था तथा वाद पर सुनवाई प्रारंभ होती थी। न्यायाधीश दोनों पक्षों को सुनकर एवं न्यायसभा के सदस्यों के परामर्श करने के उपरांत या तो निर्णय देता था अथवा महत्वपूर्ण विवादों को राजा के निर्णय के लिए सुरक्षित रख लेता था। किसी भी 'व्यवहार' पर अंतिम निर्णय का अधिकार राजा के पास सुरक्षित होता था। आचार्य कौटिल्य कहते हैं कि "कठोरतम दंड से प्रजा विचलित होती है। कोमल दंड से प्रजा तिरस्कार करने लगती है। अत: दंड की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए।"

वर्तमान न्यायिक प्रक्रिया का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि आज के समय में भी न्याय की प्रक्रिया वैदिक काल की तरह ही संचालित होती है। पीड़ित व्यक्ति न्यायालय या उससे संबंधित अन्य केंद्रों जैसे कि पुलिस में अपनी लिखित शिकायत देता है और पुलिस उसे न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत करता है। शिकायत करने वाला व्यक्तिवादी एवं जिसके खिलाफ शिकायत

की गई होती है उसे प्रतिवादी कहा जाता है। वर्तमान समय में भी शिकायत मिलने पर प्रतिवादी और प्रत्यक्षदर्शी को सूचना भेजी जाती है तथा निर्धारित समय में उसकी सुनवाई होती है जिसमें दोनों पक्ष उपस्थित रहते हैं। न्यायालय पूरे विवाद को सुनने के बाद फैसला सुनाता है। इस प्रकार से देखा जाए तो आज के समय में भी वैदिक न्याय विधि का पालन किया जाता है।

दंड के सिद्धांत

आधुनिक विधिशास्त्री दंड के चार सिद्धांत मानते हैं–

प्रतीकारात्मक, निषेधात्मक, अवरोधक और सुधारात्मक

सभी देशों में समाज की अत्यंत प्रारंभिक अवस्था प्रतीकारात्मक दंड की थी, जिसमें आँख के बदले आँख और दाँत के बदले दाँत (फोड़ देने और उखाड़ देने) का सिद्धांत चलता था। वैदिक साहित्य की 'जीवगृभ' जैसी संज्ञाएँ इस बात की द्योतक हैं कि भारतीय इतिहास के अत्यंत प्रारंभिक काल का न्याय कठोर और प्रतीकारात्मक ही था। इस सिद्धांत की मान्यता है कि एक अपराधी को कठोर दंड देने से दूसरे लोग अपराध करने से डरते हैं।

निषेधात्मक सिद्धांत की मान्यता है कि अपराधी को दंड देने से जिसके प्रति अपराध हुआ है उसे उसका 'बदला' मिल जाता है। यह सभी सिद्धांतों में सबसे बुरा सिद्धांत है क्योंकि इसमें समाज का कल्याण या समाज की सुरक्षा की भावना नहीं है।

तीसरी अवस्था में दंड का स्वरूप प्रतीकारात्मक के बदले अवरोधक हो गया। इसका कारण था दोषी मनुष्य के प्रति पीड़ित मनुष्य का निपटान लेने के बजाय दंड धारण करने वाले राज्य का बीच में आ जाना। व्यक्तिगत बदले की भावना को समाप्त कर राजकीय दंड की महिमा को स्थापित करना राज्य का उद्देश्य और उसकी बढ़ती हुई शक्ति का द्योतक हो गया। दीवानी के मामलों में अर्थदंड आदि द्वारा पीड़ित व्यक्ति को कुछ बदला दिलाना यद्यपि वैध माना गया, फौजदारी के मामलों में बदला लेना अब असंभव था। किंतु कठोर – कभी-कभी तो अत्यंत क्रूर और असभ्य दंडों का दिया जाना प्रायः नियम सा था। यदि हम उपनिषदों के दैवदंडों, बौद्धग्रंथों (हिस्ट्री ऑफ कोशल-वि. पाठक, पृष्ठ 338-342) में वर्णित दंडों, अर्थशास्त्र के द्वारा हाथ पाँव काट लिए जाने की अनुशंसाओं तथा मेगेस्थनीज द्वारा की जाने वाली उसकी संपुष्टियों को देखें अथवा पूर्व और पश्चिम दोनों ही ओर प्रचलित मध्यकालीन और कुछ हद तक आधुनिक काल के प्रारंभ तक के दंडों का विवेचन करें तो यह कहना होगा कि वे अत्यंत ही क्रूर और आधुनिक दृष्टि से बर्बर थे। उनका उद्देश्य था औरों में अपराध करने के प्रति भय उत्पन्न करना। इनमें अंग-भंग, जीवित जला दिया जाना, मृत्युदंड, आजीवन कारावास और असह्य यातनाओं से भरे हुए दंड होते हैं। निरोधक दंडों में अपराध के कारण अथवा उसके भविष्य के कर्ता को ही उससे रोक देने का उपाय किया जाता है, जो उसकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता छीनकर संपन्न होता है। भारतवर्ष का निरोधक जेल विधान इसी श्रेणी में है।

चौथा और सर्वोत्तम दंड का प्रकार है सुधारात्मक। सभ्यता के विकास के क्रम में भी यद्यपि सभी देशों में संभावित दोषियों के प्रति दोषों के गंभीर परिणाम और दंडयातनाओं का भय उपस्थित करने के लिए कठोर अवरोधक दंड दिए जाते रहे हैं, पर कभी-कभी सुधारात्मक प्रवृत्तियाँ भी उठती रही हैं। प्राचीन रोम में दोषी की स्वतंत्रता का हरण (जेल में डाल देना) मात्र ही सबसे बड़ा दंड माना गया और उसके बाद कोई यातना आवश्यक नहीं समझी गई। भारतवर्ष में कौटिल्य ने काराग्रस्तों को प्रायश्चित कराने और अपने पापों का बोध कराने की व्यवस्था के द्वारा उन्हें विशुद्ध कराने का उल्लेख किया है। अशोक ने भी अपने चतुर्थ स्तंभलेख में व्यवहारसमता और दंडसमता के साथ शुद्धचरित्र, धर्मरत और सद्व्यवहारी दोषियों के दंडों को कम करने का आदेश दिया है। ये बातें दंड विधान की सुधारात्मक प्रवृत्ति की द्योतक हैं। स्मृतियों में धिग्दंड अथवा वाग्दंड की चर्चाएँ आती हैं, जो सर्वदा कायदंड और वधदंड से पहले आता था। उसका तात्पर्य यह था कि सामाजिक निंदा मात्र से यदि काम चल जाए तो कठोर यातनाओं की आवश्यकताएँ ही क्या? एक नियम तो सर्वमान्य था और वह यह कि दंड 'यथाहै' हो और वह आप्तदोष होने पर ही दिया जाना चाहिए।

20वीं शती में दंडविधान को सुधारात्मक स्वरूप देने के प्रयत्न हो रहे हैं। 1872 ई में लंदन में एक अंतरराष्ट्रीय जेल सुधार और दंडविधान के किसी अंतरराष्ट्रीय स्वरूप को निश्चित करने के लिए सभा

हुई। बाद में तत्संबंधी सामूहिक संघठन भी स्थापित हुए पर उसके सदस्य अधिकांशत: यूरोपीय देश ही रहे। धीरे-धीरे कठोर दंडों के स्थान पर काराग्रस्त दोषी के नैतिक जीवन का पुनरुज्जीवन लक्ष्य माना जाने लगा। उसमें भय की अपेक्षा आशा अधिक रखी जाने लगी है। दंड के सुधारात्मक सिद्धांत में उसका विधान दोषी की अवस्था, सामाजिक वातावरण और स्थितिविशेष के आधार पर किया जाता है। दोषों के लिए समाज और वातावरण को भी उत्तरदायी माना जाता है। अत: दोषी को सुधारने के लिए मनोवैज्ञानिक उपायों का प्रयोग, उसका वैयक्तिक स्तर पर विचार, दोषी बालकों के लिए सुधारभवनों की व्यवस्था, औद्योगिक शिक्षा, साधारण शिक्षा, नैतिक और धार्मिक व्याख्यान और अन्य सुनियोजित व्यवस्थाएँ की जाती हैं। भारतवर्ष में भी कुछ अन्य देशों की तरह काराग्रस्तों को बँधनेवाले बाँधों, सड़कों अथवा अन्य निर्माणों में नौकरी और मजदूरी कराने अथवा औद्योगिक शिक्षाओं के द्वारा समाजोपयोगी और परिवारसेवी बनाने के प्रयत्न प्रारंभ हैं। असंभव नहीं कि कुछ सदियों में व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अपहरण मात्र सबसे बड़ा दंड माना जाए और मानव स्वभाव इतना उदात्त और पवित्र हो जाए कि प्राणाहरण और आजीवन कठोर कारावास जैसे दंडों की आवश्यकता ही न रहे।

निष्कर्ष

वैदिक काल में न्याय की अवधारणा सुधारात्मक सिद्धांतों पर आधारित थी। वैदिक काल से ही समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए स्वतंत्रता पूर्वक रहने की व्यवस्था की गई थी। यही कारण है कि समाज की स्थापना के साथ ही साथ कानूनों और अपराधों का विधान कर दिया गया। इसका मुख्य ध्येय व्यक्ति को समाज में रहने लायक बनाना था। दंड किसी व्यक्ति को नुकसान पहुँचाने के लिए नहीं बल्कि प्रायश्चित के लिए होते थे। वर्तमान समय में भी किशोरों को दंड सुधारात्मक ही होता है। इस प्रकार से देखा जाए तो वर्तमान भारतीय न्याय व्यवस्था और वैदिक न्याय व्यवस्था में बहुत सी समानताएँ पाई जाती है। दंड केवल व्यक्ति की स्वतंत्रता को खत्म करना वैदिक काल में भी था और आज भी है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. नाथ, डॉ. रविंद्र, (1996) 'भारतीय दंड संहिता', विधि साहित्य प्रकाशन, विधायी विभाग, विधि, न्याय और कंपनी कार्य मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली।

2. सुब्बाराव, जी. सी. वेंकट (1997) 'विधि शास्त्र एवं विधि के सिद्धांत', इस्टर्न बुक कंपनी लखनऊ, उत्तर प्रदेश।

3. काणे, पी. वी. (1992) 'धर्मशास्त्र का इतिहास' द्वितीय भाग ,उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ।

4. वेब दुनिया, (2016) 'वैवस्वत मनु के इतिहास की रूपरेखा'।

5. मिश्र, अनिल कुमार, 'कौटिल्य का अर्थशास्त्र' गूगल पुस्तक।

6. देवी बिमला, 'कौटिल्य का अर्थशास्त्र' गूगल पुस्तक।

7. चतुर्वेदी बीके, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, गूगल पुस्तक।

8. शर्मा, श्रीराम (2010) 'न्याय एवं वैशेषिक दर्शन', युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट, मथुरा।

9. शर्मा, डॉ. शिवदत्त (2004) 'विधि शास्त्र', विधि साहित्य प्रकाशन, विधायी विभाग, विधि, न्याय और कंपनी कार्य मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली।

– सहायक आचार्य, बाबू जगजीवन राम विधि संस्थान, बुंदेलखंड विश्वविद्यालय, झाँसी

❑❑❑

वैदिक संस्कृत : वैज्ञानिक एवं राजनैतिक चिंतन

डॉ. दलबीर सिंह चाहल

विश्व के प्राचीनतम साहित्य के रूप में प्रसिद्ध संस्कृत साहित्य को ऋषियों, मनीषियों, कवियों आदि ने अपने वैज्ञानिक चिंतन से अत्यधिक समृद्धि प्रदान की है, जिस कारण भारतीय संस्कृति का समस्त जगत अनुकरण करने की चाह करता है –

सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा.....[1]

इसी संदर्भ में धर्मशास्त्रकार महर्षि मनु ने इस संपूर्ण पृथ्वी के मनुष्यों को भारतवर्ष में उत्पन्न द्विजों से चरित्र निर्माण सीखने की बात की है, जोकि भारतीय ऋषियों के वैज्ञानिक चिंतन की धारणा में पुष्टिदायक है–

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।

स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः।।[2]

अपौरुषेय तथा अप्रमेय 'वेद' को पितर, देव व मनुष्यों का सनातन नेत्र कहा गया है तथा इससे बढ़कर अन्य कोई भी शास्त्र नहीं है –

पितृदेवमनुष्याणां वेदचक्षुः सनातनम्।
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः।।[3]
नास्ति वेदात् परं शास्त्रं .....।।[4]

जिस प्रकार प्रबल अग्नि गीले वृक्षों को जला देती है, उसी प्रकार वेदज्ञाता मनुष्य अपने निषिद्ध कर्मों से उत्पन्न पापों को वेदज्ञान के प्रभाव से नष्ट कर देता है–

यथा जातबलो वह्निर्दहत्यार्द्रानपि द्रुमान्।
तथा दहति वेदज्ञः कर्मजं दोषमात्मनः।।[5]

वेद के वास्तविक अर्थ का ज्ञाता व्यक्ति ब्रह्मभाव के लिए समर्थ होकर ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेता है–

वेदशास्त्रर्थतत्वज्ञो यत्र तत्रश्रमे वसन्।
इहैव लोके तिष्ठन्स ब्रह्मभूयाय कल्पते।।[6]
....ब्रह्मलोकमेवाप्नोति वेदशास्त्रर्थविद् द्विजः।।[7]

ये उपर्युक्त समस्त कथन वेदज्ञान की उपयोगिता, महत्व एवं प्रासंगिकता के परिचायक हैं। वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में अनेक कुरीतियाँ प्रचलित हैं, जिनमें राजनैतिक अव्यवस्था एवं भ्रष्टाचार सर्वप्रमुख हैं। वैदिक ऋषियों का वैज्ञानिक चिंतन इस कुरीति के निवारण में अत्यंत उपयोगी एवं प्रासंगिक है, जिसका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है–

राजनैतिक अव्यवस्था –

वेदों में जिस आदर्श राजनैतिक व्यवस्था की कल्पना की गई थी, वर्तमान समाज में उसका सर्वथा अभाव है। वर्तमान संदर्भ में वेदों का वैज्ञानिक चिंतन अत्यंत प्रासंगिक है।

वेद के कथनानुसार राजतंत्र का प्रमुख आधार राजा अर्थात् शासक होता है। शासन व्यवस्था को सुचारु ढंग से चलाने का प्रमुख दायित्व राजा का होता है। अतः राजा एवं प्रजाजन परस्पर सहायक बनकर आनंदपूर्वक अपनी उन्नति का प्रयत्न करें अर्थात् राजशक्ति एवं प्रजाशक्ति में कदापि वैमनस्य न हो–

क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसि।
म त्वा हिंसीन्मा हिंसी:।।[8]

साथ ही साथ वेद अपने वैज्ञानिक चिंतन का परिचय देते हुए राष्ट्रवासियों के राष्ट्र में सदैव जागृत अर्थात् सचेत रहने की भी बात करता है –

... वयं राष्ट्रे जागृयाम् पुरोहिता: स्वाहा।[9]

ऋग्वेद का कथन है कि जिस प्रकार सूर्य विश्व का मार्गप्रदर्शक है, उसी तरह प्रजाजनों की सुख–समृद्धि को बढ़ाने वाला राजा आलस्य का परित्याग करके उन्नति के कार्यों में दत्तचित्त रहे –

वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्री:।
इतो जातो विश्वमिदं वि चेष्टे वैश्वानरों यतते सूर्येण।।[10]

ऋग्वेद के मतानुसार प्रयत्नशील को उन्नत करने वाली तथा उत्तम गुणों से युक्त राजा की नीति राष्ट्र को धारण करने में समर्थ होती है। यही नीति सज्जनों का संरक्षण करती है तथा दुष्टों को चाबुक के समान दंड देने में भी समर्थ होती है। इसी नीति के परिणामस्वरूप ही प्रजा की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है –

आगधिता परिगधिता या कशीकेव जंगहे।
ददाति मह्यं यादुरी याशूनां भेज्या शता।।[11]

इसीलिए राजा को इस तरह से नीति निर्माण करना चाहिए, जिससे उसका कर्मचारी वर्ग प्रजा का शोषण न करे। यजुर्वेद का कथन है कि जब हरिण खेत में जौ का भक्षण करता है तो क्षेत्रपति का ध्यान पशु की पुष्टि की ओर न जाकर खेत के विनाश की ओर जाता है। उसी प्रकार राजकर्मचारी प्रजा के धन का यदि भक्षण करें तो राजा प्रजा के विनाश को देखकर दुखी होता है एवं उनके संरक्षण के लिए प्रयत्नशील बनता है। यह कथन वेद के राजनैतिक वैज्ञानिक चिंतन का परिचायक है–

यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्टं पशु मन्यते।...[12]

वेद का शासक को निर्देश है कि कृषि योग्य भूमि का कर प्रदान करने वाली भाग्यवान् प्रजाओं से युक्त शासक अपने राज्य में सुप्रबंध की व्यवस्था करे। ऐसा करने पर ही ऐश्वर्यशाली प्रजाजन उस शासक की आज्ञा को अच्छी प्रकार धारण करते हैं –

यकासकौ शकुन्तिकाऽऽहलगिति वंचति।
आहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारका।।[13]

आधुनिक राज–व्यवस्था में मंत्री आदि के लिए कोई विशेष योग्यता अपेक्षित नहीं है। अनेक प्रकार के घोटाले करने वाले मंत्री भी अपने पदों पर विराजमान रहते हैं। परंतु वेद अपने वैज्ञानिक चिंतन का परिचय देते हुए मंत्री के पद पर ज्ञानैश्वर्यवान् पुरुष को ही नियुक्त करने की बात करता है –

... रासभस्य धुरि वाजी उप अस्थात्।।[14]

एक सफल राजनैतिक व्यवस्था में न्यायपालिका की निष्पक्ष भूमिका अत्यंत अपेक्षित होती है। वेद न्यायाधीश की निष्पक्षता को द्योतित करते हैं। वेद का मानना है कि जब प्रजा को उत्तम वाणी वाले न्यायाधीश की प्राप्ति होती है, तब उन्हें आँखों से देखे गए प्रत्यक्ष से उत्पन्न सत्यज्ञान का बोध होता है–

यद्देवासो ललामगुं प्र विष्टीमिनमाविषु:।
सक्थ्ना देदिश्यते नारी सत्यस्याक्षिभुवो यथा।।[15]

यजुर्वेद द्वारा 'अनभृष्टमसि'[16] कथन के माध्यम से सभी को भ्रष्टाचार से रहित आचरण के लिए प्रेरित करना अत्यंत वैज्ञानिक तथा वर्तमान भ्रष्ट राजनैतिक व्यवस्था के संदर्भ में अत्यंत उपयोगी एवं सार्थक भी है।

आधुनिक राजनैतिक जीवन में हिंसा की प्रवृत्ति विकराल रूप धारण कर चुकी है। वेद वैज्ञानिक चिंतन को प्रस्तुत करते हुए लोक जीवन में शांति–व्यवस्था के लिए गुरुजनों, बालकों, तरुण पुरुषों, गर्भस्थ शिशुओं, माता–पिता, पुत्र–पौत्रादिकों, पशुओं, शूरवीरों आदि की हिंसा–निषेध की बात करते हैं, जो वर्तमान संदर्भ में अत्यंत प्रासंगिक है –

मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा न उक्षन्तमुत मा न उक्षितम्।
मा नो वधी: पितरं मोत मातरं मा न: प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिष:।।
मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिष:।
मा नो वीरान् रुद्र भामिनो वधीर्हविष्मन्त: सदमित् त्वा हवामहे ।।[17]

वेद के कथनानुसार तो युद्ध से किसी का भला नहीं होता –

यत्र नरः समयन्ते कृतध्वजो यास्मिन्नाजा भवति किं च न प्रियम्।।[18]

यह वैदिक वैज्ञानिक चिंतन ही है कि यजुर्वेद आदर्श लोकजीवन हेतु कामना करता है कि पुत्रादिकों तथा पशुओं को न तो किसी प्रकार का भय हो तथा न ही ये किसी रोग से पीड़ित हों। इन सभी को सुख-समृद्धि की प्राप्ति हो व हमारे निवास-स्थल उपद्रव रहित हों-

द्रापे अन्धसस्पते दरिद्र नीललोहित।
आसां प्रजानामेषां पशूणां मा भेर्मा रोङ्मो च नः किंचनाममत्।
इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय प्र भरामहे मतीः।
यथा शमसद् द्विपदे चतुष्पदे विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिंन्ननातुरम्।।[19]

वैदिक वैज्ञानिक चिंतन को स्पष्ट करते हुए ऋग्वेद का निर्देश है कि हिंसा का प्रयोग केवल दुष्टों के नाश हेतु ही करना चाहिए। त्वष्टा द्वारा प्रदत्त वज्र को इंद्र युद्ध में जलों को मुक्त करवाने के लिए ही धारण करता है -

त्वष्टा यद्वज्रं सुकृतं हिरण्ययं सहस्रभृष्टिं स्वपा अवर्तयत्।
धत्ता इन्द्रो नर्यपांसि कर्तवेऽहन्वृत्रं
निरपामौब्जदर्णवम्।।[20]

वेद भय एवं आतंक से रहित राष्ट्र की कामना करते हुए उद्घोष करता है -

गृहा मा बिभीष, मा वेपध्वम्।।[21]
अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरो यः।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवंतु।।[22]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि वर्तमान विकृत एवं दूषित राजनैतिक व्यवस्था के संदर्भ में वेदों का वैज्ञानिक चिंतन अत्यंत उपयोगी, सार्थक एवं प्रासंगिक है।

संदर्भ सूची

1. यजुर्वेद, 7/14
2. मनुस्मृति, 2/20
3. मनुस्मृति, 12/94
4. अत्रि संहिता, 150
5. मनुस्मृति, 12/101
6. मनुस्मृति, 12/102
7. संवर्त्तस्मृति, 111
8. यजुर्वेद, 20/1
9. यजुर्वेद, 9/23
10. ऋग्वेद, 1/98/1
11. ऋग्वेद, 1/126/6
12. यजुर्वेद, 23/30
13. यजुर्वेद, 23/22
14. यजुर्वेद, 25/44
15. यजुर्वेद, 23/29
16. यजुर्वेद, 10/6
17. यजुर्वेद, 16/15-16
18. ऋग्वेद, 7/83/2
19. यजुर्वेद, 16/47-48
20. ऋग्वेद, 1/85/9
21. यजुर्वेद, 3/41
22. अथर्ववेद, 19/16/6

– विभागाध्यक्ष संस्कृत विभाग, गुरु नानकदेव विश्वविद्यालय, अमृतसर, पंजाब-143005

❑❑❑

वैदिक साहित्य : भारतीय जिजीविषा का आईना

डॉ. राजहंस कुमार

किसी भी देश का साहित्य उसकी संवेदनात्मक स्मृतियों का संकलन होता है। इन संवेदनात्मक स्मृतियों की क्रमवार एवं वैज्ञानिक अभिव्यक्ति ही उस देश के साहित्य का इतिहास है। किंतु संवेदनात्मक स्मृतियों का भूगोल एवं समय का दायरा जब अत्यंत जटिल एवं विस्तृत हो तो स्मृतियों में विविधता दिखाई देती है। जटिलताओं एवं विविधताओं से भरी स्मृतियों के अंत:सूत्रों को ढूँढना एवं उन्हें एक सूत्र में पिरोना साहित्य के इतिहास लेखन की मूल चुनौती होती है। भाषिक एवं जातीय विविधताओं से भरे भारतवर्ष की सामूहिक चेतना को या फिर सामूहिक चित्तवृत्ति को रेखांकित कर पाना किसी भी साहित्य इतिहास लेखक के लिए कठिन होता है। भारतीय साहित्य का जिक्र आते ही इतिहासकारों के समक्ष जो सबसे बड़ा प्रश्न उभरता है वह है– भारतीय साहित्य की पहचान। यानी भारतीय साहित्य की पहचान क्या हो 1500 ईसा पूर्व से अब तक लगभग पैंतीस सौ वर्षों में व्याप्त किस काल खंड के साहित्य को भारतीय साहित्य माना जाए। लगातार पदाक्रांत इस देश की किस जातीय अस्मिता एवं भूखंड की चित्तवृत्ति को भारतीय साहित्य कहा जाए। आर्यों द्वारा नि:सृत वैदिक साहित्य भारतीय साहित्य है या फिर उनसे पहले जमे द्रविड़ों का तमिल साहित्य भारतीय साहित्य की थाती है। संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश, हिंदी भाषा में रचे गए जातीय साहित्य की संवेदना भारतीय चित्तवृत्ति की परिचायक है या फिर नयनारों–आलवारों की कविताई इसका प्रतिनिधित्व करती है। यूनान, हूण, कुषान के आगमन से उपजी मिश्रित संस्कृति एवं मनोवृत्ति से उपजने वाला साहित्य भारतीयता का परिचायक है या फिर नयनारों –आलवारों द्वारा लिखा 'दिव्यप्रबंधम' इसका नेतृत्व करता है। तुर्कों, मुगलों के आगमन के बाद विविध भारतीय भाषाओं (तमिल, तेलुगु, कन्नड, मलयालम गुजराती, मराठी, बिहारी, बांग्ला आदि) में आई भक्ति एवं सूफी साहित्य की पहचान भारतीय साहित्य के रूप में हो या पश्चिमी घुसपैठ से उपजी आधुनिकता एवं आधुनिक साहित्य को इसकी भारतीय साहित्य की पहचान मान लिया जाए। भारतीय साहित्य एवं भाषा के शोधार्थियों में इन प्रश्नों को लेकर काफी मत भिन्नता दिखाई देती है। पर, एक बात पर सभी में अद्भुत सहमति है कि भारतीय साहित्य का प्रस्थान बिंदु वैदिक साहित्य ही है। महत्वपूर्ण बात यह है कि पूरे भारतीय साहित्य की गंगोत्री वैदिक साहित्य ही है ऐसा मानने में वैश्विक शोध स्तर पर भी किसी को गुरेज नहीं दिखाई देता। विचारणीय यह है कि आखिर क्या है इस प्राचीन वैदिक वाङ्मय में जिसने अब तक के अखिल भारतीय साहित्य में अपनी गरिमामय उपस्थिति बना रखी है। वे कौन से कारक हैं जिन्होंने वैदिक साहित्य की प्रासंगिकता को अब तक बना रखा है। निश्चित रूप से इसकी प्राचीनता, अभिव्यक्ति की विविधता एवं इसकी भाषा तो मायने रखती ही है पर मूल कारक है इसमें मौजूद अनुभव, जिजीविषा व ज्ञान विज्ञान का भंडार। लगभग पैंतीस सौ से चार हज़ार वर्ष पूर्व आर्यों द्वारा संकलित यह साहित्य भारतीय सभ्यता और संस्कृति के उन तमाम ज्ञान विज्ञान को अपने में संजोए है जिसका एक सिरा वर्तमान भौतिकी के 'देव–कण' (गॉड–पार्टिकल) से जुड़ा है तो दूसरा मंत्र एवं यज्ञों से।

दरअसल 'वेद' शब्द की उत्पत्ति ही 'विद्' से हुई है जिसका अर्थ जानना या ज्ञान है। घञ् प्रत्यय के साथ मिलकर विद् 'जानने का भाव' अर्थ देता है यानी ज्ञान समूह। वेद भाष्यकारों ने वेद की व्याख्या अनेक रूपों में की है। कहा गया है 'वेदयति इति वेद:'।

वेद के प्रमुख भाष्यकार सायणाचार्य ने इसके लिए तैतरीय संहिता के भाष्य की भूमिका में विश्लेषित किया है कि

'इष्ट प्राप्त्यनिष्ट परिहार योरलौकिकमुपायम यो ग्रंथो वेदयति स वेद:'

(तैतरीय संहिता का भाष्य -सायणाचार्य)

यानी ऐसा ग्रंथ जो मनुष्य द्वारा इच्छित प्राप्ति एवं अनिष्ट से बचने के उपाय बताता है वही ग्रंथ वेद है। सामान्य रूप में भी यदि देखा जाए तो हम कह सकते हैं कि जो हमें वेदयति यानी ज्ञान प्राप्ति कराए वह वेद है।

वेद चार हैं ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद। सामान्यत: ऋग्वेद का रचना काल 1500 ई. पू. से 1000 ई. पू. एवं बाकी तीन वेदों का रचना काल 1000 ई. पू. से 600 ई.पू. माना गया है। वास्तव में वेदों की रचना जीवन पद्धति से नि:सृत 'ज्ञान उत्पादन' की एक लंबी प्रक्रिया का निष्कर्ष है। इसलिए हमारा वैदिक साहित्य चार वेदों तक ही नहीं माना जाता। प्रत्येक वेद विवेचन-विश्लेषण की प्रक्रिया में अब तक रचा जा रहा है। इसलिए प्रत्येक वेद के 'ब्राह्मण', 'अरण्यक', 'उपनिषद' व 'वेदांगों' को मिलाकर ही वैदिक साहित्य पूर्णता प्राप्त करता है। अत: वैदिक साहित्य चार वेदों के साथ-साथ उनके ब्राह्मण, अरण्यक, उपनिषद एवं वेदांग के बगैर परिभाषित नहीं हो सकता। ये सभी साहित्य भी वेदों द्वारा उत्पादित ज्ञान का ही एक अभिन्न अंग हैं। दरअसल ये वेदों का विश्लेषण एवं परिवर्धन करने का काम करते हैं। सरल व संक्षिप्त रूप में इन्हें निम्नांकित वर्गीकरण के माध्यम से समझा जा सकता है-

● ऋग्वेद संहिता - वैदिक साहित्य की मूल रचना ऋग्वेद है। पद्यों में बंधा शब्द 'ऋक्' कहलाता है। यानी ऋग्वेद पद्य में है यह 10,552 मंत्रों का संकलित ग्रंथ है। वर्ण्य विषय-देवताओं, ऋषियों के आधार पर यह दस मंडलों में विभक्त किया जाता है। इन मंत्रों को पाठ करने वाला ऋषि 'होता' कहलाता था। तैंतीस देवों की मंत्र-स्तुति एवं आर्यों की अदम्य जिजीविषा से भरा यह काव्य संपूर्ण मानवता की अमर कृति है।

● यजुर्वेद संहिता - यजुर्वेद की मूल धातु 'यजुस्' है। ऐसे शब्द जिनमें अक्षरों की संख्या बराबर व निश्चित नहीं होती उसे यजुस् कहते हैं यानि यजुर्वेद पद्य में न होकर गद्य में है। विविध यज्ञों कर्मकांडों से संबंधित यह संहिता दो धाराओं में मौजूद है -कृष्ण यजुर्वेद एवं शुक्ल यजुर्वेद। इसका उच्चारण व पाठ करने वाला ऋषि 'अधर्वयु' कहलाता था।

● सामवेद संहिता - ऋक् से संबंधित स्वर प्रधान गायन को साम् कहा गया है। इस वेद के सभी 1875 मंत्र अपनी गेयता के कारण सामवेद के नाम से जाने जाते हैं। वस्तुत: इनमें से 99 मंत्रों को छोड़ सभी ऋग्वेद के ही मंत्र हैं। संगीत संबंधित ज्ञान के आदि ग्रंथ साम का गायक ऋषि 'उद्गाता' के नाम से जाना जाता है।

● अथर्ववेद - यह सबसे बाद में आया वेद है। 'अथर्व' शब्द का प्रयोग कई अर्थों में बताया गया है किंतु 'अथर्वन' तथा 'अंगीरस' ऋषि के द्वारा अनेक मंत्रों की रचना के कारण इस वेद का नाम 'अथर्ववेद' अथवा 'अथर्वांगिरस' पड़ गया। यह वेद गद्य-पद्य दोनों रूपों में है। सामान्य जनता के विषय, अंधविश्वास, घरेलू कर्मकांड एवं दर्शन की शुरुआत करने वाले इस अदभुत वेद की नौ शाखाओं का जिक्र योगाचार्य पतंजलि ने किया है। पर इसकी दो शाखाएँ ही प्राप्य हैं- 'शौनक' और 'पिप्लादी'।

चारों वेदों के मंत्रों की तथा वेदों में मौजूद कर्मकांड का विवरण विवेचन करने की प्रक्रिया में ब्राह्मण ग्रंथों की रचना हुई थी। अत: सभी वेदों के लिए अलग-अलग ब्राह्मण हैं। उपलब्ध ब्राहमणों की संख्या 14 है।

1. ऋग्वेद; उपलब्ध ब्राह्मण दो - ऐतरेय ब्राह्मण एवम कौस्तिकी
2. यजुर्वेद; उपलब्ध ब्राह्मण दो - कृष्ण यजुर्वेद का तैत्तरीय ब्राह्मण
-शुक्ल यजुर्वेद का शतपथ ब्राह्मण
3. सामवेद; उपलब्ध ब्राह्मण नौ - पंचविश ब्राह्मण षड्विंश ब्राह्मण, सामविधान ब्राह्मण, आर्षेय ब्राह्मण दैवत ब्राह्मण, छांदोग्य ब्राह्मण, संहितोपनिषद ब्राह्मण वंश ब्राह्मण, जैमीनिय ब्राह्मण

4. अथर्ववेद; उपलब्ध ब्राह्मण एक - गोपथ ब्राह्मण

ब्राह्मण ग्रंथों के विस्तार के रूप में अरण्यक ग्रंथों व उपनिषदों को देखा जाना चाहिए।

अथर्ववेद को छोड़कर सभी वेदों से संबंधित अरण्यक उपलब्ध हैं। अरण्य का अर्थ जंगल होता है। ऋषियों द्वारा जंगल में बैठ वानप्रस्थ से संबंधित यज्ञ, महाव्रत, हौत्र आदि कर्मों के आध्यात्मिक रहस्यों का वर्णन किया जाता था। यही चर्चा अरण्यक का मुख्य विषय है। एकतरह से यह उपनिषदों की पूर्व पीठिका है।

सभी वेदों से संबंधित उपनिषदों की मूल संख्या 108 है। गुरु के निकट विनयशील हो तत्व ज्ञान की प्राप्ति करना उपनिषद का शाब्दिक अर्थ है। दरअसल उपनिषद; भारतीय दर्शन एवं ब्रह्म ज्ञान का मूल प्रस्थान बिंदु कहा जा सकता है। यही वह ज्ञान है जिसको उपजीव्य बनाकर आगे की भारतीय दर्शन शाखाएँ वैश्विक महत्व पाती हैं। शंकराचार्य द्वारा व्याख्यायित विश्लेषित ग्यारह उपनिषदों को भारतीय ज्ञान परंपरा में सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। ये हैं - ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुंडक, मांडूक्य, तैत्तिरीय, ऐत्रेय, छांदोग्य, वृहदारण्यक और श्वेताश्वतर उपनिषद।

वेदों को सांगोपांग रूप में समझने के लिए जिन शास्त्रों की या यूँ कहें कि जिन उपकरणों की निर्मिति हुई उसे वेदांग के नाम से जाना जाता है। वेदांग की संख्या 6 है -

1. शिक्षा - वेद मंत्रों के पाठ में उच्चारण अत्यंत महत्वपूर्ण पक्ष था। वेदों में स्वरों एवं वर्ण के उच्चारण को पढ़ने की तकनीक का संबंध शिक्षा वेदांग से था। प्रत्येक वेद से संबंधित अलग-अलग शिक्षा उपलब्ध है।

2. व्याकरण - वेदों के शब्दों एवं प्रकृति-प्रत्यय को व्याख्यायित करने वाला शास्त्र व्याकरण था। सभी वेदों के शब्दों को व्याख्यायित करने एवं संबंधित वेदों के विश्लेषण हेतु अलग-अलग व्याकरण थे। यद्यपि व्याकरण का मुकम्मल रूप पाणिनि के अष्टाध्यायी व्याकरण से प्रारंभ होता है पर उसके स्रोत भी शायद यही प्रातिशाख्य रहे हों।

3. छंद - इसका संबंध गेयता एवं वर्णों के संतुलन से है। प्रत्येक वेद की गेयता को समझने समझाने के लिए छंद शास्त्र गढ़े गए। सामवेद का 'निदान-सूत्र' या फिर 'पिंगल रचित 'छंद-सूत्र' इसके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं।

4. ज्योतिष - यज्ञों एवं अनुष्ठानों के शुभ मुहूर्तों के निर्धारण के लिए इस वेदांग का जन्म हुआ था। पर धीरे-धीरे इस वेदांग ने पूर्ण शास्त्र का रूप धारण कर लिया। 'वेदांग ज्योतिष' इसका स्रोत ग्रंथ है।

5. कल्प - कल्प का अर्थ विधि, नियम, न्याय से संबंधित है। वैदिक यज्ञों अनुष्ठानों की विधियों एवं प्रक्रियाओं की नियमावली कल्प का विषय है। हिंदू धर्म से संबंधित सारे कर्म, संस्कार का मूल स्रोत यही वेदांग हैं। कल्प चार हैं जिन्हें सूत्र नाम से भी जाना जाता है-

1. श्रौत सूत्र - मूलतः ब्राह्मण ग्रंथों में उपलब्ध यज्ञों अनुष्ठानों की विधि का विस्तृत वर्णन इसका विषय है।

2. गृह्य सूत्र - उपनयन, विवाह, मुंडन, श्राद्ध जैसे गृहस्थी से संबंधित दैनिक यज्ञों की लंबी सूची एवं उनके करने की प्रक्रिया का विशद वर्णन इस सूत्र की पहचान है।

3. धर्म सूत्र - चार वर्णों, चार आश्रमों का कर्तव्य निर्धारण, समाज के लिए विधि शास्त्रों का निर्माण एवं सामाजिक सांस्कृतिक मूल्यों का सम्यक् निरूपण इस सूत्र का केंद्रीय कथ्य है।

4. शुल्व सूत्र - इसमें विविध यज्ञों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की वेदिका निर्माण की तकनीकों का वर्णन है।

5. निरुक्त - इस शास्त्र या वेदांग का संबंध शब्दों के मूल धातु के माध्यम से अर्थों तक पहुँचने की प्रक्रिया से है। दरअसल वेदों को व्याख्यायित करने हेतु इसमें प्रयुक्त शब्दों का निर्वचन एवं निर्वचन के माध्यम से उससे जुड़े वैदिक आख्यानों तक पहुँचना इस शास्त्र की खासियत है। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर इस किस्म के निर्वचन के उदाहरण दिखाई देते हैं। इससे संबंधित सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रंथ लगभग 700 ई.पू. 'यास्क का निरुक्त' है।

ऊपर उल्लिखित वैदिक साहित्य में हम जीवन और विचार दोनों धाराओं को सतत प्रवाहित पाते हैं। आरंभिक साहित्य धारा में बाह्य दुनिया, प्रकृति, जीवन-राग, आनंद, सौंदर्य, मादकता, जीवन-संघर्ष युद्ध इत्यादि दिखाई देते हैं। जबकि बाद का साहित्य एवं

विचार मनुष्य की आतंरिक दुनिया से जुड़ा है। यहाँ लोक-परलोक प्रकृति के रहस्य, ब्रह्म, आत्मा, सत्य जैसी बौद्धिकता जड़ जमाए दिखती है। इसलिए वैदिक साहित्य में मौजूद ज्ञान-विज्ञान सिद्धांत और व्यवहार दोनों से अनुप्राणित हैं। और इनका महत्व इसलिए है कि ये सार्वभौमिक और सार्वकालिक हैं।

भारतीय चिंतन परंपरा का उत्कर्ष ब्रह्मज्ञान से संबंधित है संपूर्ण वैदिक साहित्य में ब्रह्मज्ञान को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। अध्यात्मवादियों के लिए अब भी ब्रह्मज्ञान सर्वश्रेष्ठ प्राप्त करने योग्य ज्ञान है। पूरे जीवन को समझने व जीवन से परे रहस्यों को समझने की कुंजी यही ब्रह्मज्ञान है। वेदों में बताया गया है कि इस ज्ञान का आदि स्रोत क्या है एवं इसका प्रसारण कैसे हुआ। अथर्ववेद के मुंडकोपनिषद् में इस ब्रह्मज्ञान के स्रोत की परंपरा बताई गई है- "विश्व के कर्ता और पालक ब्रह्मा देवों में प्रथम ब्रह्मज्ञानी हुए थे। उन्होंने सभी विद्याओं का आधार - 'ब्रह्मविद्या' अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को बताई, अथर्वा ने अंगीर को वह विद्या सिखाई 'अंगीर' ने वह विद्या भारद्वाज को दी और भारद्वाज ने अंगीरस व अंगीरा को सिखाई। अंगीरा से यह विद्या शौनक ऋषि को मिली।"

(मुंडकोपनिषद)

इस विद्या को अंगीरा ने दो भागों में विभाजित किया है - परा विद्या और अपरा विद्या। चारों वेद और वेदांग अपरा विद्या हैं जबकि परा विद्या का संबंध उस विद्या या ज्ञान से है जिसके द्वारा 'क्षय शून्य' ब्रह्म माना जाता है। आगे ब्रह्म की पहचान की चर्चा भी की गई है। ब्रह्म के बारे में कहा गया है कि "जो सर्वज्ञ और सर्वविदित है और जिसका तप ज्ञानमय है उसी परम ब्रह्म से आत्मा, अन्न, नाम व रूप उत्पन्न हुए हैं।"

जिस प्रकार अग्नि से विस्फुलिंग चारों ओर निकलते हैं। वैसे ही अक्षर ब्रह्म से ही विविध जीव उत्पन्न होते हैं और उसी में पुनः विलीन हो जाते हैं।

उपर्युक्त विचार स्पष्ट करते हैं कि भारतीय चिंतन और ज्ञान उत्पादन परंपरा का पहला और केंद्रीय बौद्धिक उद्गार वैदिक साहित्य में ही इस ब्रह्मज्ञान के रूप में उपलब्ध है।

किंतु वैदिक साहित्य में उपलब्ध जीवन पद्धति निवृति से ज्यादा प्रवृतिपरक थी। इसलिए इस साहित्य में प्रसंगवश अनुभव निःसृत व्यावहारिक ज्ञान-विज्ञान का अक्षय भंडार दिखाई देता है। भूगोल, ज्योतिष, खगोल, गणित, ज्यामिति, या फिर राजनीतिशास्त्र, व्याकरण व काव्यशास्त्र हो, किसी भी ज्ञान से वैदिक समाज अछूता दिखाई नहीं देता। इन विषयों से संबंधित जीवन-प्रसंग व स्तुतियाँ वैदिक साहित्य में भरी पड़ी हैं।

विविध प्रसंगों में वेदों में चर्चित नदियाँ, समुद्र, पहाड़, इंगित करते हैं कि आर्यों का भौगोलिक बोध व विचरण कितना विकसित था। ऋग्वेद में दो बार चार समुद्रों की चर्चा है। भूगर्भशास्त्रियों एवं शोधार्थियों ने जिन्हें ब्लैक सी, कैस्पियन सी, सी ऑफ अराल एवं कैरेबियन सी के रूप में देखा है। आर्य इन चार समुद्रों में व्यापार किया करते थे। व उन्हें समुद्रों से निकलने वाली वस्तुओं- मुक्ता, शंख आदि का भी ज्ञान था। अश्विनी कुमारों की विशाल नौकाओं का विज्ञान भी शायद इन्ही समुद्र यात्राओं से जुड़ा था। भारतीय उपमहाद्वीप की नदियों से संबंधित ज्ञान के लिए ऋग्वेद का दसवाँ मंडल देखा जा सकता है। इसके पचहत्तरवें सूक्त का नाम ही 'नदी सूक्त' है। इसमें सिंधु के पूर्व व पश्चिमी तट की सभी नदियों के नाम मिलते हैं। दरअसल वैदिक समाज के लोगों का नदियों से अत्यंत लगाव दिखाई देता है। इनका हिंदुस्तान में प्रथम वास-स्थान भी सप्त सैंधव प्रदेश के रूप में जाना जाता है। 'नदी सूक्त' से ना सिर्फ गंगा, यमुना, झेलम, चेनाब, व्यास के साथ सरयू सरस्वती आदि नदियों की जानकारी मिलती है बल्कि वर्तमान एशिया में बहने वाली क्रूभु, कुर्रम जैसी अनेक नदियों के इतिहासपरक शोध को भी बल मिलता है।

ऋग्वेद में पर्वतों के नाम नदियों की तुलना में कम दिखाई देते हैं। लेकिन पर्वतो से नदियाँ निकली हैं ऐसा उल्लेख मिलता है। 'हिमवंत' और 'मुजवंत' पर्वतों की चर्चा ज्यादा दिखाई देती है। हिमवंत हिमालय के लिए आया है। मुजवंत को कहीं-कहीं कैलाश पर्वत के रूप में पहचान मिली है। मुजवंत भारत की उत्तरी सीमा को चिह्नित करता था। त्रिकूट, सुदर्श, क्रौंच, मैनाक पर्वतों की चर्चा भी वैदिक साहित्य में दिखाई देती है। नदी, पर्वत, समुद्र के अतिरिक्त कई संदर्भों में काशी, मत्स्य, भट्ट, मगध जैसे स्थानों की चर्चा भी दिखाई देती है। स्थानों के माध्यम से वहाँ की जीवन पद्धति की जानकारी काफी रोचक है। वनों एवं जंगलों में रहने

वाले पशु-पक्षियों का विस्तृत एवं मार्मिक वर्णन प्राचीन जैव विविधता एवं जीव विज्ञान से परिचय करवाता है। ऋग्वेद के दसवें मंडल का 146वाँ सूक्त 'अरण्यानी सूक्त' के नाम से पूर्णतः इसे ही समर्पित है। गौ, भेड़, बकरा, अश्व, मेष, महिष, ऊँट, मृग, वराह, उलूक, कौआ, बाज जैसे पशु-पक्षियों के हृदय-ग्राही वर्णन वैदिक साहित्य की खासियत हैं। कैसे मातंग ऋषि ने हाथी को पालतू बनाने का काम किया था या बकरों एवं कुत्तों का बोझ ढोना उनकी जैविक उत्कृष्टता का परिचायक है।

अश्वत्थ, शमी, पलाश, शाल्मली जैसे वृक्षों की चर्चा, सोमलता से लेकर छोटी-छोटी जीवन रक्षक वनस्पतियों देवता अश्विनी कुमारों के कथा प्रसंगों में भरी पड़ी हैं। ये प्रसंग वैदिक समाज के आयुर्वैदिक ज्ञान के प्रमाण हैं। अथर्ववेद में शरीर के अंगों, रोगों के नाम, औषधि और वनस्पतियों से चिकित्सा से उसका निदान आधुनिक मेडिकल साइंस का प्रस्थान बिंदु दिखाई देता है।

नदी, समुद्र, पहाड़, जंगल जैसे भौगोलिक प्रदेशों से परिचित वैदिक समाज ना सिर्फ कृषि विज्ञान में ही दक्ष था बल्कि अपनी जरूरतों के लिए धातु विज्ञान की भी जानकारी रखता था। सोना, तांबा, लोहा जैसी धातुओं का प्रयोक्ता खेती की निराई, बुआई, कटाई, जैसी विविध स्तरीय कृषक पद्धति का भी ज्ञाता था।

भूगोल के साथ-साथ खगोल विज्ञान का ज्ञान भी वैदिक साहित्य में प्रसंगवश आया है। सूर्य की आराधना एवं महात्मय के प्रसंग तथा देवताओं का वर्गीकरण तत्कालीन अंतरिक्ष विज्ञान की जानकारी देता है। देवताओं के निवास के संदर्भ में वैदिक साहित्य में पूरे संसार को तीन भागों में विभक्त किया गया है- भू (पृथ्वी), भुव(अंतरिक्ष), स्व(द्यू लोक या स्वर्ग लोक)। पृथ्वी-स्थानीय देवता अग्नि, अंतरिक्ष-स्थानीय इंद्र-वायु इत्यादि जबकि द्यूलोक के देवता सूर्य हैं। सूर्य की स्थिति से दिन-रात का निर्माण होता है। सूर्य के कारण चंद्रमा प्रकाशित है। राशियों का विश्लेषण व उससे पड़ने वाले प्रभाव, सूर्य किरणों से प्राणियों को प्राप्त होती जीवन-ऊर्जा (फोटोन) इत्यादि-इत्यादि जैसी जानकारियाँ ऋग्वेद के प्रथम मंडल के पैंतीसवें सूक्त में संकलित है। पृथ्वी की आठ दिशाओं-चार दिशा एवं उनके चार कोणों का ज्ञान भी इन्हीं सूक्तों से प्राप्त होता है। सूर्य- वर्ष, मास और दिन का निर्माण करता है। सूर्यग्रहण व बारह अमावस्या (महीने) की गणना, ऋग्वेद में इन सभी विषयों पर भी चर्चा मौजूद है। इन विषयों का महत्व व गंभीरता इससे भी समझे जा सकते हैं कि वैदिक साहित्य में ज्योतिष शास्त्र को अलग से एक वेदांग का स्थान दिया गया है। सूर्य के उत्तरायण एवं दक्षिणायन गति एवं नक्षत्रों की स्थिति का अध्ययन कर यज्ञों का शुभ मूहूर्त निकालने की विधा में आर्य दक्ष थे। इस ज्योतिष विद्या के साथ-साथ अंक-गणित, बीज-गणित, रेखा-गणित व ज्यामिति शास्त्र की जानकारी भी वैदिक समाज की पूंजी थी। शुल्व सूत्र में विभिन्न यज्ञों के लिए भिन्न वेदिका निर्माण की प्रक्रिया में ज्यामिति शास्त्र की गणना का विकास होता दिखाई देता है। विविध यज्ञों में प्रयुक्त अलग-अलग वेदिकाओं की लंबाई-चौड़ाई व तिरछेपन की गणना, ईंटों की गणना विभिन्न ज्यामितीय सिद्धांतों के प्रायोगिक जन्मदाता लगते हैं। विभिन्न विवरणों से पता चलता है कि आर्यों को एक से लेकर नौ तक की गणना का ही ज्ञान नहीं था बल्कि संख्या में शून्य का उपयोग भी वे करते थे।

साहित्य, भूगोल, खगोल, ज्योतिष, गणित, ब्रह्मज्ञान इत्यादि से संपन्न वैदिक समाज अपनी सामाजिक संरचना व राजनैतिक चेतना में भी अत्यंत उन्नत दिखाई देता है। सामाजिक राजनैतिक संगठन प्रायः पाँच स्तरों पर विभाजित दिखते हैं - कुल, ग्राम, विश, जन, राष्ट्र।

विश जनता के लिए भी प्रयुक्त शब्द है, कुल आधारभूत सामाजिक इकाई परिवार के रूप में दिखाई देता है। पर सबसे प्रभावी -राज्य की संकल्पना दिखाई देती है। यह संकल्पना कई बार अत्यंत मजबूत, रोमांटिक और आधुनिक दिखाई देती है। ऋग्वेद में स्तुतिपरक इच्छा है कि वरुण राष्ट्र को अविचल करें, बृहस्पति राष्ट्र को स्थिर करें, इंद्र राष्ट्र को सुदृढ़ करें और अग्नि देव राष्ट्र को निश्चल रूप से धारण करें।

ध्रुवं ते राजा वरुणो, ध्रुवं देवो बृहस्पतिः।
ध्रुवं ते इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्र्म, धारयताम् ध्रुवं।।
(ऋग्वेद, दसवाँ मंडल 173वाँ सूक्त, 5 श्लोक)

इसी प्रकार अथर्ववेद में राजा से राष्ट्र की रक्षा इंद्र के समान करने की अपेक्षा की गई है। इन्ही प्रसंगों में ज्ञात होता है कि राजा अधिकांशतः प्रजा के चुनाव से

बनता था। वह राष्ट्र के लिए होने वाले युद्धों को समर्पित होता था न कि व्यक्तिगत लाभ-लोभ के लिए। युद्ध वैदिक समाज के लिए रोजमर्रा की चीज थी इसलिए युद्ध-कला एवं शस्त्रों की खास कर धनुर्विद्या की तकनीकों की खूब चर्चा मिलती है। ऐतरेय ब्राह्मण के आठवें अध्याय में आठ प्रकार के राज्यों का उल्लेख भी दिखाई देता है।

साम्राज्य, भौज्य, स्वराज्य, वैराज्य इत्यादि-इत्यादि। जिस जनता को सामान्यतः राजा को चुनने का अधिकार था उनका प्रतिनिधित्व 'सभा', 'समिति' नामक दो संस्थाएँ करती थीं। राज्य संचालन में इन सभा व समितियों के अधिकार व सहयोग को देखकर समझा जा सकता है कि राजतंत्र होते हुए भी वैदिक समाज आधुनिक सिविल सोसाइटी, प्रजातांत्रिक मूल्यों व न्याय के शासन से अनभिज्ञ नहीं था। इन तमाम उल्लेखों से स्पष्ट है कि वैदिक साहित्य एक ऐसे आईने की तरह है जिसमें भारत के प्रारंभिक लोगों की अछूती कल्पना, प्रकृति के रहस्य, उनको भेदने की जिजीविषा, आनंदमय जीवन व साहस की कायमय छवियाँ दिखाई देती हैं। यहाँ ना सिर्फ भाषा-साहित्य-संस्कृति, कला-ज्ञान-विज्ञान आदि का प्रस्फुटन दिखाई देता है बल्कि मानव-सभ्यता के विकास की कहानी भी यहीं से प्रारंभ होती दिखाई देती है।

– असिस्टेंट प्रोफेसर (हिंदी) महाराजा अग्रसेन महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

❑❑❑

योगदर्शन और वेद : एक समग्र विवेचना

अखिलेश आर्येंदु

वेद समस्त ज्ञान के स्रोत हैं- "सर्वज्ञानमयो हि सः।" लेकिन यह जानना भी महत्वपूर्ण है कि वेद केवल उन आस्तिक दर्शनों का मूल हैं जो भारतीय परंपरा के अनुसार आस्तिक दर्शन के अंतर्गत माने गए हैं। जो दर्शन आस्तित्कता के अंतर्गत नहीं आते वे भारतीय दर्शन परंपरा के अंतर्गत नास्तिक दर्शन के अंतर्गत माने गए हैं जो चार्वाक, जैन, बौद्ध और पाशुपात हैं। इसमें बौद्ध और जैन दर्शन की दोनों शाखाओं को लेकर मुख्यतः छह होते हैं इसी तरह न्याय, वैशैषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और उत्तर मीमांसा आस्तिक दर्शन हैं। ध्यान देने योग्य बात यह है कि मुस्लिम, ईसाई और यहूदी वैदिक परंपरा के दर्शन नहीं हैं इसलिए ये आस्तिक दर्शन के अंतर्गत नहीं माने गए हैं। वैदिक दर्शन और छह दर्शनों में एक सर्वमान्य सिद्धांत को आधार बनाया गया है, और वह सिद्धांत है, संपूर्ण मानव समाज को व्यवस्थित रखते हुए सब के साथ समान व्यवहार के दृष्टिकोण को स्वीकार करना। मानव चाहे एकत्ववादी हो, द्वित्ववादी, आस्तिक हो या नास्तिक-वेद मानव की मान्यता के अनुसार उसकी श्रेष्ठता या निकृष्टता को नहीं आंकता बल्कि मनुष्य के आचरण (कर्मों) को देखकर उसके मूल्य का निर्धारण करता है। वह किसी एक व्यक्ति में विश्वास रखने वाले को उत्तम लोक में जाने का अधिकारी नहीं मानता। वेद की दृष्टि में दार्शनिक सिद्धांतों की अपेक्षा जीवन के आचरण का महत्व है। अब आइए विचार करते हैं- योगदर्शन एवं वेद की मूलकता के संबंध में।

वैदिक वांङ्मय के अनुसार विद्या मुख्यतः दो प्रकार की होती है- प्रथम लौकिक विद्या और द्वितीय अलौकिक विद्या। वेद में अनेक तरह की आध्यात्मिक विद्याओं का वर्णन किया गया है। इसी तरह अनेक प्रकार की लौकिक विद्याओं का भी वर्णन सूत्र-रूप में किया गया है। अलौकिक विद्या में योग विद्या का बहुत ही जीवंत और वैज्ञानिक वर्णन किया गया है। योगदर्शन के ऐसे अनेक सूत्र हैं जिसकी पूरकता वेद से शत प्रतिशत मिलती है।

कर्मफल सिद्धांत

वेद और योगदर्शन के कर्मफल सिद्धांत की एकरूपता कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। कर्म के संबंध में वेद कहते हैं- कर्मों का क्षय, माफी या निवारण किसी भी तरह नहीं हो सकता है। इसलिए प्रत्येक प्रकार के कर्मों को विचारपूर्वक ही करना चाहिए। 'पक्तारं पक्वं पुनरविशाति' यानी कर्म करने वाले को कर्म फलोन्मुख होकर फिर उसे फल के रूप में मिलता है। अथर्ववेद के अनुसार- "असद् भूम्याः सम्भवत्तद्धामेति महद्वयचः। तदै ततो विधूपाययत् प्रत्यक् कर्त्तारमृच्छतु।।" (अथर्ववेद 4/19/6) दुष्ट कर्म भूमि से -अज्ञान से उत्पन्न होकर महान हो भले ही आकाश तक पहुँच जाता है तो भी वह, कालांतर में कुछ क्यों न हो कर्ता के पास वापिस लौटकर उसी को कर्मानुसार दुख देता है। साधनपाद में कर्मों की व्यवस्था यानी कर्म-फल-भोग को इस प्रकार बताया गया है। -ते हल्ादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् (साधनपाद सूत्र 14) अर्थात् वे जाति,

भाषा ISSN 0523-1418

आयु और भोग पुण्य और अपुण्य कर्मों के कारण उत्पन्न होने से सुख या परिताप को अवश्य प्राप्त होते हैं।

योगदर्शन के आठ अंग और वेद

योगदर्शन में मुनि पतंजलि ने योग के आठ अंगों का उल्लेख किया है-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। यम-नियम में यम के पाँच अंग-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के रूप में वर्णन किया है, वहीं पर निमय के अंतर्गत-शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय व ईश्वरप्राणिधान माने गए हैं। वेदों में एक साथ इनका वर्णन तो नहीं मिलता लेकिन चारों वेदों में अहिंसा, शौच, अस्तेय और संतोषादि का वर्णन किया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि योगदर्शनकार ने वेदों में वर्णित योगसूत्रों को स्वीकार करते हुए उसे एक स्थान पर सूत्र-रूप में व्यवस्थित कर दिया है। उदाहरण के लिए यजुर्वेद में यम-नियमों की उपमा पक्षी के दो पंखों से दी गई है। योगांग के प्रथम अंक में शैचवाची पूता, भवन, पवित्र, पवमान, शुद्धि-शुद्धा व शुन्धामि शुचि जैसे अनेक शब्दों के माध्यम से योग के अंगों का वर्णन किया गया है। इसी तरह तप और संतोषवाची भावों के लिए वेद में तोषमाना, तुषयन्ती, तोषतमाः जैसे पदों का प्रयोग दृष्टव्य होते हैं। इसी तरह तप के रूप में तप संतापे, तप ऐश्वर्ये एवं तप दाहे आदि धातुओं का प्रयोग वेद में उपलब्ध होता है। तप का तात्पर्य मानसिक, दैहिक और वाचिक आदि तीन तप से है। इसी तरह चतुर्थ योगांग स्वाध्याय के विषय में वेदों में अनेक स्थलों पर वर्णन किया गया है। और ईश्वरप्रणिधान के विषय में वेदों में चारों वेद और छह दर्शनों में आपस में पूरकता है या विरोध इस पर वैदिक विद्वानों में भिन्न-भिन्न मत हैं। आर्ष परंपरा के वैदिक विद्वानों का मत है कि छह दर्शन में वर्णित विचार और तत्व वेदों के अनुरूप हैं, लेकिन पौराणिक विद्वानों के मत इस विषय में भिन्न-भिन्न हैं।

योगदर्शन में वर्णित सिद्धियाँ और वेद

योगदर्शन के चारों पादों में वर्णित योग सूत्र वेद मंत्रों के तत्वार्थ से मिलते हैं। जैसे योगदर्शन के विभूतिपाद में सिद्धियों का वर्णन है, ये सिद्धियाँ हैं-योगी द्वारा भविष्य की बातों को जान लेना, सब प्राणियों की बोली से उनके आशय को समझा जा सकता है, पूर्व जन्म का ज्ञान कर सकता है, दूसरे के चित्त को जान सकता है, वह इच्छानुसार अंतर्धान हो सकता है, मृत्यु कब होगी यह जान सकता है, हाथी जैसा बल प्राप्त कर सकता है, सूक्ष्म से सूक्ष्य वस्तु को देख सकता है, ढकी-छिपी या पृथ्वी के अंदर गड़ी वस्तु को देख सकता है, दूर से दूर वस्तु को देख सकता है, बिना चीर-फाड़ किए शरीर की आंतरिक संरचना को देख सकता है, भूख-प्यास पर विजय प्राप्त कर सकता है, अपने चित्त को दूसरे के शरीर में प्रविष्ट कर सकता है, जल कीचड़-काँटों आदि पर नंगे पैर चल सकता है, इच्छा अनुसार बड़ा-छोटा-हल्का या भारी हो सकता है, अतिशय सुंदरता और अपरिमित बल प्राप्त कर सकता है, देह को अत्यंत कठोर या मोम जैसा नरम कर सकता है, धरती के अंदर घुसकर गीला हुए बिना रह सकता है और अग्नि में प्रवेश करे बिना जले रह सकता है। यह कहा जाता है कि क्या ये सभी सिद्धियाँ प्रामाणिक हैं? इसके लिए हमें वेद का प्रमाण चाहिए जो वेद के मंत्रों में है। ऋग्वेद के दशम मंडल के 136वें सूक्त में सात मंत्र हैं। इसके ऋषि क्रमशः जूति, वातजूति, वृषाणक, करिक्रत, एतश तथा ऋष्यशृगङ हैं। इन ऋषियों ने इन मंत्रों का साक्षात्कार कर योगाभ्यास द्वारा इनमें वर्णित सिद्धियों को प्राप्त करके मंत्रार्थों का जनता में प्रचार किया। ऋग्वेद के इस मंत्र में जिस सिद्धि का वर्णन है, वह इस प्रकार है- "केश्यग्निंकेशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी। केशी विश्वं स्वर्दृशे केशींद ज्योतिरुच्यते।" अर्थात् (केशीअग्निं बिभर्ति)योगी मुनि अग्नि को धारण कर सकता है। (केशी विषं बिभर्ति) योगी मुनि विष को धारण कर सकता है। (केशी रोदसी बिभर्ति) योगी आकाश-पृथ्वी या आत्मलोक-देहलोक को धारण कर सकता है। (केशी दृशे विश्वं स्वःबिभर्ति) देखने-सुनने के लिए दिव्य प्रकाश को प्राप्त कर सकता है। यह आत्म ज्योति केशी कहलाती है। मंत्र से यह प्रकट होता है कि योगी ऐसी सिद्धि प्राप्त कर सकता है कि जिससे वह अग्नि को पकड़ या अग्नि में प्रविष्ट हो सकता है, लेकिन इसका उस पर कोई प्रभाव न पड़े। योगदर्शन में इस सिद्धि को इस सूत्र में दर्शाया गया है- 'तद्धर्मानभिघातश्च' (3.45) जिसके व्यास भाष्य में कहा गया है-'नाग्निरुष्णो दहति' योगी यदि अग्नि में प्रविष्ट हो जाए तो वह उससे प्रभावहीन रहता

है। जितने प्रकार की सिद्धियों का वर्णन योगदर्शन में किया गया है, उनका वर्णन वेद में भी यत्र-तत्र सर्वत्र देखा जा सकता है। प्रस्तुत मंत्र देखें- "मुनयो वातरशना: पिशग्डा वसते मला। वातस्यान् ध्राजिं यंति यद् देवासो अविक्षत।।2।।" अर्थात् (वातरशना:) जिन्होंने वायु को रस्सी की तरह पकड़ लिया है ऐसे (मुनय:) योगी मुनिजन (पिशग्ड़ा मला वसते) पिंगल वर्ण के मटमैले केशों को, जटाजूटों को, धारण करते हैं। (यद्) जब (देवास: अविक्षत) उनमें दिव्य शक्तियाँ प्रविष्ट हो जाती हैं, तब वे (वातस्य ध्राजिम्अनुयन्ति) वायु की गति के साथ-साथ उड़ने लगते हैं। योगदर्शन में इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है- "कायाकाशयो: संबंध संयमाद्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्" (3.42) अर्थात् शरीर और आकाश के संबंध में संयम करने से और हल्की रूई से तदाकारता कर लेने से योगी आकाश में गमन कर सकता है। एक अन्य मंत्र में कहा गया है- योगाभ्यास द्वारा योगीजन वायु पर आरूढ़ हो सकते हैं। यह अष्ट सिद्धियों में एक सिद्धि है। और योगी वायु में विचरण कर सकता है और मैत्रीभाव के साथ निरंतर रह सकता है और कष्ट में पड़े हुए किसी भी प्राणी को सुख प्रदान कर सकता है।

निराहार रहने का वर्णन ऋग्वेद के इस मंत्र में किया गया है- "वातस्याश्वो वायो: सखाऽथो देवेशितो मुनि:। उभौ समुद्रावाक्षेति यश्च पूर्व उतापर:।।" अर्थात् मुनि वायु का भोक्ता है, वायु का मित्र है और परमेश्वर की प्रेरणा प्राप्त कर पूर्व और अपर नामक दो समुद्रो में निवास कर सकता है। केवल वायु के सहारे जीवित रहने की सिद्धि योगी को उसकी साधना के द्वारा प्राप्ति हो सकती है। इसी तरह योगी सिद्धियों को प्राप्त करके जितनी देर चाहे समुद्र में डुबकी लगा सकता है और जब चाहे बादलों में सैर कर सकता है। - "अप्सरसां गंर्धर्वाणां चरणे चरन्। केशी केतस्य विद्वांत्सखा स्वादुर्मदिन्तम:।" अर्थात् योगी अप्सराओं, गंधर्वों तथा मृर्गों के विचरणस्थल में विहार कर सकता है। अप्सरा का अर्थ विद्युत है। गंधर्व का अर्थ सूर्य किरणों को धारण करने वाले ग्रहोपग्रह हैं। साधना के बल पर योगी सबका मित्र, आनंददायक और सर्वप्रिय बन जाता है।

योगी पर विष का प्रभाव नहीं पड़ता है। मीरा और महर्षि दयानंद को कितनी बार विष दिया गया लेकिन उसका प्रभाव नहीं पड़ा। मंत्र में आया है- "वायुरस्मा उपामंथत् पिनष्टि स्मा कुनन्नमा। केशी विषस्य पात्रेण यद् रुद्रेणापिबत् सह।" अर्थात् योगी जब रुद्र के साथ पात्र द्वारा विष का पान करता है, तब कुनन्नमा विष को पीसती है। वायु इस योगी के लिए विष को मथती है। रुद्र नाम यहाँ प्राणों का है। प्राणा वाव रुद्रा: (छंदोकृउपकृ1/16/3) कुनन्नमा का अर्थ दंतपंक्ति उस विष को चबा-चबाकर पीसती है। विष योगी अपने योगबल से पचा लेता है। अथर्ववेद के मंत्र में आया है- "अंतरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरिम्।" (5/9/7) अर्थात् योगी अपने आत्मलोक एवं देहलोक पर विजय प्राप्त कर सकता है। शारीरिक अमरता प्राप्त करने का यह प्रमाण है। योगदर्शन में इन सिद्धियों का वर्णन इस प्रकार किया गया है- "तत: प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते।" (3/6) इस सिद्धि से योगी सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट, अतीत आदि का ज्ञान कर सकता है। सुन सकता है, त्वचा से अनुभव कर सकता है, देख सकता है, चख सकता है और सूँघ सकता है।

योगविद्या और वेद

अथर्ववेद में योगविद्या का महत्व प्रतिपादित किया गया है। जहाँ पर ब्रह्मयोग, क्षत्रयोग, इंद्रयोग, सोमयोग और अप्सुयोग का उल्लेख मिलता है- "जिष्णवे योगाय ब्रह्मयोगैर्वो युनज्मि। जिष्णवे योगाय क्षत्रयोयोगैर्वे। जिष्णवे योगाय इंद्रयोगैर्वो। जिष्णवे योगाय सोगयोगैर्वो युनज्मि। जिष्णवे योगाय अप्सुयोगैर्वोयुनज्मि।" इसी तरह सामवेद में योग समाधि अर्थ में प्रयुक्त है-स धा नो योग आभुवत् स राये स पुर ध्याम्। गमद वाजेभिरासन:। अर्थात् वही परमात्मा हमारी समाधि के लिए अभिमुख हो। इस तरह हम देखते हैं कि योगदर्शन में समाधि का वर्णन जिस रूप में आया है, वैसा ही वर्णन वेद में भी आया है। इसी प्रकार योगदर्शन में चित्तवृतियों को निरोध का योग कहा गया है। ऐसा ही वर्णन ऋग्वेद में आया है यथा- "यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन धीनां योगमिन्वति।" अर्थात् योग के बिना विद्वान का भी कोई यज्ञ-कर्म सिद्ध नहीं होता है, यह योग चित्तवृतियों का निरोध करता है। यजुर्वेद में योग का महत्व इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है-'योगाय योक्तारम्' अर्थात् योग के लिए युक्त करने वाले की हम प्रशंसा करते हैं।

योग क्या है? इस बारे में अनेक मत हैं-

1- जीव की आत्मा का परमात्मा से संयोग ही

भाषा ISSN 0523-1418

योग है।

2- सूर्य, चंद्र, ईश, पिंगला का संयोग ही योग है।

3- सिद्धि-असिद्धि का समत्व ही योग कहलाता है।

भारतीय वांङ्मय में आध्यात्मिक और धार्मिक संदर्भ में योग शब्द विशेष महत्व रखता है। यह योग आत्मा, ब्रह्म, जीव, मोक्ष, निर्वाण, धर्म और ईश्वर की भाँति उन थोड़े से गिने-गिनाए शब्दों में से है। योग शब्द दिवादिगण की 'युज समाधौ' धातु में घञ् प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है।

वेद में योग, संयोग, समाधि और संयमन सभी साक्षात् रूपों में और प्रकारांतर से उपलब्ध होता है। ऋग्वेद का यह मंत्र- "यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन। स धीनां योगमिंवति।।" (ऋ. 1/18/7) अर्थात् जिन देवताओं के बिना प्रकाशपूर्ण ज्ञानी का जीवन यज्ञ भी सफल नहीं होता उसी में ज्ञानियों को अपनी बुद्धि एवं कर्मों का योग करना चाहिए। ऐसा करने से ज्ञानियों की बुद्धि देवों की बुद्धि के साथ तदाकारिता को प्राप्त कर लेती है। वस्तुतः यही योग है। चित्त का संयमन अथवा समाधि में स्थित होना कैवल्य, मोक्ष अथवा ब्रह्मवाक्यता के लिए है।

अथर्ववेद में "यत पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत" (अथर्व.19/6/10) अर्थात् जो मानस ज्ञान यज्ञ तथा ध्यान यज्ञ को विस्तृत करते हुए ध्यानी तथा विद्वान-जन सर्वद्रष्टा परमात्मा को हृदय में बांधते हैं। वह स्थिर इंद्रियों की धारणा ही योग की सज्ञा से अभिहित है। अथर्ववेद में योगाभ्यास अर्थात् ध्यान यज्ञ के लिए उग्र, श्रद्धा, लगन, उग्र अभ्यास, उग्र वैराग्य आदि साधनों की अपेक्षा होती है। योगीजनों की आत्माओं का उत्पन्न हुआ करता है और संसारी व्यक्तियों की आत्माओं का अवक्रमण होता है, अर्थात् उसको नीचे की ओर पृथ्वी पर आना पड़ता है। अथर्ववेद का यह मंत्र- "ईजानश्चितमारूक्षदग्निं नाकस्य पृष्ठाद् दिवमुत् पतिष्यन्।" (18/4/14) अर्थात् योगाभ्यासी जब अपनी शारीरिक चेष्टाओं और मानसिक संकल्प-विकल्पों को परमेश्वर के रूप के प्रति भेंट रूप में चढ़ा देता है। तब वह परमेश्वर के भेषज रूप को जान पाता है। अथर्ववेद का यह मंत्र इस बात को व्यक्त करता है- "यन्मातली रथक्रीतममृतं वेद भेषजम्" (अथर्व. 11/6/23) अर्थात् शरीर, मन तथा कर्म में निरंतर संयम का अभ्यास करते हुए संयमित मन वाले योगी को इस भौतिक अस्तित्व की समाप्ति पर ही मुक्ति या अलौकिक परम आनंद तत्व की प्राप्ति होती है। योगदर्शन में ब्रह्म को जानने पर मृत्यु पथ से पार पाने की बात कही गई है, इसी प्रकार वेद में भी कहा गया है- "तमवे विदित्वाति मृत्युमेति।" ब्रह्म को जानने से मृत्यु से छूटा जा सकता है। इस प्रकार योग दर्शन वेद के अनुरूप ही मोक्ष की अवधारणा को व्यक्त करता है।

योग की सर्वश्रेष्ठता के विषय में योगदर्शन और वेद के विचार

योग के बिना विद्वान् का कोई भी यज्ञ-कर्तव्य-कर्म सिद्ध नहीं होता है। वह योग, चित्तवृतियों का निरोध है, वह कर्तव्य कर्म मात्र में व्याप्त है। अतः साधक प्रत्येक यज्ञ में इंद्र का आह्वान करता है- योगे-योगे तवस्तरं वाजे-वाजे हवामहे। सखाय इन्द्रमूतये। (ऋ.1/30/7) इसी तरह योग की सिद्धि में ईश्वरानुकम्पा आवश्यक है, अतः- "स धा नो योग आभुवत् सराये स। पुरध्याम्। गमद् वाजेभिरा स नः।" (ऋ.2/5/3) इसी प्रकार ऋग्वेद के युज्जवे मन उव युज्जते में भी ईश्वरानुकम्पा का गहन वर्णन किया गया है। महर्षि दयानंद ने यजुर्वेद का भावार्थ करते हुए बतलाया है कि योग के करने वाले मनुष्य तत्व अर्थात् जब अपने मन को पहले परमेश्वर से युक्त करते हैं तब परमेश्वर उनकी बुद्धि को अपनी कृपा से अपने में युक्त कर लेता है। फिर वे परमेश्वर के प्रकाश को निश्चिय करके यथावत् धारण करते हैं। योग का मूल रूप वैदिक संहिताओं में सूत्र रूप में उपनिबद्ध है। योग के बीज का वर्णन 'कृष्ण यजुर्वेद' की 'काठक' शाखा में इस प्रकार उपलब्ध है- "पूर्णो वे प्रजापतिः समृद्धिभिः। ऊनो व्यृद्धिभिः। पूर्ण पुरुष कामैः। ऊन समृद्धिभिः" अर्थात् प्रजापति समृद्धियों से पूर्ण है, परंतु वह व्यृद्धियों से ऊन है इसके विपरीत पुरुषकामनाओं से परिपूर्ण है परंतु समृद्धियों से हीन है।

योग के प्रधान लक्षण का प्रतिपादन यजुर्वेद के 11 वें अध्याय के प्रथम पाँच मंत्रों में इस प्रकार किया गया है- "युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सर्वे स्वर्ग्याय शक्त्या" अर्थात् हम लोग सबको उत्पन्न करने वाले परमेश्वर की आराधना रूप यज्ञ में लगे हुए मन के द्वारा परमानंद की प्राप्ति पूरी शक्ति से करें।

विद्या-अविद्या और वेद

विद्या और अविद्या का वर्णन योग दर्शन में

किया गया है। विद्या प्राप्त करके साधक और विद्वान दुखों से पार उतर जाता है। यजुर्वेद में भी इसका वर्णन अत्यंत व्यापक रूप से किया गया है– "विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह। अविद्यया मृत्यं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।" (यजुर्वेद40) जो विद्या है अर्थात् आध्यात्मिक विद्या जो मोक्ष की ओर ले जाने वाली है और जो अविद्या है अर्थात् भौतिक विद्या जो जड़ जगत की ओर ले जाने वाली है। वह सब वेद में ही समाहित है। अविद्या मृत्यु को तथा विद्या अमृतत्व को प्राप्त कराने वाली है।

योग सिद्धियों के संबंध में महर्षि दयानंद के विचार

महर्षि दयानंद एक उच्चकोटि के योगी थे। उन्हें कई तरह की सिद्धियाँ प्राप्त थीं। सिद्धियों के कारण उन्होंने दिए गए विष को पचा लिया था। इसी प्रकार लोगों की प्रवृतियों को वह जान लिया करते थे। सिद्धियों के विषय में महर्षि के क्या विचार थे ये बाबू माधोप्रसाद को लिखे एक पत्र से पता चलता है। स्वामी जी लिखते हैं– "देखो पूर्वकाल में हमारे ऋषि–मुनियों को कैसी पदार्थ विद्या आती थी कि जिससे आत्मा के बल से सबके अंत:करण के भेद को शीघ्र ही जान लिया करते थे। जैसे बाहर की पदार्थ–विद्या से सिद्ध किए हुए रेल, तारादि विद्या को मूर्ख लोग जादू समझते हैं, वैसे ही भीतर के पदार्थों के योग से योगी लोग अनेक अद्भुत कार्य कर सकते हैं, इसमें कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि मनुष्य लोग जितनी विद्या बाहर के पदार्थों से सिद्ध करते हैं, उससे कई गुणा अधिक भीतर के पदार्थों से सिद्ध कर सकते हैं।"

योग–सिद्धियों के संबंध में महर्षि दयानंद के विचार

महर्षि दयानंद योग सिद्धियों और चमत्कार के संबंध में मुंबई प्रवचन में कहते हैं– "भीतर के पदार्थ बहुत महान् और गुह्य हैं और इस स्थूल जगत में जो गुण और चमत्कार देखने में आते हैं उससे करोड़ों गुणे गुण और चमत्कार भीतर विद्यमान हैं। बाहर के चमत्कार इंद्रियों से ग्रहण किए जा सकते हैं, परंतु मनुष्य स्थिर होकर शोध करे तो उससे बहुत अधिक चमत्कार भीतर के उसे देखने में आएँगे।" आकाश–गमन सिद्धि का वर्णन यजुर्वेद (16/67) के मंत्र में आया है। महर्षि दयानंद ने अपने यजुर्वेद भाष्य में उसे उद्घृत किया है।

"पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद् दिवमारुहम्। दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वज्र्योतिरगामहम्।।"

अर्थात् – हे मनुष्यो, जैसे किए हुए योग के अंगों के अनुष्ठान एवं संयम से सिद्ध अर्थात् धारण, ध्यान और समाधि में परिपूर्ण (अहम्) मैं (पृथिव्या:) पृथ्वि के बीच (अंतरिक्षम्) आकाश को(उद् आ अरुहम्) उठ जाऊँ, वा (अंतरिक्षात्) आकाश से (दिवम्) प्रकाशमान सूर्यलोक को (आअरुहम्) चढ़ ताऊँ, वा (नाकस्य) सुख कराने हारे (दव:) प्रकाशमान उस सूर्यलोक के (पृष्ठात्) समीप से (स्व:) अत्यंत सुख और (ज्योति:) ज्ञान के प्रकाश को (अहम्) मैं (अगाम्) प्राप्त होऊँ, वैसा तुम भी आचरण करो। इसका भावार्थ करते हुए महर्षि कहते हैं–

जब मनुष्य अपनी आत्मा के साथ परमात्मा के योग को प्राप्त होता है तब अणिमादि सिद्धि उत्पन्न होती है, उसके पीछे कहीं से न रुकने वाली गति से अभीष्ट स्थानों को ला सकता है, अन्यथा नहीं।

यजुर्वेद (16/71) के भाष्य में महर्षि लिखते हैं–योगी अनेक प्राणियों के शरीर में प्रविष्ट होकर उनकी नेत्रादि इंद्रियों से देखने आदि व्यापारों को कर सकता है, ऐसा वर्णन है। महर्षि आगे लिखते हैं– "योगी पुरुष तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान आदि योग के साधनों से योग (धारणा, ध्यान, समाधिरूप संयम) के बल को प्राप्त हो, अनेक प्राणियों के शरीर में प्रवेश करके अनेक सिर, नेत्र आदि अंगों से देखने आदि कार्यों को कर सकता है।" योगसिद्धियाँ प्राप्त योगी परमसाधक होता है, लेकिन मोक्ष–प्राप्ति के लिए योगी को योग–सिद्धियाँ पाकर भी उनके अभिमान को छोड़ देना चाहिए। महर्षि यजुर्वेद (19/74) मंत्र के भाष्य में लिखते हैं– "जो युक्ताहार–विहार करने वाले वेदों को पढ़, योगाभ्यास कर, अविद्यादि क्लेशों को छुड़ा योगसिद्धियों को प्राप्त हो और उनके अभिमान को छोड़ के कैवल्य को प्राप्त होते हैं वे ब्रह्मानंद का भोग करते हैं।"

योगदर्शन के विभूतिपाद के 16वें सूत्र में धारणा, ध्यान और समाधि के द्वारा सिद्धि प्राप्ति का वर्णन किया गया है। "परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्। योगदर्शन विभूतिपाद" सूत्र 16 सूत्रार्थ– (परिणामत्रय) धर्मी–धर्म,

लक्षण और अवस्था परिणामों में (संयमात्) संयम-धारणा, ध्यान, समाधि करने से, योगी को (अतीतानागतज्ञानम्) उस धर्मी के अतीत और अनागत का ज्ञान होता है। योगदर्शन का यह सूत्र यजुर्वेद के उपरोक्त मंत्र में वर्णित विषय (सिद्धियों) से मेल खाता है।

महर्षि दयानंद अणिमा आदि सिद्धियों को मानस मानते हैं, शारीरिक नहीं। पूना प्रवचन संख्या-11 से यह बात ज्ञात होती है। महर्षि ने पूना प्रवचन में कहा था- "योगी विभूति को सिद्ध करता है। ऐसा योगशास्त्र में लिखा है। अणिमा, लघिमा, गरिमा इत्यादि विभूतियाँ हैं। ये धर्म योगी के चित्त में पैदा होती हैं, ऐसा स्वामीजी मानते हैं। वे बराबर नहीं है। सांसारिक लोग ये अर्थात् अतिसूक्ष्म पदार्थों से भी बड़ा होकर उसका ज्ञान मन से होता है, उसे गरिमा कहते हैं। ये मन के धर्म हैं, शरीर में इनका सामर्थ्य नहीं है।"

योगविभूतियाँ और वेद

वेदों में अनेक तरह की जिन योग-विभूतियों का वर्णन किया गया है वे सब योगी द्वारा प्राप्त की जा सकती हैं। योगी दूर-स्थित अपने योगी-भ्राताओं से विचारों का आदान-प्रदान कर सकता है। दूसरे के भावों को जान सकता है, बिना ही ब्राह्य साधनों के रेलवे के इंजन से भी अधिक तेज गति से एक स्थान से दूसरे स्थान तक गति कर सकता है, पानी पर चल सकता है, धरती के आधार को छोड़कर हवा में रह सकता है, अपनी आत्मा को अपने शरीर से पृथक कर थोड़ी अवधि के लिए या अनेक वर्षों तक अन्य व्यक्ति के शरीर में प्रवेश करके रह सकता है। इसी प्रकार का वर्णन योगदर्शन के विभूतिपाद के सूत्र 20 में किया गया है। - "न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात्" (20)। इसी प्रकार विभूतिपाद के 32 वें सूत्र में उच्च भूमियों का वर्णन किया गया है। जो वेद मंत्रों में वर्णित भूमियों के अनुरूप ही है। सूत्र इस प्रकार है- "मूद्र्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्।" (32सूत्र 'विभूतिपाद') सूत्रार्थ करने पर पता चलता है कि मस्तिष्क में स्थित ज्योति में संयम करने पर, योगी को (सिद्धदर्शनम्) सिद्ध यानी विशिष्ट योग्यता संपन्न देव पुरुषों अथवा योग की उच्च भूमियों को प्राप्त किए हुए योगियों का दर्शन-ज्ञान होता है।

विभूतिपाद के 36वें सूत्र में अनेक प्रकार की सिद्धियों का वर्णन किया गया है जो यजुर्वेद के मंत्रों वर्णित सिद्धियों के जैसा ही है।- "ततः प्रातिभ श्रावणवेदनादर्शास्वादवार्त्ता जायन्ते" (36सूत्र) अर्थात् उस स्वार्थ ज्ञान में संयम हुए पुरुषज्ञान के पश्चात् प्रातिभ, श्रावण, आदर्श, आस्वाद औश्र वार्ता नामक सिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं।

कैवल्य प्राप्ति में योगी के लिए सिद्धियाँ विध्न पैदा कर सकती हैं, क्योंकि सिद्धियाँ प्राप्त कर लेने से अहंकार पैदा हो सकता है, लेकिन व्युत्थान दशा-व्यवहार में ये सिद्धियाँ योगी की उच्च साधना का परिणाम हैं। यह संदर्भ वेद और योगदर्शन में पूर्णतः समान है। इसी तरह विभूतिपाद के 39वें सूत्र में उदान प्राण के द्वारा सिद्धियाँ प्राप्त करने का वर्णन है। ऐसा ही वर्णन यजुर्वेद के अनेक मंत्रों में आया है। इस सूत्र में कहा गया है-संयम द्वारा उदान प्राण को जीतने पर योगी (जलपक्ङकण्टकादिषु) जल, पंक-कीचड़ और कंटक आदि स्थानों में संग रहित रहता है और उसकी मृत्यु समय में उत्क्रान्ति-ऊर्ध्वगति होती है। इस प्रकार योगदर्शन में जिन सिद्धियों का वर्णन किया गया है कुछ मिलती-जुलती सिद्धियों का वर्णन वेदों में किया गया है। आकाश गमन सिद्धि का वर्णन विभूतिपाद के 42वें सूत्र में किया गया है। "कायाकाशयोः संबंध संयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्।" (सूत्र 42) शरीर और आकाश के संबंध में संयम करने से और हल्के-लघु-रूई आदि पदार्थों में समापत्ति होने से योगी को आकाश गमन की सिद्धि प्राप्ति होती है।

योगदर्शन में चार पाद हैं। समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद और कैवल्यपाद। चारों पादों में योग से संबंधित चार विषयों का वर्णन किया गया है। समाधिपाद में योग की परिभाषा, जीवात्मा, समाधि, ईश्वर और ऋतम्भराप्रज्ञा जैसे विषयों का निरुपण किया गया है। इसी तरह साधनपाद में क्रिया योग निरूपण, क्लेश-अस्मिता-अभिनिवेश, प्रकृति, आसन, प्रणायाम, यम-नियमों का स्वरूप, प्रत्याहार जैसे विषयों का वर्णन किया गया है। विभूतिपाद में धारणा-ध्यान-समाधि सिद्धियों की चर्चा, कैवल्य, पंचभूत और बुद्धि जैसे अनेक विषयों का वर्णन किया गया है और कैवल्यपाद में योगी और अन्यों के कर्मभेद, चित्त की वृतियाँ, समाधियों की विवेचना, जन्म, औषधि, मंत्र आदि जैसे अनेक विषयों का वर्णन किया गया है। इन चारों पादों में जिन-जिन विषयों का वर्णन किया गया है वे वेद मंत्रों में वर्णित विषय से मेल खाते हैं।

वेद से ही योग की उत्पत्ति

वेदों से ही योग-ध्यान की उत्पत्ति होती है। योगदर्शन का प्रथम सूत्र ही योग के अनुशासन को व्यक्त करता है। योग के अनुशासन का मतलब योग विद्या के अनुरूप लक्षण, भेद, उपाय, फल की यथार्थता से युक्त शास्त्र। और परमात्मा-जीवात्मा की विद्या के लिए अनुशासन प्रथम शर्त है। महर्षि दयानंद ने यजुर्वेद 11/5 - "युजे वां ब्रह्मपूर्व्यं नमोभिर्वि श्लोकऽंतु पथ्येव सूरेः। शृंवंतु विश्वेऽअमृतस्य पुत्राऽआ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः" की विवेचना करते हुए कहा है-हे योग के जिज्ञासु मनुष्यो! जैसे सत्य भाषण युक्त मैं योगी स्तुति, प्रार्थना, उपासना रूप सत्कार से जिस पूर्व योगीजनों से प्रत्यक्ष किए हुए सर्वव्यापक ब्रह्म को आत्मा में साक्षात् करता हूँ, उसे वह योगी और योग उपदेशकों से योगविद्या के श्रोताओं को तथा विद्वानों के पथ में उत्तम गति के समान प्राप्त होवें। जैसे जो ये सब मोक्ष को प्राप्त किए हुये आज्ञा पालक उत्तम संतान अविनाशी जगदीश्वर के योग से प्रकाशमान स्थानों में विराजमान है, इससे आप लोग इस योग विद्या का श्रवण करो।

ईश्वर-विचार पर योगदर्शन और वेद

ईश्वर के संबंध में योगदर्शनकार के विचार वेद के अनुरूप ही हैं। समाधिपाद के सूत्र 26 का यह सूत्र "स एषः पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्"। अर्थात् काल के द्वारा नष्ट या बाधित होने न होने के कारण से यह ईश्वर पूर्व में उत्पन्न ऋषियों-गुरुजनों का भी गुरु-धर्म और ज्ञान का उपदेष्टा है। यजुर्वेद और अथर्ववेद में ईश्वर की महिमा का वर्णन इस प्रकार किया गया है। यजुर्वेद के 31 वें अध्याय के मंत्र 7 में कहा गया है- उस पूर्ण अत्यंत पूजनीय जिसके अर्थ सब लोग समस्त पदार्थों को देते व समर्पण करते उस परमात्मा से ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद उत्पन्न होता है, उसको जानो। और ऋग्वेद के मंडल 1/अध्याय 164 और मंत्र 39 में कहा गया है- "ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।" अर्थात् जिस अविनाशी परमात्मा में सर्वविद्यामय ऋगादि चारों वेद और सूर्यादिलोक स्थित हैं। इसी प्रकार उस परमात्मा का प्रमुख नाम ओऽम् है को वेद में प्रमुख माना गया है वहीं पर योगदर्शनकार भी प्रमुख मानते हैं। योगदर्शन का समाधिपाद का सूत्र "तस्य वाचकः प्रणवः" (समाधिपाद सूत्र 27) अर्थात् उस ईश्वर का वाचक-बोधक शब्द नाम प्रणव अर्थात् ओम् है। ज्ञातव्य है महर्षि दयानंद ने सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास में ओम को परमात्मा का प्रमुख नाम माना है। वेद के अनेक मंत्रों में ओऽम् को ईश्वर का प्रमुख नाम बताया गया है। ऋग्वेद का प्रसिद्ध मंत्र "ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिंदेवा अधिविश्वे निषेदुः।" (ऋ. 1/164/39) और यजुर्वेद का मंत्र "ओमिति परमेश्वरस्यैव नाम, यथा पितापुत्रयोः प्रियः संबंधस्तथैवेश्वरेण सहोंकारस्य संबंधो अस्ति"। (यजु. 2/13) अर्थात् 'ओऽम्' यह परमेश्वर का ही नाम है। जैसे पिता और पुत्र का प्रिय संबंध है वैसे ही ईश्वर के साथ 'ओंकार' है। इस प्रकार योगदर्शन ईश्वरनाम और जीव-ईश्वर संबंध में जो मत व्यक्त किया गया है वही मत वेद का भी है। इससे ईश्वरीय नाम प्रमुख की दर्शनकार की वेद मूलकता सिद्ध होती है। इसी तरह उपासना के विषय में योगदर्शनकार का जो विचार है वही विचार वेद का भी है। समाधि का यह सूत्र 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' (समाधिपाद 28 सूत्र) अर्थात् उस प्रणव का जप और उस प्रणव के द्वारा वाच्य ईश्वर की भावना करनी चाहिए अर्थात् ईश्वर के स्वरूप, गुण आदि का विचार करना चाहिए। और यजुर्वेद में कहा गया है- "यस्य नाम महद्यशः" (यजु.32/3) अर्थात् परमेश्वर का नाम बड़े यश वाला है। प्रकारांतर से हम कह सकते हैं- परमात्मा के अतिरिक्त किसी अन्य की उपासना नहीं करनी चाहिए। आत्मसाक्षत्कार के विषय में समाधिपाद में कहा गया है-"ततः प्रत्यक्चेतना-धिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च" (समाधिपाद 29) अर्थात् उस ईश्वरप्राणिधान से आत्मा के अंतर्यामी चेतन परमात्मा की प्राप्ति भी आत्म-साक्षात्कार के साथ हो जाती है, जिससे योग के अंतरायों (विघ्नों) का अभाव हो जाता है। ऋग्वेद में इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है- "त्वं हि शश्वतीनामिंद्र दर्ता पुरामसि। हंता दस्योर्मनोर्वृधःपतिर्दिवः।।" (ऋ.8/98/6) अर्थात् परमात्मा ही मानव के मन में उत्पन्न होकर उत्पीड़न करने वाले प्रवाह से अनादि एवं अनंत वृत्तियों- दुखों-दुरितों-दुर्भावनाओं- विक्षेपों को नाश करने वाला है। वेद और योग दोनो में विघ्न व्याधि, अविरति, आलस्य, भ्रांतिदर्शन, अलब्ध भूमिकत्व, प्रमाद, स्त्यान तथाचित्त के विक्षेप को माना गया है। इस प्रकार ईश्वर और उसकी उपासना संबंधी समानता वेद से योगदर्शन की सिद्धि होती है।

पंचक्लेश और योग-वेद

योगदर्शन के साधनपाद में पंचक्लेशों का वर्णन किया गया है-अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः। अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पंच क्लेश हैं। वेद मंत्रों में एक-एक अविद्या का वर्णन किया गया है। अद्वेषो हस्तयोर्दधे (ऋ.1/24/4) "अद्वेषो नो मरुतो गातुमेतन।।" (ऋ.5/87/8) और "वि द्वेषांसीनुहि।" (6/10/7) अर्थात् हिंसा का मूल मोह, क्रोध, मत्सर, काम, मद तथा लोभ है। इन वृत्तियों को क्रमशः उल्लू, भेड़िया, कुत्ता, चकवा, गरुड़ और गिद्ध की वृत्तियों वाला जानकर हमेशा के लिए नष्ट कर देना चाहिए।

इस प्रकार योगदर्शन के समस्त सूत्र वेद मंत्रों में आए विचारों, विषयों और भावों के अनुरूप द्रष्टव्य होते हैं। यह बात दीगर है कि जिस तरह योगदर्शन के चारों पादों में अनेक विषयों को क्रमबद्ध तरीके से प्रस्तुत किया गया है, वैसा वेद मंत्रों में नहीं है। लेकिन दार्शनिक विचारों में कोई भिन्नता दिखलाई नहीं पड़ती है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. सत्यार्थ प्रकाश
2. पातंजल योगदर्शन-व्याख्याकार श्री सतीश आर्य
3. वैदिक मधुदृष्टि-लेखक रामनाथ वेदालंकार
4. जीवन का समाधान-लेखक स्वामी सोमानंद महाराज
5. वेदवाणी द्धपत्रिकाऋवैदिक दर्शन विशेषांक
6. गुरुकुल पत्रिका विशेषांक (गुरुकुल कांगड़ी)
7. दयानंद संदेश (योग विशेषांक)

– ए-11, त्यागी विहार, नांगलोई, दिल्ली-110041

❑❑❑

वैदिक साहित्य और विविध विषयक नीतियाँ

डॉ. विजेंद्र प्रताप सिंह

विदित है कि वेद विश्व के प्राचीनतम अभिलेख हैं जो भारतीय सभ्यता का आधार व्याख्यायित करते हुए अपने रचनाकाल से वर्तमान तक मानव समाज का दिशानिर्देशन कर रहे हैं। वैदिक मान्यताओं व सृष्टि संवत् के आधार पर सृष्टि व मानव की उत्पत्ति को 1.96 अरब वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। प्रो. व्रजबिहारी चौबे के अनुसार "साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने अपनी तपस्या द्वारा अपने अंत:करण में जिस ज्ञान की अनुभूति की थी, उसी की शब्दात्मक अभिव्यक्ति वेद है।" (प्रो. व्रजबिहारी चौबे: 2010, पृष्ठ 7) कुछ लोगों की मान्यता है कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है परंतु यह मान्यता बहुत ज्यादा तर्कसंगत प्रतीत नहीं होती है। उसके स्थान पर प्रोफेसर चौबे का कथन अधिक तर्कसंगत लगता है। न्याय शास्त्र वैदिक साहित्य में आस्तिक दर्शन का प्रमुख भाग है। इसका मुख्य उद्देश्य होता है विभेद का आकलन कर विभेद के स्तरों को चिह्नित करते हुए और अंतर बताते हुए उनका वर्णन करना। वेदों में जिन नैतिक एवं मानवीय मूल्यों का प्रतिपादन किया गया है वे सर्वकालिक हैं। अपने रचनाकाल से वर्तमान तक; युगों से मानव समाज का मार्गदर्शन वैदिक साहित्य ही करता आ रहा है। वैदिक साहित्य 'सर्वजन हिताय', 'सर्वजन सुखाय' की कल्याणकारी नीति के तहत कल्याणपरक नीति, नियमों, आदर्शों तथा संस्कारों के माध्यम से मानव समाज का मार्गदर्शन करता आ रहा है। भौतिक गुण एवं मानवीय मूल्य से संबंधित दो प्रकार की नीतियाँ मानी जाती हैं, प्रथम व्यक्तिपरक नीतियाँ तथा द्वितीय सामाजिक नीतियाँ। व्यक्तिपरक नीतियाँ मन, वचन, कर्म, विवेक, ज्ञान तथा सत्याचारण पर आधारित होती हैं। वहीं समाज आधारित नीतियों का प्रमुख आलंबन समत्व भावना, मैत्री, सत्संसगति, दान, धर्म, जनकल्याण, परोपकार आदि होते हैं।

2. वेद और मानव जीवनोपयोगी नीति

'ऋग्वेद' में जहाँ देवत्व का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है, वहाँ ऋषियों की दार्शनिक दृष्टि भी दिखाई पड़ती है। सृष्टि के मूल में एक ब्रह्म की सत्ता का ज्ञान सर्वप्रथम ऋग्वैदिक ऋषियों को हुआ था। 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदंति' (ऋग्वेद 10/164/46) के द्वारा ऋषि ने ब्रह्मांड के कण-कण में एक बह्म की सत्ता का प्रतिपादन किया है। ऋग्वे्द के अस्यवामीय सूक्त (1/164), नारदीयय सूक्त (10/129), पुरुष सूक्त (10/90), हिरण्यगर्भ सूक्त (10/129), वागाम्भृणी सूक्त (10/125) आदि सूक्त ऐसे हैं, जिनमें ऋषियों का दार्शनिक चिंतन अभिव्यक्त हुआ। वही ज्ञान आज सभी धर्मों का मूल आधार है। ऋग्वेद न केवल आध्यात्मिक तथा आधिदैविक चिंतन का आधार है, बल्कि मानव जीवन की श्रेष्ठता को स्थापित करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति के कर्तव्यों का निर्देश करता है। 'एक साथ चलो, एक साथ बोलो तथा एक साथ मिलकर चिंतन करो' इससे बढ़कर मानव जीवन के उत्थान का कोई अन्य मार्ग नहीं है।'' (डॉ. व्रज बिहारी चौबे: ऋक्सूतक्मणिमाला, पृष्ठ 11-12) डॉ. व्रज बिहारी चौबे के इस कथन के आलोक में देखें तो वेदों में मानव जीवन की प्रत्येक अवस्था के लिए नीति निर्धारण किया गया है, जिसमें से कुछ प्रमुख मानव जीवनोपयोगी तथा

भाषा ISSN 0523-1418

राष्ट्र के लिए हितकारक सूक्तियों को अग्रलिखित रूप में देखा जा सकता है

2.1 कर्म एवं न्याय संबंधी नीति

कदाचन स्तरीरसि नेंद्र सश्चयसि दाशुषे।
उपोपेन्नु मघवन् भूय इन्नु ते दानं देवस्य प्रच्यते।।
(सामवेद-300)

अर्थात् परमेश्वर कभी भी किसी के कर्म को निष्फल नहीं करता है और न किसी निरपराधी को दंड देता है। इस जन्म में और पुनर्जन्म में प्रत्येक मनुष्य के लिए कर्मफल निर्धारित है।

2.2 ब्राह्मणों के आचरण संबंधी नीति

ब्राहाणास: सोमिनो वाचमक्रत, ब्रह्म कृण्वन्त: परिवत्सरीणम्।
अध्वर्यवो धमिर्ण: सिघ्विदाना, आविर्भवन्ति गुह्या न केचित्।।
(ऋग्वेद 7/103/8)

अर्थात् ब्राह्मण वह है जो शांत, तपस्वी और यजनशील हो। जैसे वर्ष पर्यंत चलने वाले सोमयुक्त यज्ञ में स्तोता मंत्र ध्वनि करते हैं वैसे ही शब्द मेंढ़क भी करते हैं। जो स्वयं ज्ञानवान हो और संसार को ज्ञान देकर भूले-भटकों को सन्मार्ग पर ले जाता हो, ऐसों को ही ब्राह्मण कहते हैं। उन्हें संसार के समक्ष आकर लोगों का उपकार करना चाहिए। इससे ज्ञात होता है कि कर्म के अनुसार वर्ण व्यवस्था का निर्धारण किया गया और चारों वर्णों में से ब्राह्मण को संसार में ज्ञान का प्रकाश फैलाने का महत्वपूर्ण कार्य सौंपा गया था परंतु वर्तमान समाज के संदर्भ में यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि अब वर्ण व्यवस्था कर्माधारित न होकर जन्माधारित हो गई है। उत्तर वैदिक काल में चार-वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र व्यवसाय और जन्म के आधार पर स्पष्टत: विभेदित किए जाने लगे। इसके बाद इनका निर्धारण केवल जन्म के आधार पर होने लगा। किसी कुल विशेष में जन्म लेना श्रेष्ठरता का आधार बन गया है।

2.3 नेता, शिक्षक और अधिकारी संबंधी आचरण नीति

आचार्यों ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापति:।
प्रजापतिर्वि राजति विराडिंद्रोड भवद् वशी।।
(अथर्ववेद 11/5/16)

शिक्षक, नेता और अधिकारी ब्रह्मचारी हों। वे चरित्रभ्रष्ट न हों अन्यथा अनर्थमूलक असामाजिक तत्वों का विकास होगा और राष्ट्र पतित हो जाएगा। जैसे-जैसे सामाजिक विकास होता गया, वैसे-वैसे सामाजिकों में कुविचार, स्वार्थ और दुष्प्रवृत्तियों का भी विकास होने लगा। वेद में नेता, शिक्षक और अधिकारियों को भ्रष्ट न होने की नीति निर्देशित की गई है। परंतु आज देश की परिस्थितियों से हम सभी अवगत हैं ही। शिक्षक, नेता और अधिकारी जिनके कंधों पर देश और समाज के सुचारू संचालन का दायित्व है वे अपने कर्तव्यों का निर्वहन न करते हुए व्यक्तिपरक आचरण के स्तर पर स्वार्थ सिद्धि में उलझे हुए हैं तीनों ही देश एवं समाज हित से दूर होते जा रहे हैं।

2.4 वेदों में राष्ट्र रक्षा नीति

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं, देवा भूमि पृथिवीमप्रमादम।
सा नो मधु प्रियं, दुहामथो उक्षतु वर्चसा।।
(अथर्ववेद, 12/1/7)

राष्ट्र निर्माण के लिए सभी नागरिकों का कर्मशील एवं जागरूक होना आवश्यक है। आलसी और प्रमादी व्यक्ति जिस देश में होते हैं वह गुलाम हो जाता है। किसी भी देश की उन्नति हेतु आध्यत्मिक, सांस्कृतिक, औद्योगिक क्षेत्रों के साथ-साथ चारित्रिक आदि क्षेत्रों में प्रगति अपेक्षित होती है और उसी के फलस्वरूप समर्थ राष्ट्र का निर्माण संभव हो सकता है। भारत अंग्रेजों के पूर्व मुगलों के अधीन रहा इससे सीधा तात्पर्य यह है कि भारत के लोगों ने वेदों वर्णित इस नीति सिद्धांत को अपने राष्ट्रीय आचरण में शामिल नहीं किया और उसी का परिणाम हमारी गुलामी थी। वर्तमान में भी हमारा समाज भौतिकवादिता की गुलामी में गिरफ्तार होता जा रहा है।

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च समयंचौ चरत: सह।
तंल्लोकं पुण्यं प्रज्ञेयं यत्र देवा: सहाग्निना।।
(यजुर्वेद 20/25)

ज्ञान कर्म तथा उसका दान करते हुए राष्ट्र को जागृत रखना आवश्यक है वहीं शत्रु द्वारा दुष्टों का संहार भी आवश्यक है। ज्ञान विज्ञान से बौद्धिकता एवं आध्यात्मिकता का विकास होता है वहीं क्षत्रिय वर्ण द्वारा रक्षण होता रहता है तभी समाज सुरक्षित एवं संपन्न रहेगा। परंतु जब-जब क्षत्रण में कमी हुई हमें परतंत्रता का मुँह देखना पड़ता है।

2.5 विद्या दान सर्वोत्तम दान

न ता नशन्ति न दभाति तस्करो, नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति।

देवांश्च याभिर्यजते ददाति च, ज्योगित्ताभि: सचते गोपति:सह।।

(ऋग्वेद 6/28/3, अथर्ववेद 4/21/3)

सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ ज्ञान ज्ञानदान है क्योंकि इसे न कोई चुरा सकता है और न ही कोई इसे नष्ट कर सकता है। इसे जितना दान में दो ये उतना ही बढ़ता जाता है। परंतु वर्तमान में ज्ञानदान प्राइवेट ट्यूशन केंद्रों, कोचिंग सेंटरों तक सीमित हो गया है और उसके बदले ली जाने वाली मोटी रकम ने विद्या दान को मात्र व्यापार तक सीमित कर दिया है।

2.6 कृषक की श्रेष्ठता

धरती से अन्न उपजाने वाला कृषक वर्ग आज भले ही समाज में हाशियाकृत एवं अभावग्रस्त जीवन जीने के लिए विवश है परंतु भारत के धर्म ग्रंथों में सदा ही उन्हें सम्मानजनक एवं महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त रहा। सिर्फ वेद की बात करें तो हम पाते हैं कि –

निराहावान्कृणोतन सं वरत्रा दधातम।

सिंचा हा अवत मुद्रिणं वयं सुषेकमनुपक्षितम्।।

(ऋग्वेद 10/101/5)

भूमि पर पेट पालन करने वाला किसान होता है। अत: समाज में उसको श्रेष्ठ स्थान प्राप्त हो। शिक्षित जन ही अच्छे किसान हो सकते हैं।

3. परिवार और वेद

भारतीय आश्रम व्यवस्था में ब्रह्मचर्य, सन्यास और वानप्रस्थ तीनों गृहस्थ आश्रम पर आधारित हैं। गृहस्थ आश्रम के अंतर्गत परिवार समाज की सबसे महत्वपूर्ण इकाई है। परिवार में मूल भूमिका दंपत्ति की होती है। वेदों में नैतिक एवं मानवीय मूल्य सर्वकालिक हैं और भारतीय समाज का मूलाधार भी। वेद के नीतिपरक उपदेशों में से एक है दांपत्य जीवन के कर्तव्य अर्थात् पति पत्नी के कर्तव्य। वेदों में विशेषकर ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में विवाह संस्कार, पति और पत्नी कर्तव्यों तथा अधिकारों का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। 'अंत:कृणुश्व मां हृदि।' (अथर्ववेद, 7/36/1) सुखद दांपत्य के लिए आवश्यक है कि पति-पत्नी दोनों के हृदय मिले हुए हों और दोनों सदा एक दूसरे का ही चिंतन मनन करें।

3.1 'गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तम्।' (ऋग्वेद 10/85/36) अर्थात् पति-पत्नी की भरण-पोषण की पूर्ण व्यवस्था करने के लिए प्रतिबद्ध होता है। पति सौभाग्य के लिए पत्नी का पाणिग्रहण करता है और उसके भरण पोषण का उत्तरदायित्व लेता है। इसे वैवाहिक जीवन के प्रारंभ की प्रथम नीति माना जाता है।

3.2 'उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे, जायैव पत्य उषती सुवासा:।' (ऋग्वेद 10/71/4) से तात्पर्य है कि पत्नी का जीवन स्तर उन्नत रखने का दायित्व पति का है। पत्नी की शिक्षा एवं आर्थिक समृद्धि सुनिश्चित करते हुए जीवन में नवीनता का संचार करता रहे।

3.3 'न गृहं गृहमित्याहुग्रृहणी गृहमुच्यते'। अर्थात् भौतिक रूप से निर्मित घर तब तक घर नहीं है जब तक उसमें गृहणी (स्त्री) न हो। घर की संपूर्ण व्यवस्था का उत्तरदायित्व स्त्री का होता है अत: वह गृहस्वामिनी है।

4. उपसंहार –

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निवेदन किया जाना अनुचित न होगा कि वैसे तो वैदिक साहित्य धर्म प्रधान साहित्य है। देवताओं को लक्ष्यकर यज्ञ-याग का विधान तथा उनकी कमनीयस्तुतियाँ इस साहित्य की विशेषताएँ हैं परंतु लोकवृत्त प्रधानता भी इसका अभिन्न अंग है और लोकवृत्ता का ही परिणाम कहा जा सकता है कि वैदिक साहित्य कर्तव्य और नैतिक उत्तरदायित्व का बोध कराता है। यह उन कानून या नियमों की ओर भी संकेत करता है जो समाज में व्यक्ति के आचरण को नियंत्रित करते हैं। पं. लेखराम आर्य ने वेदों का महत्व बताते हुए कहा कि "जैसे बिना पढ़ाए कोई बालक विद्वान होकर दूसरों को सही रास्ता नहीं बता सकता उसी प्रकार वेद पढ़े बिना कोई भी मनुष्य इस संसार में स्वयं को और दूसरों को आनंद में नहीं रख सकता। वेदों में व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय प्रशासनिक व्यवस्था के परस्पर संबंध आदि विषयों का विस्तृत ज्ञान भरा हुआ है। वस्तुत: वेद समस्त सत्य विद्याओं का ग्रंथ है। यह एक क्षेत्र के लोगों के लिए सीमित नहीं है। अपितु यह ज्ञान सूर्य के प्रकाश के समान समस्त सृष्टि का पोषण एवं कल्याण के लिए है।" वे शिक्षाओं के आगार और ज्ञान के भंडार माने जाते

हैं क्योंकि वेद संसाररूपी सागर से पार उतरने के लिए नौका का कार्य करते हैं। वेद में मानव जीवन का प्रमुखता से विवेचन हुआ है, जिनमें जन्म से लेकर मृत्युपर्यंत गुण, आचरण, शैली संबंधी नीतियों का निर्धारण किया गया है ताकि ज्ञानांधकार में पड़े हुए मनुष्यों को प्रकाश मिल सके। वेद सन्मार्ग दिखाते हैं। पथभ्रष्टों को कर्तव्य का ज्ञान प्रदान करते हैं, अध्यात्मपथ के पथिकों को उत्तम मार्ग प्राप्ति का उपदेश देते हैं।

संदर्भ सूची

1. प्रो व्रजबिहारी चौबे: ऋक्सूक्तमणिमाला, प्रथम संस्करण 2010, कात्यायन वैदिक साहित्य प्रकाशन, होशियारपुर, पंजाब

2. पंडित श्रीराम शर्मा आचार्य: वेदों का दिव्य संदेश, प्रथम संस्करण 1958, युग निर्माण योजना, मथुरा

3. ऋग्वेद, https://vedpuran.files.wordpress.com/2011/10/rigved.pdf

4. सामवेद https://vedpuran files.wordpress.com/2011/10/samved.pdf

5. अथर्वेद https://vedpuran.files.wordpress.com/2011/10/arthved-part-1.pdf

6. https://www.punjabkesari.in/dharm/news/couple-will-follow-vedas-policy-stance-726352

7. https://hindi.webdunia.com/article/hindu/religion/मानव-जीवन-में-वेदों-का-महत्व-110032600029_1.htm

8. पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, दशम संस्करण 2001, शारदा निकेतन, वाराणसी

9. वाचस्पति गैरोला, संस्कृत साहित्य का इतिहास, प्रथम संस्कृरण 2009, चौखंबा विद्याभवन, वाराणसी

– सहायक आचार्य (हिंदी), राजकीय मॉडल महाविद्यालय, अरनियां खुर्जा, बुलंदशहर, उत्तर प्रदेश

❑❑❑

वैदिक ज्योतिष - विज्ञान अथवा आस्था

डॉ. शालिनी राजवंशी

वेदों को अपौरूषेय अर्थात् बिना पुरुष के, ईश्वर कृत माना जाता है, इन्हें श्रुति भी कहते हैं। हिंदुओं में अन्य ग्रंथ स्मृति भी कहलाते हैं अर्थात् मानव बुद्धि या श्रुति पर आधारित ज्ञान। वेद शब्द संस्कृत भाषा के विद् धातु से बना है। विद् का आशय विदित अर्थात् जाना हुआ, विद्या अर्थात् ज्ञान, विद्वान अर्थात् ज्ञानी। वेद भारतीय संस्कृति में सनातन धर्म के मूल अर्थात् प्राचीनतम और आधारभूत धर्म ग्रंथ हैं जिन्हें ईश्वर की वाणी समझा जाता है। वेद ज्ञान के भंडार हैं एवं वेदों से अन्य शास्त्रों, पुराणों की उत्पत्ति मानी जाती है।

जब मनुष्य ने आकाश के ग्रह-तारों को देखना, परखना, समझना शुरू किया और धीरे-धीरे जब ग्रह नक्षत्रों की चाल मनुष्य की समझ में आने लगी तब उसने अपने आस-पास की घटनाओं को ग्रह-नक्षत्रों की गतिविधियों से जोड़ने का प्रयास आरंभ कर दिया। और इस तरह ग्रह नक्षत्रों की गतिविधियों पर आधारित एक शास्त्र का प्रादुर्भाव हुआ जिसे हम ज्योतिष शास्त्र कहते हैं।

वेदो में कहा गया है- 'ज्योतिषां सूर्यादि ग्रहाणां बोधकं शास्त्रम'- अर्थात् सूर्य आदि ग्रहों का ज्ञान कराने वाले शास्त्र को ज्योतिष शास्त्र कहते हैं जिसका शाब्दिक अर्थ है ज्योति प्रदान करने वाला शास्त्र कहते हैं यह एकतरह से रास्ता बताने वाला शास्त्र है। जिस शास्त्र से संसार का ज्ञान, जीवन मरण का रहस्य और जीवन के सुख-दुख के संबंध में ज्योति दिखाई दे वह ज्योतिष शास्त्र है। ऐसा माना जाता है कि ज्योतिष शास्त्र का उदय भारत में हुआ। भारतीय ज्योति शास्त्र की पृष्ठभूमि 8000 वर्षों से भी अधिक पुरानी है पराशर मुनि ने होराशास्त्र का ज्ञान कराया, बाराहमिहिर ने ज्योतिष का संवर्धन करते हुए बृहद्संहिता लिखी। इसी कड़ी में प्रसिद्ध भास्कराचार्य और श्रीधर मुनि हुए।

भारत में भारतीय वैदिक ज्योतिष के अनुसार सभी खगोलीय पिंडों, चाहे सूर्य, चंद्र, ग्रह या तारे हों, ये स्थलीय घटनाओं को प्रभावित करते हैं या अपने विभिन्न विन्यासों द्वारा ऐसी घटनाओ के संकेत देते हैं। जन्म के समय ग्रहों और तारों का विन्यास एक आधारभूत जीवन की प्रवृत्ति, लक्षण, ताकत, कमजोरी का निर्धारण करता है। जन्मकुंडली को भारतीय वैदिक ज्योतिष में जन्मपत्री कहा गया है। जन्मकुंडली की व्याख्या ग्रह और राशि के बीच कोणीय संबंधों की रूपरेखा बनाती है।

इस विद्या का नाम वैदिक ज्योतिष इसलिए पड़ा क्योंकि इसकी उत्पत्ति वेदों से हुई है। वेदों की संख्या चार है जिसमें ऋग्वेद सबसे प्राचीन है। ऋग्वेद में ज्योतिष से संबंधित 30 श्लोक है। यजुर्वेद में 44 और अर्थववेद में 162 श्लोक मिलते हैं।

वेदों में ज्योतिष के जो श्लोक हैं उनका संबंध मानव भविष्य बताने से नहीं वरन ब्रह्मांडीय गणित और समय बताने से है। ज्यादातर श्लोक नक्षत्रों पर आधारित और उनकी शांति की महिमा से संबंधित हैं। इससे मानव के वर्तमान भविष्य पर क्या फर्क पड़ता है,

भाषा ISSN 0523-1418

यह स्पष्ट नहीं। भविष्य कथन के संबंध में वेद कहते हैं कि आपके विचार, आपकी ऊर्जा, आपकी योग्यता और आपकी प्रार्थना से आपके भविष्य का निर्माण होता है। इसीलिए वैदिक ऋषि उस एक परम शक्ति ब्रह्म (ईश्वर) के अलावा प्रकृति के पाँच तत्वों की भिन्न-भिन्न रूप में विशेष समय, स्थान तथा रीति से स्तुति करते थे।

बल्लित्था पर्वतानां खिद्रं बिभर्षि पृथवि।

प्र या भूमिं प्रवत्वति महा जिनोषी महिनि।

हे प्रकृष्ट गुणवती और महिमावती पृथ्वी देवी। आप भूमिचर प्राणियों को अपनी सामर्थ्य से पुष्ट करती हैं और साथ ही अत्यंत विस्तृत पर्वत समूहों को धारण करती हैं। वेदों में अग्नि, सोम, इंद्र, पृथ्वी, अंतरिक्ष द्युलोक, दिशाओं, उपदिशाओं, उर्ध्व, अधो दिशा व नक्षत्रों की मंत्र और उनके निमित्त आहुतियाँ प्रदान करने का उल्लेख है। अतः हमें वेदों से यह प्रमाण मिलता है कि ज्योतिष में सबसे महत्वपूर्ण ग्रह पृथ्वी है।

नारद पुराण के अनुसार ज्योतिशशास्त्र का ज्ञान ब्रह्मा से नारद को मिला। इस ज्ञान के कारण नारद देवताओं और असुरों में पूजनीय थे। 8300 ई. पू. से 3000 ई. पू. का समय ज्योतिष का स्वर्णिम काल माना जाता है। इस दौरान ज्योतिष शास्त्र पर कई महत्वपूर्ण शोध हुए। इस काल के अंत तक ज्योतिष शास्त्र वैज्ञानिक तौर पर विकसित हो चुका था।

वेदों का अंग होने के कारण ज्योतिष शास्त्र को वेदांग के नाम से जाना जाता था। इस काल में 18 ऋषियों ने ज्योतिषशास्त्र को विकसित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। अठारह ऋषियों के नाम हैं सूर्य, पितामह, व्यास, वशिष्ठ, अत्रि, पराशर, कश्यप, नारद, गर्ग, मरीचि, मनु, अंगिरस, पौलिश, लोमश, त्यवन, यवन, भृगु, शौनक्य।

ऐसी मान्यता है कि संसार में पहली बार ज्योतिष विद्या द्वारा भविष्य कथन करने वाले भृगु ऋषि थे। इन्होंने गणेशजी की सहायता से 50,000 अनुयानित कुंडलियों का निर्माण किया। परंतु महर्षि भृगु द्वारा रचित ग्रंथ का कुछ अंश ही अब उपलब्ध है।

भारत में ज्योतिष शास्त्र के अध्ययन की जड़ें वैदिक काल से देखी जाती हैं। ज्योतिषीय परंपराओ की झलक अर्थववेद में दिखाई देती है। भारतीय वैदिक ज्योतिष की यह प्राचीन पद्धति वैज्ञानिक प्रकृति की है जो ग्रहों की स्थिति और गणितीय गणनाओं पर आधारित है

भारतीय वैदिक ज्योतिष और पश्चिमी ज्योतिष परंपरा और पद्धति के बीच आधारभूत अंतर गणना की तकनीक में है। पश्चिमी ज्योतिष के राशि चक्र का आधार विषुवत है। पश्चिमी गणना में ग्रहों की स्थिति सितारों के साथ हमेशा बदलती रहती है। दूसरी ओर भारतीय ज्योतिष की गणना का आधार 12 राशियाँ और चंद्रमा आधारित 28 नक्षत्र हैं।

नक्षत्रो के नाम इस प्रकार है:

अश्विनी	भरणी	कृतिका	रोहिणी
मृगशीर्ष	आर्द्रा	पुनर्वसु	पुष्य
अश्लेषा	मघा	पूर्वफाल्गुनी	उत्तरफाल्गुनी
हस्त	चित्रा	स्वाति	विशाखा
अनुराधा	ज्येष्ठ	मूल	पूर्वाषाढ़ा
उत्तराषाढ़ा	श्रवण	धनिष्ठा	शतभिषा
पूर्वाभाद्रपद	उत्तराभाद्रपद	रेवती	अभिजीत

इतिहासकारों में वैदिक काल को लेकर बड़ा मतांतर है। मैक्समूलर इसे महज 1200 ई. पू. से 600 ई. पू. का मानते हैं। जबकि श्री अविनाश चंद्र दास तथा पावगी का मत है कि वैदिक काल इससे काफी प्राचीन है। इस मतांतर के बाजवूद ऐसी धारणा है कि वैदिक काल से पहले ही हमारे ऋषियों को ज्योतिष की जानकारी मिल चुकी थी। वे काल गणना द्वारा शुभ और अशुभ समय का निर्धारण करना सीख चुके थे।

विज्ञान क्या है? किसी भी ज्ञान का तार्किक अध्ययन विज्ञान है। विज्ञान का शाब्दिक अर्थ है सुव्यवस्थित ज्ञान। जब किसी ज्ञान को तर्क शक्ति और प्रयोग की कसौटी पर परखा जाता है तब वह ज्ञान विज्ञान की श्रेणी में आ जाता है। जैसे ग्रहों और नक्षत्रों का ज्ञान और गणना ज्योतिष है जब इनका तर्कशक्ति के आधार पर एक-एक अंग-उपांग का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया जाता है तब ज्योतिष शास्त्र ज्योतिष विज्ञान की श्रेणी में आ जाता है। भृगु संहिता जो ज्योतिष का एक प्रामाणिक ग्रंथ है, से राम की जन्म तिथि, उनका जन्म स्थान और उस समय के ग्रह नक्षत्रों के बारे में जान सकते हैं।

ज्योतिष विज्ञान में गणित और फलित दोनों प्रकार के विज्ञानों का समन्वय है। यह कोई चमत्कार नहीं है अपितु ऐसी विद्या है, जिसमें मनुष्य आकाशीय चमत्कारों से परिचित होता है। इससे सूर्योदय, सूर्यास्त, चंद्र और सूर्य ग्रहण, ग्रहों की स्थिति, ग्रहों की युति और मौसम के बारे में सही-सही व महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। अगर इसे विज्ञान की तरह वैज्ञानिक रीति से प्रयोग किया जाएगा तो निःसंदेह यह विज्ञान ही है लेकिन यदि इसे रूढ़ियों का पालन करते हुए अंधश्रद्धा से प्रयोग किया जाएगा तो यह मात्र मान्यता बन कर रह जाएगा।

वास्तव में ज्योतिष शास्त्र एक बहुत ही कठिन एवं जटिल विज्ञान है जिसके लिए मात्र अध्ययन ही नहीं अपितु साधना की आवश्यकता है। प्राचीन समय में खगोलशास्त्र, पदार्थ विज्ञान, आयुर्वेद और गणित का अध्ययन ज्योतिष शास्त्र में ही शामिल था। उस समय के एक डॉक्टर को ज्योतिषी और अध्यापक होना अनिवार्य माना जाता था।

कालांतर में आर्यभट्ट और बाराहमिहिर ने इस शास्त्र का संवर्धन किया। 2200 साल पहले बाराहमिहिर ने 27 नक्षत्रों और 7 ग्रहों (उस समय तक मात्र 7 ग्रहों की ही खोज हुई थी) तथा ध्रुव तारे को बेधने के लिए एक बड़े जलाशय में स्तंभ का निर्माण करवाया था। इसकी चर्चा भागवत् पुराण में है। स्तंभ में सात ग्रहों के लिए सात मंजिले और 27 नक्षत्रों के लिए 27 रोशनदान काले पत्थर से निर्मित करवाए थे। इसके चारों तरफ 27 वेधशालाएँ मंदिरों के रूप में बनी थी। प्राचीन भारतीय शासक कुतुबुद्दीन ऐबक ने वेधशालाओं को तुड़वाकर मस्ज़िद बनवा दी और अंग्रेजी शासन के दौरान इसकी ऊपरी दो मंजिले गिरा दी गईं। आज इस वेधशाला का 76 फुट लंबा हिस्सा आज भी विदयमान है जिसे हम कुतुब मीनार के रूप में जानते हैं एक अन्य उदाहरण कोणार्क के सूर्य मंदिर का है। इसे राजा नृसिंह देव ने बनवाया था। इस मंदिर के बाहर सूर्य रथ बना हुआ है। इस बारह पहियों वाले सात घोड़ो से खींचे जाने वाले रथ के 12 चक्र साल के 12 महीनों के, चक्र के 8 अर-आठ प्रहरों के प्रतीक हैं।

जयपुर और दिल्ली का जंतर मंतर भी वेधशालाएँ ही हैं जिन्हें आकाशीय पिंडों का खुली आँखों से अवलोकन करके फल ज्ञात करने हेतु बनवाया गया था। ज्योतिष शास्त्र को विज्ञान मानने के लिए इससे बड़ा प्रमाण क्या होगा, जो हमारे सामने प्रत्यक्ष उपस्थित हैं।

ज्योतिष एक बहुत ही कठिन विज्ञान है। ऐसा इसलिए है कि इसमें महादशा किसी ग्रह की और अंतर्दशाएँ, प्रत्यंतर दशाएँ, सूक्ष्म दशाएँ एवं प्राण दशाएँ भिन्न ग्रहों की होती हैं। फलतः इनकी सम्यक संगति बिठाकर आनुपातिक फल का निर्धारण एक जटिल एवं कठिन प्रक्रिया है। आज भी ज्योतिष के क्षेत्र में नित्य नए अनुसंधान हो रहे हैं। भारत के 28 विश्वविद्यालयों में ज्योतिष शास्त्र की पढ़ाई हो रही है। वास्तव में ज्योतिष एक साधना पद्धति है जिसके लगातार अध्ययन एवं अनुसंधान से ही सही फल को प्राप्त किया जा सकता है। ज्योतिष अद्वैत् का विज्ञान है। इस विज्ञान को सही सकारात्मक दिशा में विकसित किए जाने की आवश्यकता है।

जिस प्रकार शहद और घी दोनो पदार्थ अमृत समान गुण वाले होकर भी यदि दोनों को समान भाग में मिला दिया जाए तो विष का निर्माण कर देते हैं वैसे ही ज्योतिष के विज्ञान में यदि अंध आस्थाओं को मिला दिया जाए तो यह विष समान हो जाता है। यह हमारे ऊपर है कि हम ज्योतिष शास्त्र का विज्ञान की तरह प्रयोग करके इससे लाभान्वित होंगे, न कि इसे मान्यताओं की तरह ढोएँगे।

– बी-603, प्रिंस अपार्टमेंट, आई.पी. एक्सटेंशन, दिल्ली-110092

❑❑❑

वैदिक एवं लोकसाहित्य में ज्ञान-विज्ञान

डॉ. अर्चना झा

व्यक्ति एक लघुतम इकाई है इस ब्रह्मांड का जो हृदय एवं मस्तिष्क का संगम है और सर्जक भी है। सर्जना के केंद्र में न जाने कितने ग्रह-नक्षत्र हैं जिससे यह संपूर्णता पाता है। इनमें कितने तत्व, कारक एवं अंतर्निहित जिज्ञासाएँ हैं जो खोज एवं अन्वेषण का कारण बनती हैं। सामाजिक धरोहर, सामासिक संस्कृति के बुनियादी संवर्द्धन, परिष्करण एवं उन्नयन हेतु साहित्य आवश्यक हो जाता है। वेद, पुराण, आख्यान सभी साहित्य भाषा के माध्यम से व्यक्त होते हैं।

वैदिक साहित्य जो हमारे आचार-विचार, संस्कार में संलिप्त है, ज्ञान-विज्ञान का अतुल्य भंडार है। स्वामी दयानंद सरस्वती ने कहा कि वेद समस्त सत्य विद्याओं का सार है। 'ऋग्वेदादि भाष्य' में अस्यवामीय सूक्त के मंत्रों के आधार पर वायुयान बनाने की तकनीक के बारे में बताया जब विश्व में कहीं इसका कोई अविष्कार नहीं था। आदि से लेकर अंत तक जब हम विवेचन-विश्लेषण करते हैं तो एक तथ्य उभर कर सामने आता है कि समस्त सामाजिक सत्ता, सांस्कृतिक भूमि से लेकर ज्ञान-विज्ञान का मूल स्रोत वेद है। ज्ञान-विज्ञान को जब हम परिभाषित करते हैं तो विशिष्ट ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। 'तैत्तिरीयोपनिषद' में 'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेपि च' कहकर यज्ञ को विज्ञानरूप कहा गया है। परंतु विडंबना यह है कि, हमने अपने समृद्ध ज्ञान-विज्ञान को अतीत के पन्नों में बंद कर दिया। इसका उदाहरण एक उल्लेख में मिलता है कि, महाराष्ट्र के शिवकर तलपड़े बाबूजी ने 1882 में एक प्रयोगशाला स्थापित की और ऋग्वेद के मंत्रों के आधार पर आधुनिक काल के पहले विमान का निर्माण किया। इसका परीक्षण 1895 में मुंबई के चौपाटी समुद्र तट पर किया गया था। इस कार्यक्रम में प्रत्यक्षदर्शियों में सयाजीराव गायकवाड़, गोविंद रानाडे आदि उपस्थित थे। परंतु उन्हें अंग्रेज सरकार से किसी प्रकार की सहायता न मिली।

वेद अनंत है, जिसका अंत किसी को नहीं मिला। इस अथाह समुद्र में ज्ञान-विज्ञान की न जाने कितनी निधियाँ छिपी हैं। ज्ञान-विज्ञान के कितने सूत्र जिनका अन्वेषण व्यावहारिक स्तर पर आज भी अपरिहार्य है। यजुर्वेद में कहा गया है कि सूर्य की सुषुम्ण नामक किरण चंद्रमा को प्रकाशित करती है। चंद्रमा में अपना प्रकाश नहीं है। यास्क ने भी निरूक्त में इस बात की पुष्टि की है।

सषुम्णः सूर्यरश्मिश्चंद्रमा गंधर्व- यजुर्वेद18.40

अयाप्यस्यैको रश्मिश्चंद्रमंस प्रति दीव्यति।

आदित्योडस्य दीप्रिर्भवति-निरूवत 2.6

अथर्ववेद में वर्णित है कि, सूर्य की किरणें सभी पदार्थो को रंग देती है। यह $7 \times 3 = 21$ प्रकार की हैं, जिसमें 7 किरणें (गहरा) उच्च माध्यम और निम्न होकर 21 प्रकार के हो जाते हैं जिनसे सारे रंग बन जाते हैं।

आइंस्टाइन ने एक सिद्धांत प्रतिपादित किया कि द्रव्य और ऊर्जा में से कोई भी चीज न नष्ट की जा सकती है न उत्पन्न केवल इसका रूपांतरण होता है।

ऋग्वेद में इसी तरह का एक मंत्र है–

अदितेर्दक्षो अजायत्, दक्षाद् उ–अदितिःपरि–

ऋग्वेद 10.72.4

अर्थात् अदिति (Mass, Matter) से दक्ष (Energy) उत्पन्न होता है तथा दक्ष (Energy) से अदिति इसका अर्थ यह है कि, द्रव्य और ऊर्जा परस्पर रूपांतरित हो सकते हैं।

यजुर्वेद में उल्लेख है कि, पुरीष्य अग्नि (O_2 and Natural gas) को पुरीष्य अग्नि नाम दिया गया था। अथवा ऋषि द्वारा भूगर्भीय अग्नि (Gas) का पता कर उत्खन्न के द्वारा निकाला गया।

'भृगुशिल्प संहिता, में 16 विज्ञान और 64 प्रौद्योगिकी का उल्लेख है। वही ऋग्वेद में खगोल विज्ञान की परंपरा विविध आयामी है।

यज्ञ को आज का तथाकथित प्रगतिशील समाज बुर्जुआपन समझता है परंतु यह यज्ञ वातावरण को शुद्ध बनाता है तथा मानसिक शुद्धि का भी कार्य करता है। अथर्ववेद में वर्णन है कि, पर्यावरण के तीन संघटक तत्व हैं– जल, वायु और औषधियाँ।

त्रीणि छन्दासि कवयो वि येत्रिरे, पुरुरूंप दर्शनं विभ्रचक्षणम।

आपो वाता ओषधयः, तान्येकस्मिन् भुवन आर्पितानि।।

–अथर्ववेद 18.10.17

समाज, व्यक्ति प्रगतिशील बनता गया। इस प्रगतिशीलता में हम बहुत से प्राकृतिक संसाधनों को नष्ट करते गए। जिसके बहुत ही भयावह परिणाम आज हम भुगतने को अभिशप्त हैं।

प्रत्येक खोज, अनुसंधान हमें यही कहता है कि, हम जल के स्रोतों की रक्षा करें, पर्यावरण को प्रदूषित होने से बचाए। ऑक्सीजन अमृत है जिसके बिना एक पल के लिए भी नहीं रह सकते हैं। ऋग्वेद में इन सबकी तरफ संकेत किया गया है। एक श्लोक में कहा गया कि, वृक्ष लगाओ, इनकी सुरक्षा करो, जल के स्रोतों की रक्षा करो।

वनस्पतिं वन आस्थापर्यध्वं

नि पू दधिध्वम अखनन्त उत्सम्

ऋग्वेद–10.101.11

दूसरी तरफ कहा गया है कि वायु 'विश्वभेंषज' अर्थात् सारे रोगों की चिकित्सा है। अतः वायु को प्रदूषित न करें।

यददो वात ते गृहे अमृतस्य निधिर्हितः।

तेन नो देहि जीवसे।

ऋग्वेद – 10.186.3

आधुनिक जीवनशैली में आघात–व्याघात, कुंठाएँ, नैराश्य से मनुष्य अस्वस्थ असंतुलित होकर अनेक रोगों का शिकार हो रहा है। ऋग्वेद में सदियों पहले यह बताया गया है कि सूर्य की किरणें हृदय के रोगों और खून की कमी को दूर करती हैं। यदि उदय होते सूर्य की किरणें छाती पर ले तो सिरदर्द, पीलिया आदि रोग दूर हो जाते हैं।

उद्यन अद्य मित्रमह, आरोहन् उत्तंरा दिवम।

हृद्रोगं मम सूर्य, हरिमाणं च नाशय।।

ऋग्वेद 1.50.11

वेद केवल 'धर्म' के तथाकथित चौखटे में बद्ध नहीं है बल्कि यह इतिहास, विज्ञान, भूगोल, समाजशास्त्र सभी को स्वयं में समेटे हुए है। इसके गर्भ में ज्ञान के न जाने कितने स्वरूप, प्रक्रिया, तथ्य छिपे हैं जो समाज के सामने आने और व्यक्ति के दैनंदिनी से एकाकार होने को बाकी हैं।

ऋग्वेद और अर्थर्ववेद में विषुवत् (मध्यवर्ती रेखा) का उल्लेख है। इसी के आधार पर सूर्य की गति को उत्तरायण और दक्षिणायन भी कहते हैं।

विषूवता पर एनावरेण–ऋग्वेद–1.164.43

अथर्ववेद–9.10.25

मानव–जाति के आचार–विचार, संस्कार, साहित्य सभी के विनिमय का साधन भाषा है। वैदिक साहित्य के मंत्र, ऋचाओं, आख्यान, पुराण सबके प्रसार, संप्रेषण का मूल साधन भाषा है।

सृष्टि का मूल उत्स सर्जन है, यह सर्जना जब फलीभूत होती है तो आवश्यकता होती है एक पालक नियंता की। सृष्टि का यह सर्जन अतिक्रमण करने लगता है प्राकृतिक जीवन–जगत का तो नियंता के साथ

संहारक का भी आविर्भाव होने लगता है। यह सभी हमारे संस्कार, विचार के साथ रचने-बसने लगते हैं और उपनिषदों में ब्रह्मा, विष्णु, महेश रचने-बसने लगते हैं। और यह सभी हमारी आस्था बनकर हमारी संस्कृति में बस जाते हैं।

समाज जब विकसित होते है तब व्यक्ति परिमार्जित और परिष्कृत होता है, और उनका सामाजिक विस्तार ही नहीं भौगोलिक विस्तार भी होता है।

मनुष्य के विचार और दर्शन भाषा और सरहद की सीमा को लांघकर अपनी सामाजिक, सांस्कृतिक सत्ता को स्थापित करता है।

सामान्यत: लोकसाहित्य का अर्थ ग्राम या जनपदीय साहित्य या संस्कृति से लगाया जाता है परंतु यह जुड़ा होता है संपूर्ण लोकमानस से। लोककला, लोककथा, स्थापत्य कला, साहित्य और संस्कृति से संपृक्त है। यह एक कंठ से दूसरे कंठ, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होता है। साहित्य का मूलाधार समाज और संस्कृति है। जब हम लोकसाहित्य और लोकवार्ता का विवेचन-विश्लेषण करते हैं तो ज्ञान-विज्ञान की परतें खुलती जाती हैं। 'भारतीय लोकसाहित्य कोश' में वर्णित है कि, नृ-विज्ञान शास्त्र को मानव शास्त्र भी कहा जा सकता है। मनुष्य के शरीर और उसकी आत्मा के पारस्परिक प्रगाढ़ संबंधों के मूल में जो संबंध है उसका विवेचन नृ-विज्ञान अवश्य करेगा। यह संप्रदाय परिवर्तन और द्वंद्व का परिणाम है। दूसरी शाखा मानव विज्ञान मनुष्य की भौतिक, आध्यात्मिक, फलात्मक चेतना की विकास यात्रा का अध्ययन करती है। इसी के आलोक में मनुष्य की विविध मनोवृत्तियों की अकृत्रिम अभिव्यंजना लोक साहित्य है।

'भागवद्गीता' केवल एक धर्मग्रंथ नहीं है बल्कि गृहस्थों का उपनिषद है। 'गीता' हमें मंत्रबद्ध करती है कर्म से जो जीवन के प्रत्येक तंतु में पिरोया हुआ है। भागवद्गीता जिसकी आध्यात्मिकता कोरा प्रवचन या उपदेश नहीं है बल्कि शंखनाद करता है कर्म एवं ज्ञान के जयघोष का जो सामाजिक जीवन का मूल मंत्र है। यह मुक्ति का दरवाजा सबके लिए खोलती है और यह जयघोष करती है कि गृहस्थी में भी आदमी मोक्ष पा सकता है। (संस्कृति के चार अध्याय) यह सामाजिक जीवन के क्रोड़ में आध्यात्मिकता और भक्ति के बीज बिखेर जीवन गति, सद्गति, कर्म, सुकर्म का संपूर्ण आख्यान बन लोकजीवन में रचा-बसा है।

सी.एच.बर्न के अनुसार-लोकवार्ता वास्तविक अर्थो में प्रारंभिक मनुष्य के ज्ञान की अभिव्यक्ति है। यह अभिव्यक्ति चाहे दर्शन, धर्म अथवा विज्ञान के क्षेत्र में हो, संगठन अथवा धर्मानुष्ठान के रूप में हो, या इतिहास कविता साहित्य के उन्नत रूपों में हो। अलेक्जेंडर क्रेप ने लोकवार्ता का क्षेत्र उद्घाटित करते हुए लोकवार्ता के उद्देश्य की भी व्याख्या की है। इस दृष्टि से वे लोकवार्ता का उद्देश्य मानव के इतिहास का आध्यात्मिक पुर्ननिर्माण करना मानते हैं। इसी स्वरूप को एक ऐतिहासिक विज्ञान के रूप में माना जाता है।

लोकजीवन में जहाँ लोकजन की संस्कृति, आचार -विचार, उत्सव, मान्यताएँ हैं वही हस्तकलाएँ भी हैं जो उनके रोजगार से जुड़ी हैं तो जड़ी-बुटियों की महिमा जो लोक-चिकित्सा को प्रकृति का सहज वरदान है। तमिल साहित्य में इन लोकचिकित्सा के बारे में वर्णित है।

उडम्बू एल्ला नोबदू अम्मा-कन्ने
उनक्कू ओत्तडम कुडक्कटम्मा
एलमुम इनजी चारुम कन्न
उनक्कू एट्ट कुडुक्कदृम्मा

अर्थात् शरीर के अंगो में यदि दर्द है तो 8 बूंद इलायची और अदरक पीसकर पिलाऊँ क्या? क्योंकि ऐसा लोकजीवन में प्रयोग है। तमिल लोकगीतो मुहावरों और लोकोक्तियों में इनका प्रयोग है।

आद्र नीर वादम पोक्कुम
अरूनीर पित्तक पोक्कुम
सोद्र नीर

अर्थात् नदी के पानी में नहाने से 'वादम्' वायु शरीर के स्थान से दूर हो जाती है।

डोगरी लोकसाहित्य में भी उल्लिखित तथ्य पर अध्ययन और अनुसंधान आवश्यक है। युंग ने कलेक्टिव अचेतन को महत्व देकर 'आर्चेटाप' या मूलास्थिति की व्याख्या करते हुए उसे कथा में प्राप्त उस मूल घटना के साथ जोड़ने की कोशिश की, जिसे लोकवार्ता के क्षेत्र में

मोटिफ या अभिप्राय कहा जाता है। लायल के अनुसार इन गाथाओं का जन्म तब हुआ जब मनुष्य इतिहास और कल्पना में भेद करना नहीं जानता था। कार्न मदर और कार्न मेंडन की परिकल्पना संबंधी चर्चा फ्रेजर ने विस्तार के साथ अपने ग्रंथ गोल्डनबो में की है।

संथाल समाज में भी पाता गीत किसी ऐतिहासिक घटनाओं पर आधारित होते हैं। इसलिए पाता गीत में व्यक्ति, स्थान देश तथा काल का नाम मिलता है।

लोककथा, धर्माख्यान, नैतिक कथाओं में नैतिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा के साथ यह समाज में नैतिकता सदाचार आदि का प्रचार-प्रसार करता है। तुलसीकृत 'रामचरित मानस' जो अवधी भाषा में रचित है, जिसमें समरसता, समन्वय, आदर्श, मूल्य नीति के अनगिनत पाठ हमें मिलते हैं। जहाँ परोपकार और लोकमंगल की भावना सबके मूल में है। मनुष्य एक सामाजिक इकाई है और यह इकाई किस तरह एक संपूर्ण सहृदय, मनुष्य बन सकता है सभी सामाजिक सरोकारों पारिवारिक आस्था, मूल्य से युक्त यह ग्रंथ में सहज सरल रूप से ग्राहय है। जहाँ संपूर्ण ज्ञान-विज्ञान उलझ जाता है मानवीय मनोभूमि पर वहाँ 'रामचरित मानस' का कथ्य जवाब बनकर समाधान बनकर हमें मनोदैहिक भावभूमि से परे सौहार्द्र और सामरस्य से एकाकार करवाता है।

'लोकसाहित्य' का विस्तार सीमित न होकर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में है। समाज, ज्ञान-विज्ञान, आध्यात्म सभी इससे जुड़े हैं अपने मूल रूप में। यहाँ तक कि ऋषि मुनियों ने भी लोकमानस की इन वीथियों से लोककला, लोकवार्ता के माध्यम से संस्कार, आचार-विचार व्यवहार की भूमि तैयार की। मैथिली के लोकसाहित्य या लोकवार्ता की क्रोड़ में मंडन मिश्र के ज्ञान आध्यात्म से लेकर विद्यापति और जयदेव की अजस्र धारा प्रवाहित है। जहाँ षोडश संस्कार से लेकर जड़ी-बूटियों के खजाने के साथ-साथ वेद आध्यात्म विज्ञान सभी अंतरसलिला से बह उठते हैं।

युगीन समाज परिवेश जब वैज्ञानिक एवं तकनीकी रूप से विकसित हुआ है, तब मौसम संबंधी सूचनाएँ दे रहे हैं। जब हम संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिंदी या भारतीय साहित्य का अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि, यह सदियों पहले से संकेतित है। कालिदास का 'ऋतुवर्णन' हो या विद्यापति का 'बारहमासा' सभी मानसून का प्रारंभ आषाढ़ मास से लगाते हैं। कही हमें बज्जिका में इसका लालित्य देखने को मिलता है तो कहीं आषाढ़ी करमा गीत का सौंदर्य देखने को मिलता है। कहीं भोजपुरी में हम देखते हैं कि काले बादल घिरने का अर्थ है बारिश होगी ही।

"कइसे खेले जाइब सावन में कजरिया,
कारे-कारे बदरिया घिरे आइल ननदिया।"

भारतीय साहित्य ही नहीं प्राचीन संस्कृति में भी संगीत, साहित्य के मूल उत्स, स्रोत हमें मिलते हैं जो आज के आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के लिए प्रेरणा स्रोत हैं। जिनकी नींव पर आज की भव्य इमारत है। भारतीय संस्कृति में संगीत के प्रथम गुरु नृत्य का आचार्य भगवान शिव को माना जाता है। जिसकी बुनियाद पर ही आज संगीत, नृत्य सभी में न जाने कितने प्रयोग और परिवर्तन हो रहे हैं। परंतु यह बुनियादी समृद्धि ही आज की संभावनाओं और प्रयोग की मूल है।

डॉ. सत्येंद्र ने लिखा- धर्मगाथा स्पष्टतः होती है एक कहानी, पर उसके द्वारा अभीष्ट होता है किसी ऐसे प्राकृतिक व्यापार का वर्णन जो उसके सृष्टा ने आदिम काल में देखा था और जिसमें धार्मिक भावना का पुट होता है; किंतु है यह लोकसाहित्य जो विकास की विविध अवस्थाओं से होता हुआ धार्मिक अभिप्राय से संबद्ध हो जाता है।

लोकसाहित्य व्यष्टिगत नहीं समष्टिगत भाव, विचार, आस्था मान्यता का प्रतिफलन है। हरियाणा के विषय में गुरु गोरखनाथ भ्रमण करते हुए जब विचार व्यक्त करते हैं-

"कंटक देश, कठोर नर, भैंस मूत्र को नीर
करमा का मारा फिरे, बांगर बीच फकीर।"

यहाँ यह सामाजिक क्रोड़ में जो इतिहास तत्व है, वह लोकवाणी से निःसृत है और भौगोलिकता को भी अपनी संपूर्णता में दर्शाता है।

वैदिक साहित्य और लोकसाहित्य के आधार-भूमि बिना नृ-विज्ञान (एनथ्रोपोलौजी) जातिविज्ञान (एथनोलौजी) भाषा विज्ञान, शल्यचिकित्सा, खगोल विज्ञान, आयुर्वेद, गणित आदि सभी के स्रोत यह लोकवार्ता, प्राचीन

साहित्य वैदिक साहित्य है। वैदिक साहित्य में शून्य का स्वरूप हमें एक नई दिशा देता है। वैदिक गणित आज के सभी गणितीय सूत्रों का आधार है।

समाज, संस्कृति, साहित्य, ज्ञान-विज्ञान की आधार-शिला, मूल तत्व वैदिक साहित्य और लोकसाहित्य में छिपे हैं। परंतु आज आवश्यकता है कि हम अपने समृद्ध वैदिक साहित्य की उपयोगिता, महत्व को स्वीकारें उसका अध्ययन करें और दैनिक जीवन में आत्मसात् करें। लोकसाहित्य की सामासिकता और प्राचीन तकनीकी, पक्षों के बुर्जुआपन को समझकर उसके संवर्द्धन एवं परिमार्जन का कार्य अपरिहार्य है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. प्राचीन भारतीय धर्म एवं दर्शन - शिवस्वरूप सहाय

2. संस्कृति के चार अध्याय - रामधारी सिंह दिनकर

3. अथर्ववेद टीका - प्रस्तुति, आचार्य वेदांत तीर्थ

4. ऋग्वेद टीका - प्रस्तुति, आचार्य वेदांत तीर्थ

- विभागाध्यक्ष, हिंदी विभाग, सेंट एंस कॉलेज फॉर वीमेन, मेंहदीपट्नम, हैदराबाद

❑❑❑

वैदिक वाङ्मय एवं पर्यावरण विज्ञान

डॉ. कपिल गौतम

प्रबंधसार

वेद भारतीय चिंतन परंपरा के प्रकाशस्तंभ हैं। वेद (विद् धातु + घञ् प्रत्यय) का अर्थ है – ज्ञान। अर्थात् वह ज्ञान-राशि जिसमें स्तुति, कर्मकांड, गान, आभिचारिक क्रिया एव दर्शन इत्यादि विषय संकलित हैं। इन समस्त विषयों का समावेश वैदिक वाङ्मय में क्रमशः संहिता (ऋक्-यजुष्- साम- अथर्व), ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् रूप में मिलता है। ये वैदिक ऋचाएँ कर्मकांड तथा दर्शन के रूप में विज्ञान को प्रवाहित करती हुई दृष्टिगोचर होती हैं। आज वेदों को विज्ञान के उत्स के रूप में देखा जा रहा है तथा जब यह बात पर्यावरण विज्ञान के लिए हो तब यह यथातथ्य सत्य प्रतीत होती है। वैदिक ऋषियों ने घने जंगल में तपोवनों को विकसित कर, आश्रम में ब्रह्मचारी को शिक्षित कर और सूर्य, जल, नदी, वायु आदि प्राकृतिक तत्वों की दिव्य तत्वों के रूप में आराधना कर मानव जीवन को प्रकृति की दुनिया से जोड़ा। वैदिक युगीन बहुदेववाद, प्रकृति पूजा, मानव एवं प्रकृति के मध्य अंतः संबंध, ऋत- अनृत व्यवस्था, यज्ञ संस्था एवं तपोवन संस्कृति रूपी अनेक सिद्धांत पर्यावरण विज्ञान को आलोकित एवं अभिव्यंजित करते हैं। पर्यावरण चिंतन वर्तमान वैज्ञानिक युग का सर्वाधिक चर्चित बिंदु ही नहीं अपितु मानव जीवन पर मंडराते प्रदूषण एवं उससे उत्पन्न अस्तित्व संकट के संदर्भ में विचार का महत्वपूर्ण अंग बन गया है। मानव को प्रकृति जगत का महानायक और विजेता मानने वाले आधुनिक विज्ञान ने मनुष्य को प्राकृतिक संसाधनों के अतिदोहन तथा असीमित शोषण के रूप में आगे बढ़ा दिया है जिसका परिणाम आज मानव सभ्यता वायु, जल एवं ध्वनि प्रदूषणों से उत्पन्न घातक रोगों एवं अप्रत्याशित प्राकृतिक प्रकोपों के रूप में भुगत रही है। आज विश्वस्तर पर होने वाले पृथ्वी शिखर सम्मेलन, विश्व पर्यावरण सम्मेलन यथा क्योटो प्रोटोकॉल आदि, परमाणु आयुध अप्रसार संधि, पारिस्थितिकीय पाठ्यक्रम एवं पर्यावरण शिक्षा इन दुष्परिणामों से उबरने तथा भावी विनाश से बचाव हेतु किए जा रहे कतिपय प्रयत्न हैं। अंतर्जगत के सिद्ध योगियों द्वारा दृष्ट वैदिक ऋचाओं में निहित विचार संयंत्र एवं प्रयोगशाला के आधार पर विकसित आधुनिक विज्ञान के लिए पथप्रदर्शक बन सकता है, इस विचार को अभिलक्ष्य कर प्रस्तुत शोधपत्र पर्यावरण संरक्षण एवं नैसर्गिक संतुलन के रूप में पर्यावरण विज्ञान के वैदिक चिंतन को प्रस्तुत करता है।

मूल शब्द – वेद, पर्यावरण, ऋत, सूक्त, पारिस्थिकी, उपभोक्तावाद, प्राकृतिक संसाधन, पंचमहाभूत, प्राच्य, प्रतीच्य।

प्रस्तावना

आधुनिक औद्योगिक युग की देन है – भौतिक प्रगति एवं पर्यावरणीय असंतुलन। इस युग के मानव की बढ़ती हुई भोगलिप्सा लेने के नाम पर प्राकृतिक संसाधनों का अंधाधुंध दोहन करती है तथा देने के नाम पर प्रदूषण के अतिरिक्त कुछ नहीं दे पाती। प्राकृतिक संपदा पर इस दोहरी मार ने वैश्विक पर्यावरण को जर्जर कर डाला है। अमर्यादित विज्ञान एवं हिंसक प्रौद्योगिकी के द्वारा उपभोक्तावादी मानव ने हमारे परिमंडल को यांत्रिकी

मंडल बनाकर रख दिया है। वैदिक ऋषियों ने सघन वनों में तपोवन बनाकर प्रकृति जगत् के साथ मानव जाति को संबंधित किया। मानव को आश्रम –गुरुकुल में अंतेवासी– ब्रह्मचारी बनाकर शिक्षा प्रदान की। प्रत्येक दृश्यमान प्राकृतिक एवं भौतिक पदार्थ में देवत्व की प्रतिष्ठा की। यज्ञधूम्र से चर्तुर्दिक वातावरण में तथा मंत्रोच्चार से वाणी एवं अंतरात्मा में शुचिता का संचार किया। विपुल वैज्ञानिक प्रगति, असीमित औद्योगिक विकास, असंख्य उपकरणों के आविष्कार और पर्यावरण के प्रत्येक तत्व का प्रचुर ज्ञान – इन सब गर्वोचित उपलब्धियों को अर्जित करके भी आज गंभीर पर्यावरण– विपदाओं से घिरा मानव विकास और विज्ञान की दिशा पर पुनर्विचार करने को विवश हो गया है। इस अभीष्ट सिद्धि के लिए हमें वेदों के पर्यावरणीय चिंतन पर दृष्टिपात करना होगा।

1. पर्यावरण विज्ञान – प्राच्य एवं प्रतीच्य मत

पर्यावरण या पारिस्थितिकी को प्रायः पाश्चात्य विद्वानों की देन कहा जाता है और नवोदित विचारधारा कहा जाता है किंतु यह विषय नवीन नहीं है वरन् इसका नाम ही नया है। आधुनिक पर्यावरण के अध्ययन का सूत्रपात उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध (अर्नेस्ट हेकल, 1866) से माना जाता है। पारिभाषिक शब्दावली या प्रयोगशाला में बँधे आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधान के विपरीत प्राचीन काल में प्रकृति के तत्वों तथा तत्संबंधी तथ्यों के सूक्ष्म निरीक्षण चिंतन एवं मनन के द्वारा प्रकृति के संसर्ग में तपोवनों के उत्संग में ज्ञानार्जन किया जाता था। अतएव वैदिक युग में पर्यावरण विज्ञान के सूत्र सुगुंफित रहे हैं।

पर्यावरण का सीधा– सरल अर्थ है प्रकृति का आवरण। कहा गया है कि 'परितः आवृणोतीति पर्यावरणम्'। प्राणी जगत को चारों ओर से ढकने वाला प्रकृति तत्व, जिनका हम प्रत्यक्षतः एवं अप्रत्यक्षतः, जाने या अनजाने उपभोग करते हैं तथा जिनसे हमारी भौतिक, आत्मिक एवं मानसिक चेतना प्रवाहित एवं प्रभावित होती है, वही पर्यावरण है। यह अंग्रेजी भाषा के enviornment[1] शब्द का समानार्थक भी है। सुप्रसिद्ध प्रकृतिविद ई. फेडरोव ने प्रकृति को समस्त ज्ञात ब्रह्मांड के रूप में परिभाषित किया है।[2] आधुनिक पर्यावरण विज्ञान की अवधारणा के अनुसार "किसी भी जीव के चारों ओर विद्यमान भौतिक रासायनिक एवं जैविक परिस्थितियाँ उसका पर्यावरण है"।[3] यह पर्यावरण भौतिक, जैविक एवं सांस्कृतिक तीन प्रकार का कहा गया है। पर्यावरण संबंधी संकल्पना में सांस्कृतिक तत्व प्रमुख निर्णायक होते हैं।[4] पर्यावरण के प्रति उनके किसी भी व्यक्ति या समूह का व्यवहार पर्यावरण के प्रति दृष्टिकोण पर निर्भर करता है।[5] यह संकल्पना समाज की मौलिक मान्यताओं, जीवन दर्शन, नैतिक मूल्य आदि संस्कृति परक अवधारणाओं के अनुसार स्वरूप ग्रहण करते हुए जन सामान्य की जीवन शैली में प्रतिबिंबित होने लगते हैं। इस दृष्टिकोण से दो प्रधान मतों की चर्चा हम कर रहें हैं–

(i) प्रतीच्य मत –पाश्चात्य विचारकों ने पर्यावरण संबंधी संकल्पना का निरूपण नियतिवाद के रूप में किया। जिसमें प्रकृति को सर्वनियामक शक्ति मानकर नियतिवाद के रूप में स्थापित किया गया।[6] वैज्ञानिक प्रगति तथा औद्योगिक क्रांति द्वारा पर्यावरण को परिवर्तित करने की अभूतपूर्व क्षमता पाकर संभववाद का सूत्रपात किया गया जिसके अनुसार प्रकृति का मानव की स्वेच्छा से उपयोग करना और उसे अपने अनुकूल बना लेना सर्वथा संभव है।[7] तदुपरांत विकसित सापेक्षवाद में मानव एवं प्रकृति के प्रभावों की परस्पर सापेक्षता का प्रतिपादन किया गया।[8] इस प्रतीच्य मत पर्यावरण संबंधी संकल्पना का मूल बीज पाश्चात्य धर्म एवं दर्शन में निहित है। इस संदर्भ में लिन व्हाइट ने विशद अध्ययन द्वारा स्थापित किया कि यहुदी–ईसाई दर्शन में प्रकृति को ईश्वर प्रदत्त संपत्ति में निरूपित कर मानव को अपने सुख एवं लाभ के लिए उसके शोषण का अधिकार सौंपा गया है। ईसाई धर्मग्रंथ जेनेसिस के अनुसार मनुष्य पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधित्व करता है अतः वह प्रकृति का स्वामी है; –"And God said, Let us make man in our image, after our likeness and let them have dominion over the fish of the sea and over the fowl of the air and over the cattle and over all the earth and over creeping things creepth upon the earth"[9]

आधुनिक विश्व प्रतीच्य ज्ञान विज्ञान द्वारा संचालित है और पश्चिमी विचार शैली ही अधिकतर प्रचलित है। अतः आज उपभोक्तावाद ही देश एवं मानव समूह की संस्कृति बन चुकी है। तदनुसार प्रकृति के प्रति समस्त

मानव समाज का आचार-विचार स्वार्थपूर्ण एवं शोषणपरक बन गया है। कम से कम समय में अधिक से अधिक पा लेने की होड़, भौतिक उन्नति को ही विकास का आधार मानने की मूढ़ प्रवृत्ति, आवश्यकताओं को अनंत बनाकर येनकेन प्रकारेण उनकी पूर्ति करने की भोगलिप्सा आज सार्वभौमिक मानव संस्कृति में सर्वभावेन ओत-प्रोत हो गई है। इस प्रकार पर्यावरण के प्रति प्रतीच्य मत मानव-केंद्रित है। प्रकृति में जो कुछ है मानव के उपभोग के लिए है। मानव प्रकृति से आदान-प्रदान करने हेतु स्वतंत्र है क्योंकि उसका समस्त चराचर जगत पर स्वामित्व है।

(ii) प्राच्य मत -पर्यावरण संबंध प्राच्य मत प्रतीच्य मत की अपेक्षा भिन्न है। प्राच्य मत अथवा वैदिक मत की कतिपय मूलभूत मान्यताएँ और सामाजिक संस्थाएँ एवं व्यवस्थाएँ है जिन्होने पर्यावरण के मानव के कर्तव्य की संतुलित संभावना को समुपस्थित किया है। मानव अपने पर्यावरण, समाज तथा परिवार से जो भी ग्रहण करे वह ऋण के रूप में करे। माता-पिता के पितृ ऋण से, गुरु के ऋषि ऋण से, प्राकृतिक शक्तियों रूपी देवताओं के देव ऋण से मुक्त होने के लिए आदान के साथ-साथ विसर्जन का दायित्व भी निभाना होता है। पंचमहायज्ञों में देव यज्ञ में पंचमहाभूत सूर्यचंद्रादि प्राकृतिक शक्तियों के अर्थात् पर्यावरण के प्रति कृतज्ञता पूर्वक यथेष्ट दान का प्रतीक प्रस्तुत किया गया है। पर्यावरणगत संपदाओं को ईश्वरप्रदत्त मानकर, स्व स्वामिभाव न करते हुए मानव सुखोपभोग करे किंतु अपनी आवश्यकतानुसार ही; आवश्यकता से अधिक चोरी जैसा दंडनीय अपराध है।[10] ऋण मोचन एवं देय के विसर्जन के लिए आवश्यक त्याग भावना आत्म संयम के बिना विकसित नहीं हो सकती। सुखोपभोग का पूर्ण निषेध कुंठा का कारण बन सकता है तथा भोगलिप्सा का अतिरेक विनाशकारी हो सकता है। मानव जीवन में भोग एवं त्याग का संतुलन बना रहे इसीलिए वर्ण-आश्रम-पुरुषार्थ जैसी मौलिक अवधारणाओं की उद्भावना की गई। वैदिक साहित्य त्याग-तपस्या एवं तपोवन प्रधान तकार त्रय से सयुंक्त है। तपोवन वन्य जीवन के अभ्यारण्य, आत्मसंयम के प्रेरणा स्रोत तथा मानव प्रकृति के साहचर्य के अनुकरणीय आदर्श है। प्रकृति को मानवभोग्य मात्र समझने की अपेक्षा पशु-पक्षी, पेड़-पौधों, भूमि-जल आदि को दिव्यता से संपृक्त कर वैदिक वाङ्मय इन सब के प्रति पवित्रता एवं कृतज्ञता का विस्तार कर देते हैं। प्रकृति का संरक्षण उपयोगिता के लिए नहीं वरन नैतिक दायित्व के रूप में करने का आदर्श प्राच्यमत की विलक्षण विशेषता है।

पर्यावरण की संकल्पना को प्रतीच्य एवं प्राच्य मत में पर्याप्त भिन्नता है। प्रतीच्य मत सामथ्यवान के अस्तित्व (Survival of the fittest) के सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं जबकि प्राच्य मत (वैदिक मत) सर्वसाधन संपन्न मानव को सबसे निर्बल असहाय जीवों के संरक्षण एवं पोषण हेतु निर्देशित करते हैं। प्रतीच्य मत में मानव को पर्यावरण का केंद्र मानकर उसे स्वामी बनाया है जबकि प्राच्य मत में पर्यावरण को केंद्र मानकर मानव-पर्यावरण के मध्य संतुलन का निर्देश दिया गया है।

2. ऋत की संकल्पना

ऋत ब्रह्मांड का सार्वभौमिक नियम है। इसे ही प्रकृति का नियम कहा जाता है। ऋत का अर्थ सत्य और अविनाशी सत्ता है। बताया गया है कि सृष्टि के आदि में सबसे पहले ऋत उत्पन्न हुआ। ऋत को विश्व की व्यवस्था का नियामक माना गया है। समस्त देवता गण ऋत से ही उत्पन्न हुए है। सोम ऋत के द्वारा उत्पन्न तथा वर्धित होते हैं, सूर्य ऋत का विस्तार करते हैं तथा नदियाँ इसी ऋत का वहन करती हैं। यह ब्रह्मांड की सभी गतियों एवं अस्तित्व का कारण नियंता है। ऋत वैदिक धर्म में सही सनातन प्राकृतिक व्यवस्था और संतुलन के सिद्धांत को कहते हैं, यानि वह तत्व जो पूरे संसार और ब्रह्मांड को धार्मिक स्थिति में रखे या लाए। वैदिक संस्कृत में इसका अर्थ "ठीक से जुड़ा हुआ, सत्य, सही या सुव्यवस्थित" होता है। वैदिक साहित्य में 'ऋत' शब्द का प्रयोग सृष्टि के सर्वमान्य नियम के लिए हुआ है। संसार के सभी पदार्थ परिवर्तनशील हैं किंतु परिवर्तन का नियम अपरिवर्तनीय नियम के कारण सूर्य-चंद्र गतिशील हैं। संसार में जो कुछ भी है वह सब ऋत के नियम से बँधा हुआ है। ऋत को सबका मूल कारण माना गया है। ऋग्वेद के अनुसार -

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधि श्रितः ।।[11]

(देवता भी ऋत की ही उत्पति हैं एवं ऋत के नियम से बंधे हुए हैं। यह सूर्य को आकाश में स्थित रखता है।)

वेदों में वरूण को ऋत का देवता कहा गया है। वैसे तो वरूण जल एवं समुद्र के वेता के रूप में जाने जाते हैं परंतु मुख्यतया इसका प्रमुख कार्य इस ब्रह्मांड को सुचारू रूप से चलाना है। ऋग्वेद के अनुसार वरूण अपने ऊपर स्थित सिंहासन से सभी अद्‌भुत चीजों को देखता है, जो हो चुकी हैं एवं जो होने वाली हैं –

अतो विश्वान्यद्‌भुता चिकित्वाँ अभि पश्यति। कृतानि या च कर्त्वा।।[12] असंतुलन की स्थिति में ही वरूण अथवा ऋतं उपरोक्त वर्णित विभिन्न प्रकार की सृष्टि के नियमों को देखता है। अतः ऋत के सिद्‌धांत पर्यावरणीय महत्व यह है कि यह नियम, संतुलन तथा व्यवस्था के लिए बनाया गया जिसकी अनुपालना न केवल मनुष्य अपितु स्वयं पर्यावरणीय घटकों को भी परस्पर करनी पडती है।

3. प्रकृति के प्रति श्रद्‌धा भाव

वैदिक दृष्टा ऋषियों ने पृथ्वी–द्‌युलोक–अंतरिक्ष लोक त्रय की अवधारणा को अंगीकार करते हुए तत्रस्थानीय प्राकृतिक शक्तियों को दिव्य तथा उपास्य माना है। 'देवो दानात् दीपनात् द्‌योतनाद्‌वा' – जो दान दें, प्रकाशित हों और प्रकाशित करें वे देवता हैं। प्रकृति मानव को अन्न जल, वायु, प्रकाश, ऊर्जा, आवास–आवरण आदि सभी कुछ प्रदान करती है अतः प्रकृति के प्रति श्रद्‌धा भाव सर्वथा सार्थक है।

अथर्ववेद में पृथ्वी को, अपने में संपूर्ण संपदा प्रतिष्ठित कर, विश्व के समस्त जीवों का भरण–पोषण करने वाली कहा गया है।– "विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतों निवेषनी"।[13] जब हम पृथ्वी की संपदा (अन्न, वनस्पति, औषधि, खनिज आदि) प्राप्त करने हेतु प्रयास करें तो प्रार्थना कह गई है कि हमें कई गुना फल प्राप्त हो परंतु चेतावनी भी दी गई है कि हमारे अनुसंधान व पृथ्वी को क्षत विक्षत (खोदने) करने के कारण पृथ्वी के मर्मस्थलों को चोट न पहुँचे। इसके गंभीर घातक परिणाम हो सकते हैं।

वेदों में अग्नि (पावक) तत्व को सर्वाधिक शक्तिशाली एंव सर्वव्यापक माना गया है। उसे समस्त जड़–चेतन में ऊर्जा, चेतना तथा गति प्रदान करने वाला एवं नव सृजन का उत्प्रेरक माना गया है। अथर्ववेद में कहा गया है कि

'यस्ते अप्सु महिमा, यो वनेषु य औषधीषु पशुश्वप्स्वन्तः।

अग्ने सर्वास्तन्वः संरभस्व ताभिर्न एहिद्रविणोदा अजस्त्रः।।'[14]

(हे अग्निदेव आपकी महत्ता जल में (बड़गाग्नि रूप में), औषधियों व वनस्पतियों में (फलपाक रूप में), पशु व प्राणियों में (वैश्वानर रूप में) एवं अंतरीक्षीय मेघों में (विद्‌युत रूप में) विद्‌यमान हैं। आप सभी रूप में पधारें एवं अक्षय द्रव्य (ऐश्वर्य) प्रदान करने वाले हों।)

वेदों में सभी ऋषियों ने संपूर्ण ब्रह्मांड में सूर्य की केंद्रीय सत्ता को वैज्ञानिकता प्रदान की है जिसे कि आधुनिक विज्ञान अब क्रमशः समझ सकने में सक्षम हो पा रहा है। ऋग्वेद में कहा है – 'सूर्यो आत्मा जगतस्तस्थुश्च स्वाहा'[15] –(सूर्य समस्त सृष्टि की आत्मा/जन्मदाता है)। सूर्य से पदार्थों को पूर्णता तथा ज्योतिष विज्ञान के अनुसार मानव के जन्म के समय सूर्य तथा उसके आश्रित ग्रहों की स्थिति से मानव को समस्त गुण–सूत्र प्राप्त होते हैं। अथर्ववेद में सूर्यदेव को समस्त सृष्टि का प्रादुर्भावकर्ता, अवलंबनकर्ता एवं स्वामी माना गया है – 'सवा अंतरिक्षादजायत तस्मादंतरिक्ष जायत'[16] (अर्थात् सूर्य अंतरिक्ष से उत्पन्न हुए एवं अंतरिक्ष उनसे उत्पन्न हुआ है)

वायु पर्यावरण का प्रमुख घटक है। वैदिक वांङ्मय में वायु में देवत्व की अवधारणा की गई है। वर्तमान में अन्यथा की स्थिति के कारण ही वायु की प्राण पोषक शक्ति–ऑक्सीजन दूषित होकर सृष्टि के जीवन को दुष्प्रभावित कर रही है–

"संतेवायुर्मातरिश्वा दधातूत्तानाया हृदयं यद्‌विकस्तम्।

यो देवानां चरसि प्राणथेन कस्मैदेव वशडस्तु तुभ्यम्"[17]

(अर्थात् उर्ध्‌वमुख यज्ञकुंड की भाँति पृथ्वी अपने विशाल हृदय को मातृवत प्राणशक्ति संचारक वायु, जल एवं वनस्पतियों से पूर्ण करें। वायुदेव दिव्य प्राणऊर्जा से संचारित होते हैं। अतः पृथ्वी (अपने दूषित उच्छवास–कार्बन उत्सर्जन से उन्हें दूषित न करें।)

इस प्रकार प्राकृतिक तत्वों की अपरिहार्य महिमा का वर्णन वेदों के पर्यावरण विज्ञान का मुख्य आयाम है।

वैदिक बहुदेववाद विभिन्न प्राकृतिक तत्वों के सापेक्षिक महत्व के पर्यावरणीय तथ्य का प्रकारांतर से प्रतिपादन करता है।

4. मानव-पर्यावरण संबंध

पर्यावरण विज्ञान के तीन मूलभूत अध्ययन बिंदु हैं-

1. पर्यावरण का व्यवस्थित सूक्ष्मावलोकन (पर्यावरण का यथार्थ ज्ञान)

2. मानवकृत संभाव्य परिवर्तनों का पूर्वज्ञान (मानव पर्यावरण के मध्य संबंधों का समाकलन)

3. पर्यावरण पर मानवकृत प्रभावों का नियमन (पर्यावरण के प्रति करणीय - अकरणीय विवेक)

यहाँ हम द्वितीय बिंदु पर चर्चा करने जा रहे हैं।

वैदिक साहित्य में पृथ्वी तत्व को माता कहकर सम्मानित किया गया है -"द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बंधुर्मे माता पृथिवी महीयम्।"[18] अर्थात् द्यौ (आकाश) मेरे पिता हैं, बंधु वातावरण मेरी नाभि है, और यह महान् पृथ्वी मेरी माता है। ऋग्वेद में आकाश व पृथ्वी की पिता एवं माता के रूप में स्तुति करते हुए सभी प्राणियों की रक्षा की कामना की गई है - "पिता माता च भुवनानि रक्षतः।"[19]

अथर्ववेद के भूमिसूक्त में भी पृथ्वी माता के रूप में पूजनीय है - 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।'[20] पृथ्वी पर विराजमान जीव एवं वनस्पति के महत्व को वेदों द्वारा स्वीकार कर उनके संरक्षण की आवश्यकता विभिन्न मंत्रों के द्वारा की गई है। 'छान्दोग्योपनिषद्' के अनुसार जानवरों में किसी भी प्रकार का दोष नहीं खोजना चाहिए- 'पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या .....।'[21] गाय, गरूड, चूहा, सिंह, बैल, उल्लू आदि को वैदिक संस्कृति में किसी न किसी देवता से जोड़कर उनके संरक्षण का सिद्धांत दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद में वनस्पतियों से पूर्ण वनदेवी की पूजा की गई है-

"आञ्जनगन्धिं सुरभिं बहुवन्नामकृषीवलाम्।
प्राहं मृगाणां मातरमरण्यानिमशंसिषम्।।"[22]

भावार्थ - अब मैं वनदेवी (आरण्ययी) की पूजा करता हूँ जो कि मधुर सुगंध से परिपूर्ण है और सभी वनस्पतियों की माँ है और बिना परिश्रम किए हुए भोजन का भंडार है।

अतएव सभी प्रकार की औषधि, वनस्पति, अन्न, वन, जल अंतरिक्ष के साथ मानव के मधुर संबंधों की अभिलाषा की गई है।[23] अतः वेद मानव एवं पर्यावरण के मध्य सामंजस्यपूर्ण एवं सहयोगात्मक संबंधों के सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं।

5. प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन

पर्यावरण पर मानव की व्यापक प्रभावशीलता के कारण मानव के विभिन्न क्रियाकलापों के पर्यावरणीय प्रभावों का पूर्वानुमान एवं नियंत्रण अत्यावश्यक हो गया है। इस उद्देश्य की प्राप्ति में विफलता ही पर्यावरणीय समस्याओं का मूल कारण है। पर्यावरण विज्ञान भी उक्त उद्देश्य की प्राप्ति हेतु प्रयासरत है परंतु वैदिक वाङ्मय की सुदीर्घ परंपरा में ऐसा उच्च स्तरीय प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन अनुस्यूत है जिसे अनुप्रयुक्त पारिस्थिकी (Applied Ecology) की श्रेणी में स्थापित किया जा सकता है। औद्योगीकरण शहरीकरण एवं बढ़ती जनसंख्या के कारण सघन खेती अपनाने से इन संसाधनों का अनुचित दोहन होने से इन पर दबाव बढ़ा है और संपूर्ण जीव जगत का अस्तित्व खतरे में है। प्राकृतिक संसाधन प्रबंध को वैदिक साहित्य में अत्यंत सटीक दृष्टिकोण से स्पष्ट किया है। मंत्रदृष्टा ऋषियों ने पर्यावरण एवं मानव के मध्य सामंजस्य पूर्ण संबंध को जानकर उपभोग के स्थान पर सहयोग तथा शोषण के स्थान पर पोषण के दर्शन को प्रस्तुत किया। आदान के स्थान पर प्रदान क्रम को बनाए रखने के लिए यज्ञ संस्था का सूत्रपात किया, अतिभौतिकता के दूषित परिणामों से बचने के लिए आत्मसंयम का मार्ग प्रस्तुत किया। ऐतेरेयोपनिषद् के अनुसार ब्रह्मांड का निर्माण पाँच तत्वों पृथ्वी, वायु, आकाश, जल एवं अग्नि को मिलाकर हुआ है -'इमानि पंचमहाभूतानि पृथिवीं, वायुः, आकाशः, आपज्योतिषीं।'[24] इन्हीं पाँच तत्वों के संतुलन का ध्यान वेदों में रखा गया है। इन तत्वों में किसी भी प्रकार के असंतुलन का परिणाम ही सूनामी, ग्लोबल वार्मिंग, भूस्खल, भूकंप आदि प्राकृतिक आपदाएँ हैं। वेदों में प्रकृति के प्रत्येक घटक को दिव्य स्वरूप प्रदान किया गया है। वैदिक ऋषियों ने प्रकृति एवं मानव की आवश्यकताओं के मध्य सामंजस्यपूर्ण संबंध को पहचानकर उपभोग के स्थान पर उपासना का जीवन दर्शन विकसित किया,

आदान के साथ विसर्जन के क्रम को बनाए रखने के लिए यज्ञ का विधान किया, अतिभौतिकता के दूषित परिणामों को रोकने के लिए आत्म संयम का आदर्श स्थापित किया। ईशावास्योपनिषद् का सुविख्यात उद्घोष पुरातन दृष्टि से प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन को अभिव्यक्त करता है –

"ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।"[25]

(इस संसार में जो भी कुछ गतिशील/ परिवर्तनशील/ वृद्धिक्षयात्मक है, वह समस्त ईश्वर के द्वारा व्याप्त है। अतः त्यागपूर्वक भोग करो अन्य संपदा का लोभ मत करो।)

यह मंत्र संदेश देता है कि प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग तो मनुष्य को करना ही है इसी के साथ किंतु त्याग भाव का समावेश भी रहना चाहिए। लोभ वृत्ति जो आज भौतिकतावाद एवं व्यापारवाद में परिवर्तित हो चुकी है, के नियंत्रण हेतु ही भोग तथा त्याग के मध्य समन्वय की स्थापना की गई है जो सच्चे अर्थों में प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन है।

6. पर्यावरण संरक्षण संबंधी वैदिक मत

वेदों में दो प्रकार के पर्यावरण को शुद्ध रखने पर बल दिया गया है – आंतरिक एवं बाह्य। सभी स्थूल वस्तुएँ बाह्य एवं शरीर के अंदर व्याप्त सूक्ष्म तत्व जैसे मन एवं आत्मा आंतरिक पर्यावरण का हिस्सा है। आधुनिक पर्यावरण विज्ञान केवल बाह्य पर्यावरण शुद्धि पर केंद्रित है। वेद आंतरिक पर्यावरण जैसे मन एवं आत्मा की शुद्धि से पर्यावरण की अवधारणा को स्पष्ट करता है। बाह्य पर्यावरण में घटित होने वाली सभी घटनायँ मन में घटित होने वाले विचार का ही प्रतिफल हैं। ऋषियों ने संपूर्ण प्राकृतिक शक्तियों को शांत करने व लोक कल्याणकारी बनाए रखने की प्रार्थना की है। अथर्ववेद में उल्लिखित शांति सूक्त का पर्यावरण रक्षण में अपरिमित महत्व है–

"शान्ता द्यौः शान्ता पृथ्वी शान्तमिदमुर्वन्तरिक्षम्।
शान्ता उदन्वतीरापः शान्ता नः सन्त्वोषधीः।।[26]
शं नो मित्रः शं वरूणः शं विष्णुः शं प्रजापतिः। शं नो इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो भवत्वर्यमा।।"[27]

(द्युलोक, पृथ्वी, विस्तृत अंतरिक्ष लोक, समुद्रजल, औषधियाँ ये सभी उत्पन्न होने वाले अनिष्टों का निवारण करके हमारे लिए सुख शांतिदायक हों। दिन के अधिष्ठाता देव सूर्य (मित्र) रात्रि के अभिमानी देव वरूण, पालनकर्ता विष्णु, प्रजापालक प्रजापति, वैभव के स्वामी इंद्र, बृहस्पति आदि सभी देव शांत हों एवं हमें शांति प्रदान करने वाले हों। पृथ्वी, अंतरिक्ष, द्युलोक, जल, औषधियाँ, वनस्पतियाँ एवं समस्त देव हमारे लिए शांतिप्रद हों। शांति से भी असीम शांति प्रदान करें।) जल की महत्ता एवं उपयोगिता का महिमामंडन वेदों में अत्यधिक हुआ है। 'शतपत ब्राह्मण' में इसे अमृत कहा गया है – 'अमृत वा आपः।'[28] केवल वैदिक संस्कृति में ही नदियों को माँ एवं इनके जल को मोक्ष का माध्यम कहा गया है। 'पदम् पुराण' जल प्रदूषण की कड़े शब्दों में भर्त्सना करता है –

"सुकूपानां तड़ागानां प्रपानां च परंतप।
सरसां चेव भैत्तारो नरा नरकगामिनः।"[29]

(वह व्यक्ति जो तालाब, कुओं अथवा झील के जल को प्रदूषित करता है, नरकगामी होता है)

वैदिक संस्कृति के लोग वायु के महत्व से भलिभाँति परिचित थे। सुखी एवं दीर्घ जीवन हेतु उन्होंने शुद्धि एवं प्रदूषण रहित वायु पर बल दिया है। वायु शरीर के अंदर प्राण के रूप में व्याप्त है – 'वायुर्वा प्राणो भूत्वा शरीरमाविशत्।'[30] उक्त मंत्रों से यह भी सूचित होता है कि प्रदूषित वायु में श्वास लेने से मनुष्य अल्पजीवी तथा स्वच्छ वायु में कार्बन-डाईआक्साइड की मात्रा कम तथा ऑक्सीजन की मात्रा अधिक होती है। वायु-प्रदूषण से बचाव के लिए सबसे कारगर उपाय वनस्पति-आरोपण है। वेद का संदेश है- 'वनस्पति वन आस्थापयध्वम्'[31] अर्थात् वन में वनस्पतियाँ उगाओ। यदि वनस्पति को काटना भी पड़े तो ऐसे काटें कि उसमें सैकड़ों स्थानों पर फिर अंकुर फूट आएँ। वेद का कथन है–

"अयं हि त्वा स्वधितिस्तेतिजानः प्रणिनाय महते सौभगाय।
अतस्त्वं देव वनस्पते शतवल्शो विरोह, सहस्रवल्शा वि वयं रुहेम।।"[32]

(हे वनस्पति, इस तेज कुल्हाड़े ने महान सौभाग्य के लिए तुझे काटा है, तू शतांकुर होती हुई बढ़, तेरा

उपयोग करके हम सहस्रांकुर होते हुए वृद्धि को प्राप्त करें।)

जल संरक्षण के संदर्भ में भी वैदिक वाङ्मय ने उद्बोधन किया है। वेद मनुष्य को प्रेरित करता है –'मापो मौषधीहिंसी':[33] (तू जलों की हिंसा मत कर, औषधियों की हिंसा मत कर।) जलों की हिंसा से अभिप्राय है उन्हें प्रदूषित करना तथा ओषधियों की हिंसा का तात्पर्य है उन्हें विनष्ट करना।

वेदों की ऋतंभरा संस्कृति बुद्धि एवं मानस को शिव संकल्पात्मक बनाने की समर्थक है। जिससे विचार सदा शुद्ध एवं शुभ रहें। ऐसा होने पर सृष्टि के कणमात्र के प्रति भी किसी के मन में स्वार्थ जन्य अनिष्टभाव उत्पन्न नहीं हो सकेगा। जीवन का सिंचन- पोषण- संचालन विकास करने वाली जो भी शक्ति तथा तत्व है उन सभी के प्रति मानव का तादात्म्य एवं साहचर्य भाव स्थापित होना आवश्यक है। वेद हमें प्रकृति के साथ जीवन जीने की ऐसी अंतर्दृष्टि प्रदान करते है, जिससे समस्त पर्यावरण में संतुलन स्वरूप शांति का अभीष्ट सर्व सिद्ध बन सकें।

उपसंहार

पर्यावरण विज्ञान जैसे संश्लिष्ट विषय के सर्वांगीण अध्ययन के लिए समस्त प्रकृति का सांगोपांग अध्ययन और ज्ञान आवश्यक है। इस दृष्टि से वैदिक वाङ्मय में प्रचुर एवं प्रामाणिक सिद्धांत उपलब्ध होते हैं। वैदिक साहित्य में समाविष्ट प्रकृति प्रेम प्रकृति के महत्व एवं संरक्षण के प्रति सजग सचेष्टता का भावपूर्ण संसूचक है। ऋषियों ने न केवल पर्यावरण को प्रदूषित करने के मानव जीवन एवं सृष्टि पर पड़ने वाले हानिकारक विनाशक परिणामों की ओर संकेत किया अपितु पर्यावरण की रक्षा एवं हम जो कुछ प्रकृति देवों से प्राप्त कर रहे हैं उसे उन्हें लौटा कर, पर्यावरण को प्रदूषित करने की अपेक्षा, उसे संरक्षित एवं सवंर्धित करने का भी आदेश दिया है। यह दृष्टिकोण आधुनिक पर्यावरण-वेत्ताओं द्वारा स्वीकृत प्रकृति संबंधी विश्व शासन पत्र (The World Charter of Nature,1982) के सभी नियमों का समाहार कर लेता है। वस्तुतः वैदिक पर्यावरण ज्ञान के अनुप्रयुक्त पक्ष को ही अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। पर्यावरण संरक्षण के प्रति सजगता, प्रभावशाली उपायों का ज्ञान, उन उपायों के समुचित क्रियान्वयन की क्षमता सुसमृद्ध पर्यावरण ज्ञान के अभाव में विकसित होना असंभव है। अतः वेदों का पर्यावरण विज्ञान संबंधी आयाम मौलिक एवं अनन्य साधारण है।

संदर्भ ग्रंथ सूची-

1. चंद्र, ईश्वर. ऋग्वेद संहिता, परिमल पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2011.

2. सातवलेकर, दामोदर, यजुर्वेद संहिता, स्वाध्याय मंडल, पारडी, गुजरात 1986.

3. शर्मा, पं. रामस्वरूप, सामवेदसंहिता, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 2011

4. कंबोज, जियालाल, अथर्ववेद संहिता, शिवालिक प्रकाशन, दिल्ली, 2019

5. सरस्वती, स्वामी जगदीश्वर, ईशावास्योनिषद्, विजयकुमार गोविंदराम हासानंद, दिल्ली, 2017

6. स्वामी, चिन्मयानंद, ऐतरेयोपनिषद्, सेंट्रल चिन्मय मिशन ट्रस्ट, अर्नाकुलम, केरल, 2001

7. रामास्वामी, एच. एन., तैत्तिरियोनिषद्, भारतीय विद्याभवन, वाराणसी, 1985

8. स्वामी, शंकरानंद, छांदोग्योपनिषद्, सेंट्रल चिन्मय मिशन ट्रस्ट, अर्नाकुलम, केरल, 2007

9. गोयंदका, हरिदास, ईशादि नौ उपनिषद् (शांकरभाष्य हिंदी अनुवाद सहित), गीताप्रेस, गोरखपुर, विक्रम सम्वत्, 2069

10. शास्त्री, अशोक चंद्र, पद्मपुराण, परिमल पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1989

11. त्रिवेदी, प्यारेलाल, श्रीमद्भागवतमहापुराण, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, नई दिल्ली, 2019

12. उपाध्याय, गंगाप्रसाद, शथपथबाह्मण, विजयकुमार गोविंदराम हासानंद, दिल्ली, 1987

13. श्रीमद्भागवद्गीता (शांकरभाष्य हिंदी अनुवाद सहित), गीताप्रेस, गोरखपुर, वि.सं. 2072

14. उपाध्याय, बलदेव, वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, शारदा संस्थान वाराणसी, 1955

15. अग्रवाल, कन्हैयालाल, विंद्यक्षेत्र का ऐतिहासिकभूगोल, सुषमा प्रेस, सतना, 1987

16. साहू, रामदेव, वैदिक सूक्तावली, श्याम प्रकाशन, जयपुर, 2006

17. शर्मा, विश्वनाथ, ऋक् सूक्तावलि, अभिषेक प्रकाशन, जयपुर, 1995

18. ओझा, श्रीकृष्ण, वैदिक सूक्त मुक्तावली, अभिषेक प्रकाशन, 2005

19. गैरोला, वाचस्पति, वैदिक साहित्य और संस्कृति, चौखम्भा प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003

20. शास्त्री, कपिलदेव, शुक्ल, चुंनी लाल हिंदी निरुक्त, साहित्य भंडार, मेरठ, 1967

21. पांडेय, देवेंद्रनाथ, यास्कप्रणीतं निरुक्तम्, हंसा प्रकाशन, जयपुर, 1999

22. ईशादि नौ उपनिषद् - शांकरभाष्यसहित, गीता प्रेस, गोरखपुर वि.सं., 2062

23. ओझा, मधुसूदन, महर्षि कुल वैभवम्, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, 1985

24. द्विवेदी, कैलाशनाथ, ऋग्वैदिक भूगोल, साहित्य निकेतन कानपुर, 1985

25. गैरोला, वाचस्पति, भारतीय संस्कृति और कला, उत्तरप्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, 1985

26. द्विवेदी एवं सिंह, मानव भूगोल की समीक्षा, किताब महल, इलाहाबाद, 1966.

27. भंडारी, चंद्रराज, वनौषधि चंद्रोदय, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1985.

28. Semple, Ellen Churchill, Influences of Geographic Environment on the Basis of Ratzel's System of Anthropo-Geography, Greenbie Press, 2007.

29 Mishra R. & Singh K.P. – Ecology in India, : A Birds Eye View, Indain Botenical Society, Vol 52 A (1971)

30 Samuel N. & Forrest R. Pitts Dickens, Introduction to Cultural Geography, a Study of Man and His Environment, Ginn & Company,boston,USA,1970.

31. Lange Johann Peter, Genesis (The First Book of Moses), Nabu Press, Online

32. White L. Jr., Religion and Ecological Crisis: The "Lynn White Thesis" at Fifty (Rutledge Studies in Religion Book 50 Routledge; 1 edition 2016.

33. Oxford Advanced Learners Dictionary, Oxford University Press; 9th Revised edition, 2014.

34. Macmillan Dictionary English Dictionary, MacMillan/A. & C. Black; 2 Pap/Cdr editions, 2012.

– सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग, वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा, राजस्थान

❑❑❑

वर्ण व्यवस्था का वैदिक विज्ञान

डॉ. माधव कृष्ण

आधुनिक संदर्भों में वर्ण व्यवस्था और जाति व्यवस्था का एक ही अर्थ लिया जाता है। और इस प्रकार भारतीय समाज में प्रचलित जटिल जाति व्यवस्था को ही लोग वर्ण व्यवस्था मानते हैं। अतः अनेक लोग और विचारधाराएँ जाति व्यवस्था के दोषों को वर्ण व्यवस्था का दोष ही मानते हैं। क्योंकि वर्ण व्यवस्था सनातन धर्म के शास्त्रों में वर्णित है, अतः इन दोषों के कारण वर्ण व्यवस्था के स्रोत पर भी उंगली उठती है। इस प्रकार सनातन धर्म के शास्त्रों को मानवता विरोधी मानकर, विरोधी उनके बहिष्कार का प्रयास करते हैं। यह कुछ इस प्रकार दिखता है –

जाति व्यवस्था ⟷ वर्ण व्यवस्था ⟶ सनातन शास्त्र ⟶ आज का प्रचलित हिंदू धर्म

समाजवादी वामपंथी चिंतक डॉ. पी. एन. सिंह अपनी चर्चित पुस्तक 'नायपाल का भारत' में कहते हैं कि श्रीमद्भागवद्गीता में जन्म पर आधारित जाति व्यवस्था को दार्शनिक आधार दिया गया है। यही गलती नोबल पुरस्कार विजेता वी एस नायपाल भी करते हैं। इस प्रकार प्रचलित अर्थों में जाति व्यवस्था के दोषों पर प्रहार करते हुए लोग भारतीय संस्कृति और दार्शनिक परंपरा पर प्रहार करने लगते हैं। अतः वर्ण व्यवस्था के शास्त्रीय अर्थ और मर्म को समझने की तथा आधुनिक संदर्भों में प्रचलित जाति व्यवस्था से उसको पृथक रखने की आवश्यकता है। यह समझना इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि जन्म पर आधारित जाति व्यवस्था में अनेक मानवीय भूलें हुई, जिसके कारण आज समाज में पारस्परिक विद्वेष है। ब्राह्मण शब्द से लोगों ने अपने नाम के आगे तिवारी, उपाध्याय इत्यादि जाति सूचक शब्दों को लगाने वाले लोगों की पहचान करनी शुरू कर दी है; इस प्रकार सवर्ण और पिछड़ा-अगड़ा-दलित इत्यादि शब्दों का प्रचलन आरंभ हो गया। इस जाति व्यवस्था के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र जन्म से निर्धारित होते हैं। क्योंकि ये जातीय उपाधियाँ वर्ण व्यवस्था में निर्धारित चार वर्णों के नाम के समान ही हैं, अतः लोगों ने इन चार वर्णों के नामों के आधार पर वर्ण व्यवस्था को जाति व्यवस्था मानना आरंभ कर दिया। जाति और वर्ण व्यवस्था में भेद स्पष्ट करना इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि आज की जाति व्यवस्था के आधार पर हजारों और सैकड़ों साल पूर्व लिखे गए या कहे गए उन शास्त्रों का सतही मूल्यांकन भी हो रहा है जिनमें वर्ण शब्द आया है। 'सेब से सेब की तुलना' न कर, लोग आज के संदर्भों में प्रदूषित मानकों के आधार पर हजारों वर्ष पूर्व लिखे गए ग्रंथों को घसीट रहे हैं। एक कुशल अध्येता किसी ग्रंथ को पढ़ते समय उस ग्रंथ के रचनाकालीन समय तथा सामाजिक संदर्भों को ध्यान में रखता है। क्योंकि उस ग्रंथ में प्रयुक्त शब्दों की प्रासंगिकता तत्कालीन संदर्भों में ही निर्धारित हो सकती है, आधुनिक समय में उसका प्रयोग व मूल्यांकन करते समय एक अध्येता और आलोचक को सजग रहना पड़ेगा। वर्ण व्यवस्था की समझ के अभाव में अनेक लोग, सुविधानुसार कुछ ग्रंथों के आधे-अधूरे प्रसंगों का वर्णन करते हैं तथा समाज में ध्रुवीकरण कर कुछ जातीय मतों को राजनैतिक रूप से अपनी विचारधारा और संगठन के पक्ष में करने

का अपवित्र किंतु प्रजातांत्रिक प्रयोग करते हैं। इनमें से मुख्यतया 5 प्रसंग या आरोप सामने आते हैं –

1. श्रीरामचरितमानस में वर्णित "ढोल गंवार शूद्र पशु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी।।"

इस एक चौपाई ने अनेक वर्षों तक भारतीय राजनीति को दिशा दी। लेकिन अध्ययन करने पर पता चलता है कि सुंदरकांड में यह वाक्य समुद्र ने कहा था, भारतीय संस्कृति के नायक श्रीराम ने नहीं। समुद्र एक आदर्श प्रतीक नहीं क्योंकि उसे श्रीराम ने दंडित करने के लिए शस्त्र धारण किया था। उन्हीं श्रीराम ने पक्षियों में निकृष्ट गिद्ध जटायु, वनवासी वानरों, दलित सुग्रीव और विभीषण, दलित स्त्री भीलनी, शबरी माता इत्यादि को अपने जीवन में सर्वोच्च स्थान दिया था। अपने भक्तों का एकमात्र लक्षण निर्मलता बताते हुए उन्होंने भक्ति के लिए उन सबको अधिकारी बना दिया जो कपट व छल से रहित हैं। "निर्मल मन जन सो मोहिं पावा। मोहिं कपट छल छिद्र न भावा।।" मानस एक महाकाव्य है और इसके सर्वमान्य नायक श्रीराम हैं, अतः एक अध्येता मात्र उनकी बातों को गंभीरता से लेगा, न कि समुद्र की बातों को।

2. श्रीरामचरितमानस के उत्तर कांड में वर्णित कलियुग के लक्षणों में यह होना कि शूद्र व्यासपीठ पर बैठकर ज्ञानोपदेश करेंगे।

श्रीरामचरितमानस के उत्तरकांड दोहा संख्या 99 में कहा गया, "बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन हम तुम्ह ते कुछ घाटि/जानइ ब्रह्म सो बिप्रबर आंखि देखावहिंह डाटि"। इस आधार पर यह आरोप लगाया जाता है कि तुलसीदास जी वर्ण व्यवस्था के हिमायती होने के कारण ब्राह्मणवादी और शूद्रविरोधी थे। उन्हें दुख है कि कोई शूद्र ब्रह्मज्ञानी कैसे हो सकता है, और जो शूद्र ब्रह्मज्ञानी बन भी गया है वह भी ब्राह्मणों को आँख दिखाकर कैसे डांट लगा रहा है। पुनश्च, इसी दोहा संख्या में आई चौपाई "सूद्र करहिं जप तप व्रत नाना। बैठि बरासन कहहिं पुराना।।" को उद्धृत कर लोग आरोप लगाते हैं कि तुलसीदास जी को एतराज है कि शूद्र लोग बहुत सारा जप तप व्रत करके या पुराण बताकर बहुत भारी अनीति का काम कर रहे हैं। "सूद्र द्विजन्ह उपदेसहिं ग्याना। मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना।।" में तुलसीदास जी को दुख है कि कैसे कोई शूद्र ज्ञान का उपदेश दे सकता है और जनेऊ पहन सकता है? इन सभी उद्धरणों में एक यही समस्या आती है कि अभियोजन पक्ष ने ब्राह्मण और शूद्र की परिभाषा आधुनिक जाति व्यवस्था के संदर्भों में ली है। उसने यह जानने का प्रयास भी नहीं किया कि तुलसीदास किन संदर्भों में इन शब्दों का प्रयोग कर रहे हैं तथा गोस्वामी जी के अनुसार इनकी मानक परिभाषा क्या है? अभियोजन पक्ष बिना सिद्ध किए निष्कर्ष देते हैं कि संत तुलसीदास की परिभाषा भी जन्म आधारित ब्राह्मण और शूद्र की है। संत तुलसीदास के अनुसार (बालकांड दोहा 1 के बाद) "बंदउँ प्रथम महीसुर चरना। मोह जनित संसय सब हरना।।" ब्राह्मण इस पृथ्वी का देवता है क्योंकि वह मोह से उत्पन्न सारे संशय हर लेता है। उत्तरकांड में संतशिरोमणि ने कलियुग में विशेष प्रकार की परिस्थितियों का वर्णन किया है कि अज्ञानी लोग अपने वक्तव्य और नौटंकी वाले आचरण से शुद्ध स्वभाव वालों को आँखें दिखाएँगे, वह पूरा प्रसंग ऐसा ही है। उन्होंने कर्म आधारित महीसुर अर्थात् ब्राह्मण की वंदना की है। निषाद, केवट, गिद्ध जटायु, राक्षस विभीषण, स्त्री सीता, भीलनी शबरी, बंदर हनुमान सभी के गुण और कर्म का गान कर उन्होंने प्रतिष्ठित किया। पूरी रामायण में केवल कर्म का गुणगान किया गया है। सभी पात्रों के जन्म का गुणगान नहीं हुआ, केवल कर्म का हुआ। इन उदाहरणों के विपरीत ब्राह्मण कुल में उत्पन्न महर्षि विश्रवा के पुत्र राक्षस रावण, स्त्री शूर्पनखा व लंकिनी, देव समुद्र इत्यादि की कर्म के आधार पर भर्त्सना की गई है। गोस्वामी जी सीधा-सीधा ब्राह्मण कह भी नहीं रहे, विप्र अर्थात् विशेष विद्वान, द्विज अर्थात् दूसरी बार जन्म लेने वाला, इत्यादि प्रयोग करते हैं। यदि उन्हें जन्म आधारित वर्ण व्यवस्था की प्रतिष्ठा करनी होती तो वह सीधे कह देते। इतने बड़े महाकाव्य में केवल कर्मों की प्रतिष्ठा की गई और श्रेष्ठ कर्म वाले व्यक्तियों की। किसी लेखक या दार्शनिक को पढ़ते समय उनकी परिभाषाएँ स्पष्ट करनी होंगी, लेकिन उसके उलट लोग संदर्भों को समझे बिना अपनी परिभाषाएँ थोपने का दुष्कर्म करते हैं और वर्ण व्यवस्था इसकी सबसे अधिक शिकार हुई।

3. महाभारत में द्रोणाचार्य द्वारा एकलव्य का अंगूठा मांगना।

महाभारत के आदिपर्व के अंतर्गत संभवपर्व में 131वें अध्याय में एकलव्य का प्रसंग आया है। श्लोक 27 में द्रोणाचार्य ने अर्जुन से कहा कि, "मैं ऐसा करने का प्रयत्न करूँगा जिससे तुम्हारे समान कोई दूसरा धनुर्धर संसार में न हो। मैं तुमसे यह सच्ची बात कहता हूँ।" श्लोक 32 में स्पष्ट किया गया कि निषादपुत्र होने के और कौरवों के प्रति निष्ठा के कारण, आचार्य ने एकलव्य को अपना शिष्य नहीं बनाया। श्लोक 48 और 49 में, अर्जुन ने आचार्य से कहा कि आपके वचन के विपरीत एकलव्य मुझसे अधिक कुशल धनुर्धर हो गया है। श्लोक 56 में आचार्य ने एकलव्य से दाहिने हाथ का अंगूठा मांग लिया। इस पूरे प्रसंग में कहीं नहीं आया कि आचार्य ने एकलव्य से अंगूठा शूद्र होने के कारण मांगा। बल्कि, अर्जुन को दिए अपने वचन की रक्षा के कारण उन्होंने यह अनैतिक कार्य किया। बहरहाल, यह भी आधी कहानी है क्योंकि भारतीय सनातन परंपरा में आचार्य द्रोण पूज्य तथा सर्वमान्य नहीं हैं। महाभारत काल के एकमात्र पूज्य और आराध्य भगवान श्रीकृष्ण माने जाते हैं। और यह विशेष रूप से रेखांकित किए जाने योग्य बात है कि यह अनैतिक कार्य करने वाले द्रोणाचार्य के वध का कारण श्रीकृष्ण बने। इस प्रकार यह प्रकरण भी गलत सिद्ध होता है कि महाभारत में एकलव्य प्रसंग को वर्ण व्यवस्था के कारण महिमामंडित किया गया है।

4. वाल्मीकि रामायण के उत्तर कांड में वर्णित शंबूक वध प्रसंग।

आरोप लगता है कि भगवान राम ने शंबूक का वध किया था क्योंकि वह शूद्र होकर भी तपस्या कर रहा था। वाल्मीकि रामायण के चतुर्थ सर्ग का दूसरा श्लोक कहता है,

"चतुर्विंशतसहस्त्राणि श्लोकानां उक्तवान ऋषी। तथा

सर्गशतान पंच षटकांडानि तथोत्तरम।।" इस रामायण महाकाव्य में 24000 श्लोक, 500 सर्ग और 6 कांड तथा उत्तर कांड है। गिनने पर लंकाकांड तक ही सभी सर्गों या अध्यायों की संख्या 534 हो जाती है। इसके बाद उत्तरकांड में 111 सर्ग डाल दिए गए हैं अर्थात् कुल सर्गों की संख्या 645 हो जाती है जो महर्षि वाल्मीकि की अपनी संख्या के विरुद्ध है। उत्तर कांड में सभी श्लोकों को देखकर विद्वांसमझ जाएँगे कि इनका मूल रामायण से कोई लेना देना नहीं है, विशेषकर सर्ग 60 से 111 तक। अनेक विद्वानों का मानना है कि चालाक अंग्रेजों ने भारतीय संस्कृति पर आघात कर इसे विभाजनकारी और अनैतिक सिद्ध करने के अपने प्रयासों में वाल्मीकि रामायण को भी छुआ और संस्कृत के कतिपय लोभी विद्वानों को मिलाकर इसमें शंबूक वध जैसे प्रसंगों को प्रक्षिप्त कर प्रसंग दिया। शंबूक वध उत्तर कांड के सर्ग 76 में आता है। यह न तो पूरे रामायण में वर्णित परमपुरुषमहात्मा भगवान श्रीराम के चरित्र से मेल खाता है और न ही आदिकवि वाल्मीकि द्वारा स्वीकारी गई सर्ग संख्या से। अतः शंबूक वध पूरी तरह से प्रक्षिप्त है। मूल रामायण में यह नहीं आता। गरुड़ पुराण (ब्रह्मकांड 1।54) में कहा गया है कि कलियुग के इस समय में धूर्त स्वयं को ब्राह्मण बताकर महाभारत में से कुछ श्लोकों को निकाल रहे हैं और नए श्लोक बनाकर डाल रहे हैं।

5. मनुस्मृति की वर्ण व्यवस्था के आधार पर पिछले कुछ सालों में सवर्णों द्वारा अत्याचार।

यह सर्वविदित तथ्य है कि मनुस्मृति की ही भाँति अनेकों स्मृतियाँ विभिन्न कालखंडों में प्रचलित रही हैं, जैसे वशिष्ठ स्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति इत्यादि। स्मृतियों को देश-काल सापेक्ष संविधान माना जाता है। इनकी स्वीकृति काल देश-काल-परिस्थिति के परिवर्तन के साथ ही समाप्त हो जाती है। मनु का समय समाप्त होते ही मनुस्मृति की प्रासंगिकता भी समाप्त हो गई, बिल्कुल वैसे ही जैसे मुगलों का शासन समाप्त होते ही मुगलों के विधिनिषेध, कानून इत्यादि कोई नहीं मानता। अतः मनुस्मृति के आधार पर यदि कोई समुदाय विशेष या व्यक्ति विशेष किसी का उत्पीड़न करता है तो यह दोनों पक्षों की अध्ययनहीन जड़ता ही मानी जाएगी। पुनश्च, मनुस्मृति के कुछ श्लोकों के प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि शूद्रों के साथ दुर्व्यवहार मनुस्मृति जैसे प्राचीन ग्रंथ में वर्जित है। मनुस्मृति में शूद्रों से भेदभाव नहीं लिखा। पुनश्च, मनुस्मृति या किसी अन्य शास्त्र में वर्णित परिभाषाओं का आधार समकालीन संदर्भों को बनाना विवेक सम्मत नहीं है। ऐसे कुछ श्लोकों और परिभाषाओं पर ध्यान देते हैं।

द्विजाति : (10।4) = द्विज, क्योंकि उसका दूसरा जन्म होता है।

एक जाति : (10।4) शुद्र क्योंकि विद्याधरित दूसरा जन्म नहीं होता है।

शूद्रो ब्राह्मणात् एति, ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियात् जातमेवं तु विद्याद् वैश्यात्तथैव च।।
(मनुस्मृति 10 : 65)

गुण, कर्म योग्यता के आधार पर ब्राह्मण, शूद्र, बन जाता है। और शूद्र ब्राह्मण। इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्यो में भी वर्ण परिवर्तन समझने चाहिए।

शुचिरुत्कृष्टशुश्रूषुर्मृदुवागनहंकृतः ।
ब्राह्मणाद्याश्रयो नित्यं उत्कृष्टां जातिं अश्नुते ।9।335।।

शुचिता, वृद्धों व विद्वानों की सेवा सुश्रुषा, प्रिय भाषण, अहंकार का परित्याग, सदैव ब्राह्मणों की शरण में रहना, यह सब कार्य शूद्रों को उत्तम जाति प्राप्त कराने वाले हैं।

उत्तमानुत्तमानेव गच्छन्हीनांस्तु वर्जयन् ।
ब्राह्मणः श्रेष्ठतां एति प्रत्यवायेन शूद्रताम् ।।4/245।।

ब्राह्मण वर्णस्थ व्यक्ति श्रेष्ठ – अति श्रेष्ठ व्यक्तियों का संग करते हुए और नीच- नीचतर व्यक्तियों का संग छोड़कर अधिक श्रेष्ठ बनता जाता है। इसके विपरीत आचरण से पतित होकर वह शूद्र बन जाता है। अतः स्पष्ट है कि ब्राह्मण उत्तम कर्म करने वाले विद्वान व्यक्ति को कहते हैं और शूद्र का अर्थ अशिक्षित व्यक्ति है।

वैश्य शूद्रावपि प्राप्तौ कुटुबेऽतिथिधर्मिणौ।
भोजयेत् सह भृत्यैस्तावानृशंस्यं प्रयोजयन्।। (3।112)

"यदि कोई वैश्य और शूद्र भी उसके (ब्राह्मण के) घर अतिथि के रूप में आए तब वह उसके प्रति दया का भाव प्रदर्शित करते हुए अपने सेवकों के साथ भोजन कराए (मनुस्मृति 3।112)।"

न भोजनार्थं स्वे विप्रः कुलगोत्रे निवेदयेत् ।
भोजनार्थं हि ते शंसन्वान्ताशीत्युच्यते बुधैः।।(3।109)

अपने गोत्र या कुल की दुहाई देकर भोजन करने वाले को स्वयं का उगलकर खाने वाला माना जाए।

पञ्चानां त्रिषु वर्णेषु भूयांसि गुणवन्ति च।
यत्र स्युः सोऽत्र मानार्हः, शूद्रोऽपि दशमीं गतः।। ,
(2।137)

तीन द्विज-वर्णों में समान गुण वाले अनेक हों तो जिसमें श्लोक 2।136 में उक्त पाँच गुणों में से अधिक गुण हों, वह पहले सम्माननीय है किंतु शूद्र यदि नब्बे वर्ष से अधिक आयु का हो तो वह भी पहले सम्माननीय है। मनुस्मृति 2। 136: धनी होना, बांधव होना, आयु में बड़े होना, श्रेष्ठ कर्म का होना और विद्वत्ता यह पाँच सम्मान के उत्तरोत्तर मानदंड हैं।

भुक्तवत्सु-अथ विप्रेषु स्वेषु भृत्येषु चैव हि।
भुंजीयातां ततः पश्चात्-अवशिष्टं तु दपती।।
(3।116)

द्विजों के भोजन कर लेने के बाद और अपने भृत्यों के (जो कि शूद्र होते थे) पहले भोजन कर लेने के बाद ही शेष बचे भोजन को द्विज दंपत्ति खाया करें।

विप्राणां वेदविदुषां गूहस्थानां यशस्विनाम्
शुश्रूषैव तु शूद्रस्य धर्मो नैःश्रेयसः परः।। (9।334)

वेदों के विद्वान् द्विजों, तीनों वर्णों के प्रतिष्ठित गृहस्थों के यहाँ सेवाकार्य (नौकरी) करना ही शूद्र का हितकारी कर्तव्य है।

श्रद्दधानः शुभां विद्यां आददीतावरादपि ।
अन्यादपि परं धर्म स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ।2/238।।

उत्तम विद्या श्रद्धा-सहित नीच वंश से भी लें, परम धर्म चांडाल से भी लें, और सुंदर स्त्री को दुष्ट कुल से भी ले लेना चाहिए। 2।238: अपने से न्यून व्यक्ति से भी विद्या को ग्रहण करना चाहिए और नीच कुल में जन्मी उत्तम स्त्री को भी पत्नी के रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए।

अब्राह्मणादध्यायनं आपत्काले विधीयते ।
अनुव्रज्या च शुश्रूषा यावदध्यायनं गुरोः ।2/241।।

यदि विपत्ति आ पड़े तो ब्राह्मण क्षत्रिय आदि से पढ़े और जब तक पढ़े तब तक उस गुरु का अनुगामी रहे और सेवा करे। आवश्यकता पड़ने पर अ-ब्राह्मण से भी विद्या प्राप्त की जा सकती है और शिष्यों को पढ़ाने के दायित्व का पालन वह गुरु जब तक निर्देश दिया गया हो तब तक करे।

हीनांङ्गानतिरिक्तांङ्गान्विद्याहीनान्वयोऽधिकान्।
रूपद्रविणहीनांश्च जातिहीनांश्च नाक्षिपेत् ।।4/141।।

अपंग, अशिक्षित, बड़ी आयु वाले, रूप और धन से रहित या निचले कुल वाले, इन को आदर और / या

अधिकार से वंचित न करें। क्योंकि यह किसी व्यक्ति की परख के मापदंड नहीं हैं।

ब्रह्म वा इदमासीदेकमेव, तदेकं सन् न व्यभवत्। तत् श्रेयोरूपमत्यसृजत् क्षत्रम्, ...।।सः नैव व्यभवत्, स विशमसृजत्, ... सः नैव व्यभवत्, सः शौद्रं वर्णमसृजत्। (शतपथ 14।4।2।23-25; बृह. उप. 1।4। 11-13) "ब्राह्मणवर्ण ही आरंभ में अकेला था। अकेला होने के कारण उससे समाज की चहुंमुखी समृद्धि नहीं हुई। आवश्यकता पड़ने पर ब्राह्मणवर्ण में से तेजस्वी वर्ण क्षत्रियवर्ण का निर्माण किया गया। उससे भी समाज की चहुंमुखी समृद्धि नहीं हुई। आवश्यक जानकर उस ब्राह्मणवर्ण में से वैश्यवर्ण का निर्माण किया। उससे भी समाज की पूर्ण समृद्धि नहीं हुई। तब उस ब्राह्मणवर्ण में से शूद्रवर्ण का निर्माण किया। इन चार वर्णों से समाज में पूर्ण समद्धि हुई।"

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्।।
(महाभारत शांतिपर्व 188।11)

सारा मनुष्य-जगत एक ब्रह्म की संतान है। वर्णों के भेद से इनमें कोई भेद नहीं है। बस, इतना ही अंतर है कि आदिसृष्टि में ब्रह्मा द्वारा वर्णव्यवस्था निर्मित करने के बाद लोग कर्मों के आधार पर भिन्न-भिन्न वर्ण के नाम से पुकारे जाने लगे।

2।103: जो मनुष्य नित्य प्रातः और सांय ईश्वर आराधना नहीं करता उसको शूद्र समझना चाहिए।

2।172: जब तक व्यक्ति वेदों की शिक्षाओं में दीक्षित नहीं होता वह शूद्र के ही समान है।

2।168: जो ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य वेदों का अध्ययन और पालन छोड़कर अन्य विषयों में ही परिश्रम करता है, वह शूद्र बन जाता है। और उसकी आने वाली पीढ़ियों को भी वेदों के ज्ञान से वंचित होना पड़ता है

2।157: जैसे लकड़ी से बना हाथी और चमड़े का बनाया हुआ हरिण सिर्फ नाम के लिए ही हाथी और हरिण कहे जाते हैं वैसे ही बिना पढ़ा ब्राह्मण मात्र नाम का ही ब्राह्मण होता है।

2।28: पढ़ने-पढ़ाने से, चिंतन-मनन करने से, ब्रह्मचर्य, अनुशासन, सत्यभाषण आदि व्रतों का पालन करने से, परोपकार आदि सत्कर्म करने से, वेद, विज्ञान आदि पढ़ने से, कर्तव्य का पालन करने से, दान करने से और आदर्शों के प्रति समर्पित रहने से मनुष्य का यह शरीर ब्राह्मण किया जाता है।

3।112: शूद्र या वैश्य के अतिथि रूप में आ जाने पर, परिवार उन्हें सम्मान सहित भोजन कराए।

3।116: अपने सेवकों (शूद्रों) को पहले भोजन कराने के बाद ही दंपत्ति भोजन करें।

महाभारत के शांतिपर्व के अंतर्गत मोक्ष धर्म पर्व में भृगु-भरद्वाज के प्रसंग में 188 वें अध्याय में श्लोक 10-14 में कहा गया है, "पहले वर्णों में कोई अंतर नहीं था, सृष्टि से उत्पन्न होने के कारण यह सारा जगत ब्राह्मण ही था। पीछे विभिन्न कर्मों के कारण उनमें वर्णभेद हो गया। जो अपने ब्राह्मणोचित धर्म का परित्याग करके विषयभोग के प्रेमी, तीखे स्वभाव वाले, क्रोधी और साहस का काम करने वाले हो गए, वे ब्राह्मण क्षत्रिय भाव को प्राप्त हुए और क्षत्रिय कहलाने लगे। जिन्होंने गौओं से तथा कृषिकर्म के द्वारा जीविका चलाने की वृत्ति अपना ली तथा जो ब्राह्मणोचित कर्म छोड़ बैठे, वे ही ब्राह्मण वैश्यभाव को प्राप्त हुए। जो शौच और सदाचार से भ्रष्ट होकर हिंसा और असत्य के प्रेमी हो गए, लोभवश व्याधों के समान सभी तरह के निंद्य कर्म करके जीविका चलाने लगे, वे ब्राह्मण शूद्रभाव को प्राप्त हो गए। इन्हीं कर्मों के कारण ब्राह्मणत्व से अलग होकर वे सभी ब्राह्मण दूसरे-दूसरे वर्ण के हो गए, किंतु उनके लिए नित्यधर्मानुष्ठान और यज्ञकर्म का कभी निषेध नहीं किया गया है।" महाभारत को पंचम वेद भी कहते हैं और इसमें सनातन धर्मावलंबियों की गहरी आस्था है। इसने स्पष्ट कर दिया है कि चारों वर्णों में केवल स्वभाव और कर्म का अंतर है तथा कहीं से भी यह जन्म पर आधारित नहीं है। स्वयं महाभारत के रचयिता महर्षि वेदव्यास ब्राह्मण का कर्म करने वाले महर्षि पराशर और मल्लाह का कर्म करने वाली अनिंद्य सुंदरी सत्यवती के प्रेम से उत्पन्न पुत्र थे। यह प्रसंग भी सिद्ध करता है कि रचनाकालीन समाज में पृथक वर्णों में स्त्री-पुरुष प्रेम और संसर्ग को सामाजिक मान्यता प्राप्त थी। यदि ऐसा न होता तो महर्षि वेदव्यास के द्वारा लिखित ग्रंथ आज वैदिक परंपरा में सर्वमान्य नहीं होते। महर्षि वेदव्यास के जन्मदिवस पर व्यासपूजा न होती। वही मल्लाह का कर्म करने वाली सत्यवती भारत

के सबसे प्रसिद्ध कुरुवंश के चक्रवर्ती सम्राट और क्षत्रिय कर्म करने वाले राजा शांतनु की पत्नी बनती हैं। उनके सम्मान की कहानियों से पूरा महाभारत भरा हुआ है और उन्हीं के वंश को कुरुवंश की गद्दी पर बैठाया जाता है। उनके वंश की रक्षा के लिए उनका सौतेला पुत्र और क्षत्रिय कुल में जन्मा देवव्रत भीष्म सुसज्ज रहता है। वास्तव में, महाभारत जैसे शास्त्रों ने हमेशा गुण और कर्म को प्रधानता दी है।

महाभारत के शांतिपर्व के अंतर्गत मोक्ष धर्म पर्व में भृगु-भारद्वाज के प्रसंग में 189वें अध्याय में श्लोक 2-8 में कहा गया है, "जो जाति, कर्म आदि संस्कारों से संपन्न, पवित्र तथा वेदों के स्वाध्याय में संलग्न हैं, यज्ञ करने करवाने, पढ़ने-पढ़ाने और दान देने तथा लेने - इन छह कर्मों में स्थित रहते हैं, शौच और सदाचार का पालन तथा परम उत्तम यज्ञ के पश्चात बचे अन्न का भोजन करते हैं, गुरु के प्रति प्रेम रखते हैं, नित्य व्रत का पालन करते हैं और सत्य में तत्पर रहते हैं, वही ब्राह्मण कहलाते हैं। जिनमें सत्य, दान, द्रोहण करने का भाव, क्रूरता का अभाव, लज्जा, दया और तप - ये सद्गुण देखे जाते हैं, वह ब्राह्मण माना गया है। जो क्षत्रियोचित युद्ध आदि कर्म का सेवन करता है, वेदों के अध्ययन में लगा रहता है, ब्राह्मणों को दान देता है और प्रजा से कर लेकर उसकी रक्षा करता है, वह क्षत्रिय कहलाता है। इसी प्रकार जो वेद अध्ययन से संपन्न होकर व्यापार, पशुपालन और खेती का काम करके अन्न संग्रह करने की रुचि रखता है और पवित्र रहता है, वह वैश्य कहलाता है। किंतु जो वेद और सदाचार का परित्याग करके सदा सब कुछ खाने में अनुरक्त रहता है और सब तरह के काम करता है, साथ ही बाहर-भीतर से अपवित्र रहता है, वह शूद्र कहा गया है। उपर्युक्त सत्य आदि सात गुण यदि शूद्र में दिखाई दें और ब्राह्मण में न हों तो वह शूद्र-शूद्र नहीं और वह ब्राह्मण-ब्राह्मण नहीं है।" इससे अधिक स्पष्ट शब्दों में नहीं कहा जा सकता है कि वर्ण गुणों और कर्मों का समूह है। प्रकृति में उपस्थित इन गुणों और कर्मों के समुच्चय से वर्ण का निर्माण होता है। ये पहले भी थे और आज भी हैं। गुरुत्वाकर्षण नियम की भांति वर्ण व्यवस्था भी प्रकृति का शाश्वत नियम है। इन्हें बनाया नहीं गया, बल्कि डिस्कवर या अनावृत्त किया गया। इन नियमों के आधार पर किसी मनुष्य को श्रेणीकृत किया जाता है। समूची प्रकृति वर्णबद्ध है। वर्ण कोई व्यक्ति या जाति नहीं जो जन्म से किसी के साथ रहते हैं। यदि जन्म से वर्ण के होने के औचित्य होता तो यह परिवर्तित नहीं की जा सकती थी। लेकिन अनेकों व्यक्तियों के संदर्भों में देखा गया है कि उसके वर्ण कर्मों के आधार पर बदल गए। श्रीमद्भागवद्गीता के श्लोक 18:41 में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों को स्वभावप्रभवैःगुणैः कहा गया है। स्वभाव को ब्रह्मांड की सर्वोच्च शक्ति का भाव अर्थात् प्रकृति कहा जाता है, जिसे सनातन परंपरा में त्रिगुणात्मिका माना जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि ये चार वर्ण प्रकृति के गुणों से निर्मित हैं।

इन शास्त्रों में वर्णित वर्ण व्यवस्था के पीछे का सत्य, अज्ञान एवं अध्ययनहीनता से ढके होने के कारण, पुनः प्रकाशित किया जाना चाहिए। प्रथमतः, महान विद्वान् और भाष्यकार आदि शंकराचार्य ने ज्ञानकांड पर बल देते हुए प्रस्थानत्रयी को महत्व दिया - श्रीमद्भागवद्गीता, उपनिषद और वेदांत सूत्र। इन सभी पुस्तकों में जीवात्मा का परमात्मा से अभेदत्व सिद्ध किया गया है। श्रीमद्भागवद्गीता के अध्याय 4 श्लोक 13 में भारतीय संस्कृति के सर्वमान्य अवतार श्रीकृष्ण कहते हैं, "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।" चार वर्ण मेरे द्वारा सृजित किए गए हैं, गुणों और कर्मों के विभाग से। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक मान्यताओं के अनुसार चार वर्ण जन्म पर आधारित नहीं हैं। आदि शंकर अपने भाष्य में स्पष्ट करते हैं कि, "चार वर्ण ईश्वर के द्वारा उत्पादित हैं। सत्व, राज, तम - इन तीनों गुणों के विभाग से तथा कर्मों के विभाग से। उनमें से सात्विक - सत्वगुणप्रधान ब्राह्मण के शम, दम, तप इत्यादि कर्म हैं। जिनमें सत्वगुण गौण है और रजोगुण प्रधान है, उस क्षत्रिय के शूरवीरता, तेज प्रभृति कर्म हैं। जिसमें तमोगुण गौण और रजोगुण प्रधान है, ऐसे वैश्य के कृषि आदि कर्म हैं। तथा जिसमें रजोगुण गौण और तमोगुण प्रधान है, उस शूद्र का केवल सेवा ही कर्म है।" वर्ण व्यवस्था के जन्म आधारित न होने का यह सर्वाधिक शास्त्रीय तथा अकाट्य प्रमाण है। साथ ही नायपाल के उस आरोप का भी उत्तर है जिसमें उन्होंने गीता को जाति व्यवस्था का दार्शनिक आधार बताया था।

कर्म पर आधारित वर्ण व्यवस्था पर गीता में और अधिक प्रकाश डालते हुए, 18वें अध्याय के श्लोक 41-44 में कहा गया कि, "मन का अनुशासन, इंद्रियों का अनुशासन, तप, आंतरिक और वाह्य पवित्रता, क्षमाशीलता, सरलता, ज्ञान, प्रयोगधर्मिता, आस्तिक्य - ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं। शौर्य, दूसरों से न दबने का स्वभाव, धारणाशक्ति जिससे उत्साहित हुए मनुष्य को किसी अवस्था में शोक नहीं होता, सहसा प्राप्त हुए बहुत से कार्यों में बिना घबराहट के प्रवृत्त होने का स्वभाव, युद्ध में ना भागना, दानवीरता और शासन करने का भाव - ये सब क्षत्रियों के स्वाभाविक कर्म हैं। कृषि, गोरक्षा और क्रय-विक्रय रूप वणिक कर्म - वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं। वैसे ही शूद्र का सेवारूप कर्म स्वाभाविक है।" श्लोक संख्या 47 में 'स्वभावनियतं कर्म' करने का निर्देश दिया गया। इस प्रकार चार वर्ण व्यक्ति के स्वभाव और गुण पर आधारित हैं, तथा उसे अपने स्वभाव के आधार पर ही अपने कर्म का चयन करना चाहिए। क्योंकि गीता के इसी श्लोक में स्पष्ट किया गया कि इस प्रकार का स्वभाव आधारित अर्थात् वर्ण आधारित कर्म श्रेष्ठ है। और श्लोक 45 में बताया गया कि सभी अपने अपने कर्म को करते हुए पूर्णता प्राप्त कर सकते हैं।

आधुनिक शिक्षाविद और मनोवैज्ञानिक इस बात पर बल दे रहे हैं कि हर बच्चे को स्वतंत्र छोड़ दो और उसे चुनने दो कि वह क्या करना चाहता है। उसने किस परिवार और परिवेश में जन्म लिया, इसका महत्व नहीं है, महत्व इस बात का है कि वह क्या करने के लिए बना है? बॉलीवुड की अत्यंत प्रसिद्ध फिल्म 'थ्री इडियट्स' में आमिर खान दूसरे अभिनेता माधवन से यह कहते हुए पाया जाता है कि तुझमें फोटोग्राफर बनने के गुण हैं इसलिए तू कभी सफल इंजीनियर नहीं बन पाएगा। यह वर्ण व्यवस्था का सफलतम फिल्मांकन था। भारतीय परिवेश में पहले शिक्षा के लिए गुरुकुल प्रणाली प्रचलित थी। इसमें पहले 25 साल तक ब्रह्मचर्य आश्रम में गुरु के मार्गदर्शन में हर प्रकार की शिक्षा लेते हुए छात्र अपने गुण और स्वभाव का निरीक्षण करते थे। 25 वर्षों के उपरांत, गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करते समय वे अपना कर्मक्षेत्र चुनते थे। कर्मक्षेत्र का चयन करते समय वे अपने गुण स्वभाव का ध्यान रखते थे। एक ही गुरुकुल में पढ़े छात्र स्वभाव के आधार पर क्षत्रिय या ब्राह्मण या वैश्य या शूद्र के कर्म चुनते थे। आज योग्यता पर आधारित प्रतियोगिता परीक्षाएँ इसी वर्ण व्यवस्था का एक उदाहरण हैं जहाँ जिलाधिकारी, सैनिक, चपरासी, प्रबंधक इत्यादि चुनते समय जन्म नहीं, बल्कि उस व्यक्ति की स्वभावगत योग्यता को आधार बनाया जाता है। इस प्रकार वर्ण हमारे स्वभाव का नाम है। प्रत्येक व्यक्ति कुछ विशेष गुणों के साथ उत्पन होता है। शिक्षा, परिवेश, अंतर्निहित गुणों और संस्कारों के कारण उसके स्वभाव का विकास होता है। शिक्षा के इस संस्कार के बाद ही भारतीय परंपरा में दूसरा जन्म माना गया, जिसे द्विज कहते हैं। यह भी कहा गया कि जन्मना जायते शूद्रः संस्कारात् द्विज उच्यते। जन्म से सभी शूद्र ही पैदा होते हैं। संस्कार के बाद उनका दूसरा जन्म होता है और वे ब्राह्मण या क्षत्रिय या वैश्य बनते हैं। यह पुनः सिद्ध करता है कि वर्ण व्यवस्था जन्म आधारित नहीं है। यह व्यक्ति को प्रथमतः अपने गुण को समझने और विकसित करने पर बल देती है और फिर उसके आधार पर कर्म का चयन करने के लिए वैज्ञानिक और स्वाभाविक आधार देती है।

– प्रबंध निदेशक, उपनिषद मिशन ट्रस्ट, द पी. आई.एस. विद्यालय, अष्टभुजी कॉलोनी, बड़ी बाग, लंका
गाजीपुर-233001

❑❑❑

वेदों में कृषि विज्ञान चिंतन

–प्रोफेसर (डॉ.) दिनेश चमोला 'शैलेश'

कृषि अथवा प्रकृति का संबंध मानव जीवन से तभी से रहा है, जब से उसने इस दिव्य धरा पर अवतरण किया होगा। सुरम्य वसुंधरा के अत्यंत विशद व मनोरम स्वरूप को देख उसके चिंतनशील व अनुकरणीय मस्तिष्क में प्राकृतिक वैविध्य के समानांतर ही कुछ अभिनव व उत्कृष्ट करने की जिज्ञासा व ललक जगी होगी। संभवत: उसकी वही क्षुधा व अदृष्ट ललक ही प्रकृति के उस उर्वर अंक में कुछ नया करने की प्रेरणा देने में पहले-पहले सक्षम हुई होगी।

अत्यंत प्राचीन समय से ही प्रकृति का सानिध्य उसे न केवल जीवन निर्वाह की सामर्थ्य देता रहा, अपितु उसी के प्रांगण से उसे हर्ष, उत्कर्ष, साधना और जीवन की अनेकानेक खुशियों के पर्याय के अवसर भी सुलभ होते रहे। पहले-पहले जब मनुष्य का साक्षात्कार प्रकृति से हुआ होगा, उपहार रूप में प्रकृति ने उसे न केवल प्राकृतिक उपादान यथा- हरी-भरी वन संपदा, खिल-खिलाते उपवन, सुरभित पुष्प-पादप, मनोरम लता-कुंजों सहित प्राकृतिक ऋतुओं का एक क्रमबद्ध संयोजन ही प्रदान नहीं किया बल्कि उससे प्रेरित होकर मनुष्य या तो कुछ नया अद्‌भुत और अभिनव करने के लिए भी प्रेरित हुआ।

प्रकृति के समुन्नयन से मानव के मस्तिष्क का विकास भी होता चला गया। विविध संरचनायुक्त प्राकृतिक संपदा से प्रेरित होकर जहाँ उसके मन में खाद्यान्न अथवा कृषि को आगे बढ़ाने की बात प्रारंभ हुई होगी, वहीं सौंदर्य की पराकाष्ठा के रूप में चिंतन के कई-कई गवाक्ष खुलकर उसके वैज्ञानिक चिंतन एवं मानसिक धरातल और उसकी बौद्‌धिक समुन्नति का आधार भी बनते रहे। कृषि न केवल मनुष्य के भरण-पोषण का पर्यायवाची सिद्‌ध हुई, बल्कि उसकी बौद्‌धिक पराकाष्ठा की ऊर्ध्वमुखी यात्रा के शुभारंभ की आधारशिला भी बनी।

हिरण्यगर्भा वसुंधरा विश्व की सभी जननियों की जननी है। वह न केवल मातृसंपदा का संरक्षण करती है, अपितु उसकी संतति का भरण-पोषण करने के लिए नाना प्रकार के अवयवों व उपादानों को जुटाकर उनका संरक्षण भी करती है। समस्त विश्व का लालन-पालन करने वाली यह रत्नप्रसू माँ वसुंधरा विश्व की सबसे बड़ी मातृवत्सला व जीवन दायिनी शक्ति है। वह अपने में जीवन की उन समस्त शक्तियों, सामर्थ्यों एवं संपदाओं को समेटे रहती है, जिससे वह अपने आने वाली पीढ़ियों को शक्ति संपन्न कर उनका भरपूर नेतृत्व करती है। 'अथर्ववेद' के 'भूमि सूक्त' में भी उल्लेख मिलता है-

विशंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा
हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी।
वैश्ववानरम विभ्रती भूमिरग्निमिन्द्र
ऋषभा द्रविणे नो दधातु।।

(अथर्ववेद 12.1.6)

किसी भी प्रकार की कृषि अथवा खेती का कार्य करने से पूर्व धरती माता की स्तुति पूजन अथवा आराधना याचना का वर्णन प्राय: ग्रामीण जन-जीवन में आज भी मिलता है। वहाँ जीवन का कोई भी कार्य प्रभु की कृपा-आराधना के बिना नहीं होता। इसका उल्लेख पूर्व ही वेदो में मिलता है-

पयो अस्मासुधुक्ष्व।
मधुश्चयुतं घृतमिव सुपूतमृतस्य
नः पतयो मृह्मयन्तु।।

(ऋग्वेद : 4.57.1.2)

यही कारण है कि पर्वतीय भूभागों में प्रायः सभी ग्रामों में घड़ियाल, जाख, सिंगलास, बगडवाल नागराजा, धारी देवी, सिद्यवा, ग्वरील, नृसिंग और क्षेत्रपाल आदि स्थानीय देवी-देवताओं के आवास अथवा छोटे-छोटे मंदिर अथवा मंडले स्थापित मिलते हैं। समय-समय पर कृषि उपज से पूर्व अथवा कृषि उपज के बाद ग्राम देवताओं का पूजन वेदों में चित्रित उस प्रबंधन की संकल्पना को ही आज भी साकार व प्रामाणिक सिद्ध करता है। इस वैदिक परंपरा का अनुपालन पर्वतीय भू-भाग की जीवन पद्धति में अक्षरशः मिलता है।

आज भी वसंतागमन की पूर्व प्रत्याशा में ग्रामीण आवासों की देहलियों पर फूल छितराते हुए बच्चे "जय गोगा माता पैंयाँ पाती फयोंल्या फूल..." की संगीतमयी धुन में फ्योंली, बुरांस, जै-पैंयाँ आदि के मोहक पुष्प-पत्तियों के रंग-बिरंगे संयोजन से कहीं न कहीं प्रकृति की इस वैदिक परंपरा का ही उद्घोष करते हैं। यही नहीं, ग्राम देवताओं के पूजन और अर्चना के क्रम में वे सामूहिक रूप से घर-गाँव के सभी परिचित-अपरिचित घरों से नाना प्रकार के खाद्य पदार्थों को एकत्रित करते हुए एक दिन फुल-फुल माई अर्थात् वसंत ऋतु की प्रत्याशा में सामूहिक भोज का आयोजन करते हैं, जिसमें सभी उत्साही ग्रामीण बच्चे भाग लेते हैं, यह सम्मिलित प्रयास इसी वैदिक परंपरा को आज भी पुष्ट करता है।

होलिका दहन और होलिकोत्सव के लिए सभी ग्रामीण बच्चे नाना प्रकार के वाद्य यंत्रों के साथ सज-धजकर प्रकृति के पुष्प पादपों यथा- चीड़, मेहंदी आदि के पुष्प-पत्तों के रस-मिश्रण से अबीर-गुलाल लिए गाते-बजाते महीनों पूर्व फागुन के आनंदोत्सव की संगीतमय धुन से गाँव की सीमाओं को गुंजायमान करते मिलते हैं। चारों ओर प्रतिदिन हर्षोल्लास की यह लहर सभी को प्रमुदित करती है। होलिका उत्सव के मुख्य दिन गाँव के किसी अच्छे भाग में, किसी देव परिसर में सामूहिक रूप से भोज का आयोजन और उत्सव धर्मिता के रूप में सामूहिक सहभागिता इसी वैदिक परंपरा को प्रतिबिंबित करती है।

कृषिमय जीवन होने के कारण वेदों में विज्ञान का यह प्रतिबिंब पर्वतीय भू-भाग के जीवन में यत्र-तत्र सर्वत्र दिखाई देता है। वर्षा ऋतु में मवेशियों को, जंगल की गौशालाओं (3 माह वर्षा ऋतु के लिए जंगल के पास गौशालाएँ निर्मत होती हैं, शेष वर्षभर अपने आवासों के निकट होतीं हैं) में ले जाने का अवसर हो या फिर उन्हें वापस ले जाने की बात, सभी से पूर्व स्थानीय देवी देवताओं का पूजन अर्चन इस उद्देश्य से किया जाता है कि दो-तीन माह जो संबंधित गाँव के मवेशियों अभयारण्यों के अंक में रहेंगी, वह सुरक्षित रहें, घी-दूध से परिपूर्ण रहें, खुशहाल रहें।

बैल जो वर्षभर खेती से कृषि का कार्य करते-करते दुर्बल व क्षीण हो गए हैं, व हरे-भरे वनों के सुंदर चरागाहों के पोषण व औषधियुक्त ग्रास का सेवन कर बलिष्ठ और शक्तिशाली बनकर पुनः अगले वर्ष के कृषि कार्य करने के लिए सक्षम व समर्थ होकर लौटें। इसमें भी परोक्षतः देवीय अनुकंपा के संरक्षण के साथ-साथ उपयुक्त दया-दृष्टि, लालन-पालन की वात्सल्यता का भाव समाया रहता है।

कृषि से संबंधित जीवन के किसी भी कार्य में चाहे वह अनाज के पक जाने का समय हो अथवा बीज बोने का समय, सभी का अभिविन्यास वैदिक परंपरा में उल्लिखित, मानस पटल पर स्वतः ही अंकित पंचांग के अनुसार होता है। यह वैज्ञानिक परंपरा कई मायनों में कृषि, किसान और खेती-किसानो के जीवन में यत्र-तत्र दिखाई देती है। यद्यपि शैक्षिक दृष्टि से किसान उस प्रकार की योग्यताएँ और उस प्रकार के वैज्ञानिक चिंतन से परिपूर्ण नहीं होते हैं, किंतु विज्ञान उनके जीवन में गहनता से समाया रहता है। किसी पशु के अत्यंत दुर्बल हो जाने पर श्रावण मास में लगभग 3 माह तक उसे अंधेरे में रखा जाता है तथा उसके भरण-पोषण का पर्याप्त ध्यान रखा जाता है तथा 3 माह पश्चात् जब मवेशियों के जंगल से घर लौटने का समय हो जाता है तो वह पशु फिर बाहर निकाला जाता है। उसका कायांतरण सूक्ष्म से स्थूल की ओर देखकर इसकी वैज्ञानिकता स्वतः ही पुष्ट हो जाती है।

वेदों में कृषि कर्म को जीवन के सभी प्रकार के उद्योगों अथवा व्यवसायों में श्रेष्ठतम माना गया है। इस बात का भरपूर उल्लेख वेदों में प्रायः मिलता है कि

धनार्जन व जीविकोपार्जन के लिए कृषि कर्म से अत्यधिक प्रभावशाली दूसरा कोई माध्यम नहीं है। कहा भी गया है–

"उत्तम खेती मध्यम बान,
अधम चाकरी भीख निदान"

आज व्यक्ति भौतिकवादी दृष्टि से सोचने के लिए अधिक मुखर होने लगा है, इसीलिए वह प्रकृति के वात्सल्य और प्रकृति की अंतरंगता से वंचित होकर नाना प्रकार की व्याधियों एवं परेशानियों से घिरा हुआ रहकर अवसाद व दुख से घिरा रहता है। प्रकृति के सान्निध्य में अभावों के चलते भी वह आनंद का अनुभव करता था, लेकिन आज संसाधनों की प्रचुरता के बावजूद भी वह उस आनंद से स्वयं को कोसों दूर पाता है।

प्रकृति का सान्निध्य, न केवल जीविकोपार्जन का एकमात्र माध्यम था बल्कि शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, सामाजिक और आध्यात्मिक चेतना के विकास में भी उसका अपूर्व योगदान था। 'अथर्ववेद' के 'कृषि सूक्त' में स्पष्ट रूप से कहा गया है–

सीरा युंजंति कवयो युगा वितंन्वते पृथक।
धीरा देवेषु सुमनयो।

(अथर्ववेदय कृषिसूक्त, 3.17.1)

अन्य प्रकार के व्यवसायों से कहीं अधिक उपादेय, उत्तम व पवित्र कृषि कर्म का लेख ऋग्वेद में भी मिलता है। यही नहीं कृषि उपज से अर्जित धन से जीवन निर्वाह करने की उत्तमता की भी बात उसमें की गई है –

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमितकृषस्व
वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।।

(ऋग्वेद : 10.34.13)

इसका अभिप्राय है ज्ञानवान, बुद्धिमान व विवेकशील लोग दैवीय सुख अथवा अनुकंपा प्राप्त करने के लिए हल को जोतते हैं और कृषि कार्य कर उसी से प्राप्त धन से संतोष प्राप्त करते हैं। रासायनिकों व उर्वरकों के अंधाधुंध प्रयोग से फैली बीमारियों के कारण जहाँ आज के कृषि वैज्ञानिक जैविक कृषि को प्रोत्साहित कर मानवता के कल्याण की बात करते हैं, इसका उल्लेख व संकेत हमारे वेदों ने हजारों–हजार साल पहले कर दिया था।

गौ–दुग्ध, गौ–पालन तथा गोबरयुक्त खाद से आरोग्यता की बात 'अथर्ववेद' में खुले मन से इस प्रकार की गई है–

सं जगमाना अबिभ्युषीरस्मिन
गोष्ठे करीषिणीः।
बिभर्तीः सौम्यम मध्वनमीवा उपेतन।।

(अथर्ववेद; 3.14.3)

सूचना प्रौद्योगिकी के विकास के साथ–साथ आज कृषि कार्य में भी नवीनतम मशीनों एवं प्रौद्योगिकियों का प्रयोग कर कृषि कार्य को आगे बढ़ाया जा रहा है। लेकिन वेदों में प्राचीन पद्धति अर्थात् घरेलू हस्तशिल्प के माध्यम से निर्मित हल से कृषि कर्म करने का उल्लेख है। हल में लगे हुए भूमि खोदने वाले लोहे के उपकरण को फाल कहते हैं। इस हल तथा फाल के माध्यम से खेती करने का उल्लेख 'अथर्ववेद' में बहुत ही सुंदर शब्दों में किया गया है–

यथा–
बीजमुरवरायाम कृष्ट
कष्ट फालेन रोहति।
एवा मयि प्रजा पश्वोंन्नमन्नम विरोहतु।।8

(अथर्ववेद; 10.6.33)

प्रायः किसान प्रकृति प्रेमी होने के कारण अपने आवासीय क्षेत्रों के आसपास वृक्ष, लता–कुंजों के साथ–साथ जड़ी–बूटियों का भी रोपण अपने तथा पशु आदि के स्वास्थ्य की दृष्टि से किया करता था। लेकिन यह सब सहज न होकर, इसका भी उल्लेख वेदों में समुचित प्रकार से मिलता है। अन्न आदि के बीजारोपण के साथ–साथ जड़ी–बूटियों का भी रोपण स्वास्थ्य–समृद्धि की दृष्टि से किया जाए, इसका उल्लेख वेदों में जगह–जगह पर मिलता है–

वनस्पतिम वन आस्थापयध्वम।

(ऋग्वेद : 10.101.11)

सामान्यतः किसान अपनी कृषि उपज में से उस श्रेष्ठतम अनाज को ही बीज रूप में संरक्षित करने के लिए उद्यत रहता है जो पोषण की दृष्टि से बहुत ही उन्नत व सुविकसित हो। यह ध्यान रखना आवश्यक है कि किसान उत्तम उपज के लिए उत्तम व श्रेष्ठ उत्तम बीज का ही चयन करें। जब तक उन्नत किस्म का बीज

नहीं होगा तो अच्छा उत्पादन व भरपूर अनाज पैदा नहीं किया जा सकता है।

इस बात का संकेत भी हमारे वेदों में पर्याप्त रूप में मिलता है कि उन्नत खेती के लिए उन्नत बीज की क्या भूमिका हो सकती है, इस बात का वर्णन वेदों में जगह-जगह मिलता है-योग

येन तोकाय तनयाय धान्यम
बीजम वहध्वे अक्षितम।

(ऋग्वेद; 5.53.13)

कृषि कर्म में ही नहीं बल्कि जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सूर्य ताप, सूर्य ऊष्मा और सूर्य के आविर्भाव का अत्यंत महत्व है। बिना इसके न तो मनुष्य का जीवन संभव है और न ही संसार में किसी बीजों प्रकार की जैव विविधता का ही। बीजों के समुन्नयन में भी कृषि के चहुँमुखी विकास में सूर्य ताप का अत्यंत चमत्कारी महत्व है। सूर्य के महत्व को वैदिक साहित्य में बहुत ही मुखरता के साथ उभारा गया है। सौरऊर्जा दूसरे अर्थों में प्राण तत्व के रूप में विश्व में समादृत है। संपूर्ण ब्रह्मांड के लिए जीवन यापन हेतु सूर्य की ऊष्मा अथवा सत्ता एक अत्यंत महत्वपूर्ण उपादान के रूप में है। इस बात की उद्घोषणा कालांतर पूर्व हमारे ऋषि-मुनियों ने अपने ग्रंथों में सप्रमाण की थी। ऋग्वेद में इसकी वैज्ञानिकता को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है-

'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुश च'।

(ऋग्वेद;1.115.1)

चेतन सत्ता को विन्यास का विकास नहीं हो सकता है। अतः सूर्य के प्रकाश की उजास का मनुष्य की अंतर चेतना और बहिर्मुखी चेतना अथवा चराचर सृष्टि के विन्यास व विकास के लिए इसका आविर्भाव अत्यंत आवश्यक है। इसके अभाव में न तो जीवन की उपलब्धियों का यश ही प्राप्त हो सकता है और न ही संसार में बोए गए किसी भी प्रकार के कर्म अथवा खाद्य बीजों का बीज वपन ही। इस बात का प्रमाण भी वेदों में सैकड़ों वर्ष पूर्व इस प्रकार मिलता है-

कीर्तिश्च यश चामभश्च नभश्च
ब्राह्मणवर्चसम चान्नम चान्नाद्यम च।
य एतं देवमेकवृत्तं वेद।

(अथर्ववेदय 13.5.1-8)

स्पष्ट है कि वेदों में कृषि विज्ञान चिंतन के इस विशद, समग्र और व्यापक विषय को इस छोटे से आलेख में समेट पाना संभव नहीं है। इससे यह बात मुखर कि कृषि कर्म का कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं है जिसका उल्लेख वैदिक साहित्य में ऋषि मुनियों द्वारा न किया गया हो। आज भौतिकता की चकाचौंध में व्यक्ति सुविधाभोगी होकर संसाधनों के अभयारण्य की ओर जिस गति से भाग रहा है, उसी के समानांतर प्राकृतिक संसाधनों का यह दुर्लभतम खजाना उसके बौद्धिक व भौतिक जीवन से निश्चित रूप से दूर होता चला जा रहा है।

वह भौतिक संताप, कष्ट, यातना एवं अधिकाधिक व्याधियों व परेशानियों का शिकार इसीलिए होता चला जा रहा है क्योंकि प्राकृतिक सानिध्य को छोड़कर मनुष्य कृत्रिमता के मोह-पाश में ऐसा बंधता चला जा रहा है कि वह सच्चे और अच्छे आनंद धाम को छोड़कर सुख और दुख के जंजाल में फंसकर स्वयं को दोनों दृष्टियों से दंडित करता चला जा रहा है.... उसी के समानुपात में उसकी मौलिक प्रतिभा व चिंतन का भी क्षरण व हनन हो रहा है।

अतः यदि वास्तव में मनुष्य को भौतिकता के साथ-साथ बौद्धिक व आत्मिक परितोष व परम आनंद का अनुभव करना है तो वह वैदिक साहित्य में निरूपित मूल्य आदर्शों को आचरण की सभ्यता बनाकर उसके अनुसार जीवन यापन करे तभी उसका जीवन व जीवन दृष्टि न केवल स्वयं के लिए, बल्कि सृष्टि के विकास व मानवता के कल्याण में अपूर्वता के इतिहास का निर्माण करने में सहायक हो सकती है।

– 157, गढ़ विहार, फेज -1, मोहकमपुर, देहरादून -248005

❑❑❑

वैदिक वाङ्मय और तकनीकी :
यातायात के प्राचीन वैज्ञानिक साधनों के संदर्भ में

डॉ. (कु.) साधना जनसारी

भारतीय वाङ्मय की संपदा अपरिमित है। वर्तमान में यातायात के विभिन्न साधन जिनमें रथ, यान, रेलगाड़ी, वायुयान, जलयान आदि का वर्णन वेदों में प्राप्त होता है। इस विषय पर प्राच्य एवं पाश्चात्य विद्वानों में सहमति है। इससे संबंधित कतिपय उद्धरण निम्नवत् हैं –

1. रथ – रथ में वायु को संयुक्त करना –

'प्र वो वायुं रथयुजं कृणुध्वम्।'[1]

तुम वायु को अपने रथ में जुड़ने वाला बनाओं अर्थात् वायु द्वारा रथ संचालन का प्रबंध।

2. त्रितला रथ – (Three Storeyd)

'तं त्रिपृष्ठे त्रिबन्धुरे रथे सुज्जन्ति यातवे। .... ऋषीणां सप्त धीतिभिः।'[2]

सप्तऋषि अपनी बुद्धियों द्वारा पवमान को चलने-चलाने के लिए तीन बंधुरों वाले एवं तीन पृष्ठों/तलों वाले रथ में जोड़ते हैं। वर्तमान में हम दो तलों वाली बसें तथा नौकाएँ देखते हैं।

3. विद्युद्रथ – विद्युत् द्वारा चलायमान रथ –

"स होता मंद्रो विदथान्यस्थात्सत्यो यज्वा कवितमः स वेधाः विद्युद्रथः सहसस्पुत्रो अग्निः शोचिष्केशः पृथिव्यां पाजो अश्रेत्।"[3]

यह मस्त करने वाला होता समस्त ज्ञानों का अधिष्ठान है, यह सच्चा याजिक, सर्वाधिक क्रांतदर्शी वेधा शिल्पी है, जो अतिशय बलसंपन्न होकर, प्रकाशमय अग्नि की भाँति पालक बनकर पृथ्वी पर रहता है। वर्तमान में मेट्रो रेलगाड़ी तथा बिना मानव के चलने वाली रेलगाड़ी इसके साक्षात् दृष्टांत हैं।

4. अनश्वरथ – "अश्विचनोरसनं रथमनश्वं वाजिनीवतोः। तेनाहं भूरि चाकन।"[4]

शक्तिशालियों को यत्र-तत्र ले जाने वाला रथ अश्वरहित है। उससे भी मैं बहुत चमकता हूँ। वर्तमान में विमान, मोटर गाड़ी आदि दोनों का संकेत है।

5. त्रिचक्र-रथ (Tri Cycle) –

त्रिबंधुरेग त्रिवृत्ता त्रिचक्रण सुवृता यातमर्वाक्।

पिन्वतं गा जिन्वतमर्वतो नो वर्धयतमश्विना वीरमस्मे।।[5]

हे विद्वान शिल्पकारों! आप तीन प्रकार के बंधनों से युक्त, तीन प्रकार के आचरणों से युक्त, तीन वलयों वाले, उत्तम रचनायुक्त, तीन चक्रों युक्त रथ से सीधे गमन करो। गौ को प्रसन्न करो, अश्वों की वृद्धि करो, हमारे वीरों को बढ़ाओ। यहाँ तीन चक्रों वाले 'ट्राइसिकल' का संकेत है। ऑटो, ई-रिक्शा आदि इसी प्रकार के यान हैं।

वैदिककाल के अनंतर महाभारतकाल के रथ सभी प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों-बाण, भाला, लौहदंड, काष्ठदंड, तोमर रस्सी, यंत्र, ढाल, लौहशस्त्र, खड्ग, छुरी, कटार, शूल, मुद्गर आदि से परिपूर्ण होते थे। रथ का बाह्य भाग व्याघ्रादि के चर्म से मंडित कर दिया जाता था। समान्यतया रथ को खींचने के लिए चार अश्व प्रयुक्त होते थे। कभी-कभी हस्ती (हाथियों) खींचने का भी प्रयोग किया जाता था।[6]

रथ स्वर्ण-झालर तथा मणियों से सज्जित होते थे। दुर्ग/किलों के समान चारों ओर से सुदृढ़ सुरक्षा का प्रबंध रहता था, जिससे शत्रु का आक्रमण न हो सके।[7]

रावण के पास एक यंत्रयान था, जो भूमि पर वेगपूर्वक चलता था –

"सहस्रखरसंयुक्तो रथो मेघसमस्वनः।[8]

कार (Car) का चालन –

"परि प्रसिष्यदत्कविः सिंधोरूर्मावधि श्रितः। कारं विभ्रत्पुरुस्पृहम्।"[9]

नदी या समुद्र की तरङ्ग पर स्थित क्रांतदर्शी ज्ञानी शिल्पी अत्यंत स्पृहणीय कार को समुद्र की लहरों पर धारण करता हुआ सभी ओर चलाता है। वर्तमान में प्रयुक्त 'कार' शब्द वैदिक है। आज समुद्र में चलने वाले 'वोट या जहाज' इसी को द्योतित करते हैं। कार का अर्थ पंडित जयदेश शर्मा विद्यालङ्कारकृत ऋग्वेदसंहिता भाषा-भाष्य में 'रथ' रूप में प्राप्त होता है।[10]

ऋभुओं ने एक ऐसे रथ का निर्माण किया जो सर्वत्र गमनशील था।[11]

वायुयान – ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में महर्षि द्यानंद ने नौ-विमानादि-विद्याविषय प्रकरण में इसका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।[12] ऋग्वेद सायणभाष्य में भी वायुयान का वर्णन है।[13]

रामायण में स्थान-स्थान पर वायुयान का वर्णन प्राप्त होता है।

"कैलासपर्वतं गत्वा विजित्य नरवाहनम्।
विमानं पुष्पकं तस्य कामगं वै जहार यः।।[14]
यस्य तत्पुष्पकं नाम विमांन कामगं शुभम्।
वीर्यादावर्जितं भद्रे येन यामि विहायसम्।।"[15]

सीता के प्रति रावण की उक्ति है कि सुंदर पुष्पक विमान विश्रवण का था, जिसे मैं बलपूर्वक जीत कर लाया हूँ। इससे मैं आकाश में जाता हूँ।

"दिवं गते वायुपथे प्रतिष्ठितं, व्यराजतादित्यपथस्य लक्ष्मवत्।
सपुष्पकंतत्र विमानमुत्तमं,ददर्श तद्वानरवीरसत्तमः।।[16]"

आकाश में उड़ने पर वायुमार्ग में विराजमान, सूर्य-पथ में चिह्न की भाँति दिखने वाले पुष्पक विमान को देखा।

"जालवातायनैर्युक्तं काञ्चनैः स्फाटिकैरपि।"[17]

यह पुष्पक विमान स्वर्णजाली युक्त और स्फटिक के वातायनों से युक्त था।

जलयान –"यास्ते पूशन्नावो अन्तः समुद्रे हिरंययीरण्तरिक्षे चरन्ति।
ताभिर्यासि दूत्यां सूर्यस्य कामेन कृतश्रव इच्छमानः।।"[18]

हे पूषन्! जो तेरी लौहादि की बनी नौकाएँ समुद्र के अंदर अर्थात् समुद्रतल के नीचे और अंतरिक्ष में चलती है, मानो तू उनके द्वारा इच्छापूर्वक अर्जित यश को चाहता हुआ सूर्य के दूतत्व को प्राप्त कर रहा है।

इस मंत्र में 'नावः' का विशेषण 'हिरण्ययी' – हिरण्य-निर्मित। 'हिरण्य' का आशय जहाँ 'स्वर्ण' है, वहाँ वेद में लौह व धातुमात्र के लिए भी प्रयुक्त होता है।

'अन्तः समुद्रे' का आशय मात्र 'समुद्र में' नहीं है, इसे 'समुद्रे' द्वारा कहा जा सकता है। 'अन्तः' पद प्रयोग से 'समुद्र के अंदर' अर्थ बनता है अर्थात् उपर्युक्त मंत्र में वायुयानों – विमानों के साथ ही पनडुब्बियों (Submarines) का भी वर्णन है।

"सोमापूषणा रजसो विमानं सप्तचक्रं रथमविश्वमिन्वम्।"[19]

सप्त चक्रों के सोम का, जो सोम और पूषण की शक्ति से चलाया जाए। विमान नामक यंत्र भारतवर्ष में वैदिककाल से प्रचलित था। वेद में इसके निर्माण की विधि बतलाते हुए कहा गया है कि जो आकाश में उड़ने की स्थिति को जानता है, वह समुद्र-आकाश की नाव-विमान को जानता है।[20]

पाश्चात्य अमरीकन विद्वान् स्वीकार करते हैं कि प्राचीन भारत में वाष्प-यंत्र (Steam Engine) होते थे, जो अग्नि-रथ के नाम से प्रसिद्ध थे।[21]

रथों के विषय में पर्यटक अलबेरूनी ने कहा है – "जंगी रथों का आविष्कार एक हिंदू ने किया था, जबकि प्रलय के 900 वर्ष पश्चात् वह मिस्र पर शासन करता था।"[22]

मि. जकोलियट नामक प्रसिद्ध विद्वान् अपने ग्रंथ 'The Bible in India' में अनेक मतों की सृष्ट्युत्पतिविषयक कल्पनाओं का उल्लेख करते हुए वैदिक विचार के विषय में निम्न उद्गार प्रकट करते हैं-

"Astonishing fact! The Hindu revelation (veda) is of all revelations the only one whose ideas are in perfect harmony with modern science as it proclaims the slow and gradual formation of the world."

अमरीकन महिला विचारक ह्वीलर विलॉक्स (Mrs. Wheeler Willox) का कथन है –

"We have all heard and read about the ancient religion of India. It is the land of the great vedas, the most remarkable works. containing not only religious ideas on a perfect life, but also facts which all the science has since proved true. Electricity, Readium, Electrons, Airships, all seem to be known to the sires who found the vedas."[23]

अर्थात् हम लोगों ने प्राचीन भारतीय धर्म के विषय में सुना और पढ़ा है। भारत उन अत्यंत महत्वपूर्ण वेदों की भूमि है, जिनके अंदर न मात्र पूर्ण आदर्श जीवन के लिए धार्मिक तत्वों का निरूपण है, अपितु उन सच्चाइयों का भी निर्देश है जिनको समस्त विज्ञान शास्त्र ने सत्य प्रमाणित किया है। वैदिक ऋषियों को विद्युत्, रेडियो, इलेक्ट्रॉन, हवाई जहाज इत्यादि समस्त बातों का ज्ञान था – ऐसा प्रतीत होता है।

फ्रांस के सुविख्यात योगी भी स्वीकार करते हैं कि – "वर्तमान विज्ञान मात्र उन्हीं सिद्धांतों को पुनः प्रस्तुत करता है, जो वेदों में वर्णित हैं।"[24]

प्रसिद्ध इतिहासवेता रालीविंसन जिन वेदमंत्रों का उद्धरण देकर प्राचीन भारत के जहाजी बेड़ों का परिचय प्रस्तुत करते हैं, उनमें से एक स्वयं अपने बल से चलने वाला, अंतरिक्ष में गति करने वाला जहाज है।[25]

वैदिक साहित्य के प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् प्रो. मैक्समूलर अपने 'Biographical Essays' ग्रंथ में लिखते हैं – "In any historical or geographical names occur in the vedas, all are explained away because, they would impart to the vedas historical or tempered talent. To Swami Dayanand. everything contained in the vedas was not only perfact truth, but he went one step further and by their interpretation, succeded in persuading others that everything worth knowing - even the most recent inventions of modern science were alluded to in the vedas, steam - engine, electricity, telegraphy and wireless, morcongram were shown to have been known at least in the germs to the poets of the vedas."

तात्पर्य है कि महर्षि दयानंद ने वेदों में आए हुए ऐतिहासिक तथा भौगोलिक नामों की व्याख्या यौगिक-पद्धति से की है। इसका कारण है कि वेदों में कोई ऐतिहासिक विवरण नहीं है। महर्षि दयानंद की दृष्टि में जो कुछ भी वेदों में है, वह मात्र पूर्ण सत्य ही नहीं, अपितु ज्ञान के योग्य प्रत्येक वस्तु का वर्णन है। इतना ही नहीं अत्याधुनिक नूतन आविष्कारों, यथा-वाष्प इंजन, विद्युत्, तार, बेतार के तार, (फोन, कंप्यूटर, मोबाइल, सेटेलाइट), मॉरकोनोग्राम का भी प्रतिपादन वेदों में किया गया है – कम-से-कम बीजरूप में तो अवश्य ही उपर्युक्त वस्तुओं का वर्णन वेदों में है।

योगी श्री अरविंद का कथन है – "वेदों में सृष्टि-विद्या-तत्व का भी कुछ कम आविर्भाव नहीं है। ..... आधुनिक पदार्थ – विज्ञान की सत्यताएँ भी वैदिक मंत्रों में प्रकटित होती हैं।"[26]

उस समय जब फोटोग्राफी, फोनोग्राफी, गैसलाइट, टेलीग्राफ, टेलीफोन, रेलवे, हवाई जहाज, कंप्यूटर, दूरदर्शन आदि का भारत में प्रचार नहीं था, तब किस प्रकार भारत के वेद भाष्यकर्ता उन मंत्रों के यथार्थ रहस्यों को समझ सकते थे, जिनमें इन वस्तुओं के संकेत हों। वैदिक काल में भारतवर्ष ने सम्यक् उन्नति कर ली थी। उस समय भूगर्भविद्या, ज्योतिष और रसायनविद्या को आधिदैविक विद्या की संज्ञा प्रदान की गई थी। शरीर विद्या, मनोविज्ञान तथा ब्रह्मविद्या को अध्यात्मविद्या के नाम से जाना जाता था। तत्कालीन वैज्ञानिक ग्रंथ यद्यपि वर्तमान में सर्वथा लुप्त हो गए हैं, तथापि वेदों में उन विज्ञानों से संबंधित पर्याप्त निर्देश प्राप्त होते हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि वैदिक काल में उन विज्ञानों का पर्याप्त प्रचार था।

अतः उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध होता है कि प्राचीन भारत में यातायात के आश्चर्यजनक वैज्ञानिक साधन पर्याप्त मात्रा में थे। उनमें से कतिपय साधनों का आविष्कार आज भी संभवतः नहीं हो पाया है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. ऋग्वेद – 5/41/6
2. वही – 9/62/17
3. वही – 3/14/1
4. वही – 1/120/10
5. वही – 1/118/2
6. महाभारत – उद्योगपर्व – 155/4-12
7. वही – उद्योगपर्व – 155/15-23
8. वाल्मीकीय रामायण – युद्धकांड – 69/9

9. ऋग्वेद - 9/14/1
10. ऋग्वेदसंहिता भाषा-भाष्य-खंड-6, प्रथमावृति पृ. 43
11. ऋग्वेद - 1/20/3, 10/39/12, 1/92/28, 5/75/3, 1/34/12, 1/34/2
12. ऋग्वेदसंहिता - 1/8/8/3, 1/8/8, 1/8/9, 1/8/5, 1/8/1, 1/3/4/2, 1/3/5/1, 1/2/34/3, 1/6/9/4, 2/3/23/1
13. ऋग्वेद - 1/116/3, 1/116/4, 1/116/5, 1/117/14, 6/62/6, 1/117/15, 1/25/7
14. वाल्मीकीय रामायण - अरण्यकांड - 31/14
15. वही - 48/6
16. वही - सुंदरकांड - 8/1-2, 8
17. वही - सुंदरकांड - 9/16
18. ऋग्वेदसंहिता - 6/58/3
19. ऋग्वेद - 2/40/3
20. वैदिक संपति - पृ. 39
21. Hindu Superiority - Page 382 - महान भारत - पृ. 382
22. Alberuni's India. Vol. I, Page - 407
23. Sublimity of the vedas - Page - 83
24. महान भारत - पृ. 383
25. Intercourse between India and the western world - Page - 4.
26. ईश्वरीय ज्ञान वेद, प्रथमावृति - पृ. 78-79

– 'अतिथि व्याख्याता' संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विभाग, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर, मध्य प्रदेश

❑❑❑

वेदों में कृषि विज्ञान

डॉ. किरण शर्मा

वैदिक संस्कृति का उद्‌गम वेदों से हुआ है, वेद भारतीय संस्कृति की शाश्वत निधि हैं। 'वेद' शब्द पर विचार करें तो यह संस्कृत भाषा के 'विद्' धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ है 'ज्ञान'। प्रश्न उठता है कि वेद किसे कहा जाए? इसके लिए मनुस्मृति में कहा गया है–

"वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्‌विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मन स्तुष्टिरेव च।"[1]

संपूर्ण वेद, वेद को जानने वालों की स्मृति, उनका शील (पितृभक्ति, सौम्यता, कोमलता, मित्रता, शरणागत की रक्षा, करुणा आदि) धार्मिक आचरण, मन की प्रसन्नता ये धर्म के मूल हैं।

वेदों में जीवन के सभी पक्षों का उल्लेख है, इसमें 'कृषि विज्ञान' का अपना विशेष महत्व है, क्योंकि सृष्टि के विकास के साथ ही प्राणियों को अन्न की समस्या से दो चार होना पड़ा होगा। मनुष्य 'अन्नमय कोश' है। इसलिए मानव के जीवन का आधार अन्न ही है। अन्न का संबंध कृषि से है। यही कारण है कि अन्न को 'ब्रह्म' भी कहा गया है। इससे शरीर को शक्ति और ऊर्जा मिलती है। हमारे वैदिक ऋषियों-मुनियों ने कृषि की खोज की। उस काल में 'कृषि' गौरवशाली कर्म था। इस कार्य के लिए 'इंद्र' और 'पूषा' देवताओं को नियुक्त किया गया– 'इंद्रः सीतां निगृह्णातु तां पूषा'[2]

'कृषि की खोज' मानव सभ्यता के विकास का कारण है, जिसका अध्ययन कृषि विज्ञान करता है। कृषि का विकास लगभग 7000-13000 ई.पू. हो चुका था। भारत में आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व कृषि की समुन्नत अवस्था थी। भारतीय कृषि कार्य से परिचित थे इसका प्रमाण वैदिक साहित्य में मिलता है। ऋग्वेद और अथर्ववेद में कृषि संबंधी अनेक ऋचाएँ है जिनमें 'कृषि विधा' व 'उपकरणों' का उल्लेख है। गृह्य और श्रौत सूत्रों में कृषि संबंधी धार्मिक कृत्यों का विस्तार से वर्णन है। पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' में कृषि संबंधी अनेक शब्दों की चर्चा है, जो तत्कालीन कृषि व्यवस्था की सूचना देते हैं। कृषि पारिवारिक कार्य था, जिसमें सभी मिलजुलकर कार्य करते थे। कृषि जीवन और अर्थव्यवस्था की रीढ़ है। वैदिक मंत्रों में कृषि से संबंधित बीज, खाद, अन्न, उपकरण का विस्तार से उल्लेख है। ऋग्वेद में एक प्रसंग है जो सर्वप्रथम कृषि के विकास पर प्रकाश डालता है– "देवास आयन् परशून अबिभ्रन्, वना वृश्चन्तो अभिविड्‌भिरायन्।"[3] अर्थात् सर्वप्रथम देवतागण (पुरुषार्थी विद्‌वान) आगे आए। उनके पास अपनी-अपनी कुल्हाड़ियाँ थीं, उन्होंने जंगलों को काटकर साफ किया, उपयोगी लकड़ियों को नदियों के किनारे रख दिया और जहाँ कहीं घास-फूस (कृपीट) थी उसे जला दिया और कृषि कार्य प्रारंभ किया।

कृषि के आधारभूत तत्वों के रूप में भूमि, जल, बीज, खाद उत्पादों तथा उपकरणों पर मैंने यहाँ विचार किया है। कृषि की पहली अनिवार्य शर्त है। भूमि-भू-परिष्कार के बाद ही बीज बोने की प्रक्रिया होती है। पृथ्वी माँ है जो सभी जीवधारियों को धारण किए हुए है। राम भी कहते हैं 'माता भूमिः पुत्राऽहम् पृथिव्याः'। अथर्ववेद के 'भूमिसूक्त' में एक मंत्र इस ओर संकेत करता है–

विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी।

वैश्वानरं विभ्रती भूमिरग्निमिन्द्र ऋषभा द्रविणे नो दधातु।।"[4]

(अर्थात् पृथ्वी विश्व का भरण-पोषण करने वाली, सभी ऐश्वर्यों को धारण करने वाली, सभी की आधारशिला, सुवर्णादि को वक्ष में धारण करने वाली तथा शक्तिशाली सम्राटों वाली है) ऋग्वेद में कई प्रकार की भूमि का वर्णन है। जैसे-उर्वरा यानी उपजाऊ इसके लिए शब्द आया है 'अग्नस्वती'। मध्यम प्रकार की भूमि वह है जिसकी हल से जुताई कर मनचाही फसल उगाई जाए तथा तीसरे प्रकार की भूमि अपेक्षाकृत कम उपजाऊ, जलविहीन, क्षारीय तथा पथरीली होती है।

जल- 'जल ही जीवन है' यह कथन मानव समाज के साथ-साथ कृषि पर भी सटीक बैठता है। जल कृषि का अनिवार्य तत्व है। इससे सिंचित फसलें लहलहा उठती हैं। वर्षा का आवाहन करने के लिए मंत्रों का उल्लेख वेदों में है। भारतीय कृषि वर्षा पर आधारित है, इसीलिए कहा गया है कि वह 'मानसून का जुआ है।' वर्षा जल से नाना प्रकार की वनस्पतियाँ, लताएँ, औषधियाँ फलवती होती हैं। यजुर्वेद में उल्लिखित है- निकामे-निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न औषधयः पच्यन्ताम्।"[5] भूमि एवं जल के अतिरिक्त फसलों के लिए हवा और सूर्य का प्रकाश भी प्रत्यक्ष रूप से आवश्यक है। अन्न की रक्षा एवं वृद्धि के लिए एक साथ सभी प्रकार की वायु एवं अग्नियों का आह्वान इस मंत्र में किया गया है-

विश्वे अद्य मरुतो विश्व ऊती विश्वे भवन्त्वग्नयः समिद्धाः
विश्वे नो देवा अवसाऽऽगमन्तु विश्वमस्तु द्रविणं वाजो अस्मे।"[6]

अथर्ववेद में आठ प्रकार के जल का वर्णन है- हैमवतीः (हिमालय पर बर्फ रूप) उत्स्याः (स्रोत रूप में) सनिष्यदाः (सदा बहने वाला) वर्ष्याः (वर्षा के रूप में बरसने वाला) धन्वन्याः (मरुस्थल में प्राप्त) अनूप्याः (जलाशयों में प्राप्त) खनित्रिमाः (भूमि खोदकर कुएँ आदि से प्राप्त) तथा कुम्भेभिरामृताः (घड़े में भरा गया) इन सभी प्रकार के जल से लोक कल्याण की कामना की गई है।

यदि नदी का जल प्रदूषित होकर विषाक्त हो जाए तब उस जल प्रदूषण को भी रोकने का निर्देश वेद मंत्रों में दिया गया है। विडंबना है कि आज हमारे जलीय स्रोत अत्यंत प्रदूषित हैं, चूँकि हम अपनी जल संरक्षण की संस्कृति को भूल चुके हैं। कल-कारखानों का गंदा जल नदियों में प्रवाहित किया जा रहा है, साथ ही सीवर, रासायनिक खादों तथा दवाओं के अत्यधिक प्रयोग होने के कारण वर्षाकाल में विभिन्न मार्गों से होकर ये हानिकारक तत्व नदी, तालाबों को प्रदूषित कर रहे हैं। इनसे सिंचित फसल व इनका जल पीने वाले पशु-पक्षी भी रोगग्रस्त हो रहे हैं। यजुर्वेद में जल तथा वायु प्रदूषण को दूर करने के लिए 'यज्ञ विधान' का निर्देश है, जिसकी हवि से जल और वायु शुद्ध होगी, यही हवि जब सूर्य को प्राप्त होगी, उससे शक्तिदायक वर्षा होगी जो फसलों के लिए लाभकारी सिद्ध होगी। वेद में कहा गया है 'शन्नः पर्जन्योऽभिवर्षतु'।

बीज- जैसा बीज बोया जाएगा फसल वैसी ही होगी, कृषि का यह महत्वपूर्ण सिद्धांत है, जिसे लगभग सभी जानते हैं। ऋग्वेद और यजुर्वेद में निर्देश है कि 'कृते योनौ' अर्थात् भू-परिष्कार के बाद ही बीज बोना चाहिए। बीज कैसे हों? इस संबंध में निर्देश है कि बीज अच्छी किस्म के हों, जिनका शोधन औषधीय जल एवं रसों से किया गया हो। यथा-

"सं वपामि समाप औषधीभिः समोषधयो रसेन
सं मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्ताम्।"[7]

बीज बोने तथा औषधीय जल से सिंचाई का वैदिक सिद्धांत नितांत वैज्ञानिक है। इसी को आधार मानकर कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में लिखा है- "सर्वबीजानां तु प्रथमवापे सुवर्णोदक संप्लुतां पूर्वमुष्टिं वापयेत्।" अर्थात् सभी प्रकार के बीजों को बोते समय बीज की पहली मुट्ठी स्वर्णयुक्त जल से तर कर के बोना चाहिए। अलग-अलग अन्न को बोने के दिशा निर्देश भी दिए गए हैं। यथा- धान, मूंग और उड़द के बीजों को पहले सात, पाँच या तीन रात तक ओस में फैलाएँ (तुषारपायन) फिर उतने ही दिन धूप में फैलाएँ (उष्ण शोषण)। बीजों के संग्रह के संबंध में पराशर ऋषि एवं गर्ग ऋषि ने अपने मत दिए हैं। बीज को माघ (जनवरी-फरवरी) या फाल्गुन (फरवरी-मार्च) माह में संग्रहीत करके धूप में सुखाकर ही संरक्षित करना चाहिए।

भारतीय कृषि पद्धति की सराहना करते हुए सर वाकर ने लिखा है कि भारत में शायद विश्व के किसी भी देश से अधिक किस्मों का अनाज बोया जाता है और तरह-तरह की पौष्टिक जड़ों वाली फसलों का भी प्रचलन है। मेरी समझ में नहीं आता कि हम भारत को क्या दे सकते हैं? क्योंकि जो खाद्यान्न हमारे यहाँ हैं, वे तो वहाँ हैं ही और भी अनेक प्रकार के अन्न वहाँ पैदा होते हैं। उन्होंने भारत में पंक्ति में बोने की पद्धति को बहुत कुशल व उपयोगी अनुसंधान माना है।

खाद- अच्छी पैदावार के लिए खाद (उर्वरक) भी मुख्य घटक है, यही कृषि भूमि का भोजन है, जिससे पौधों व अनाजों का पोषण होता है। वेदों में खाद के लिए करीश्, शकन् और शकृत (गोबर, विष्ठा) शब्दों का प्रयोग किया गया है। अथर्ववेद में खाद के लिए 'फलवती' (करीषिणीं फलवतीम्) कहा गया है, किंतु आज रासायनिक खादों के अंधाधुंध प्रयोग ने भूमि की उर्वरा शक्ति को नष्ट कर दिया है। कीटनाशकों के अनुचित प्रयोग के चलते अन्न विषाक्त होते जा रहे हैं उनकी गुणवत्ता का क्षरण हो रहा है। यजुर्वेद में हरीखाद की महत्ता का उल्लेख है, सनई और ढैंचा से बनी खाद खेतों के लिए रामबाण है। अथर्ववेद में गोबर की खाद के संबंध में वर्णन है-

"सं जग्माना अबिभ्युषीरस्मिन् गोष्ठे करीषिणी:
बिभ्रती: सोम्यं मध्वनमीवा उपेतन।"[8]

(गोशाला में निर्भय होकर एवं परस्पर मिलकर रहती हुई तथा श्रेष्ठ (गोबर का) खाद उत्पन्न करने वाली और शांत व मधुर रस (दूध) को धारण करती हुई गाएँ निरोग होकर हमारे पास आए) यहाँ 'करीषिणी:' का अर्थ श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने 'गोबर की उत्तम खाद उत्पन्न करने वाली' किया है। घी-दूध एवं शहद का प्रयोग वैदिक काल में भूमि को कृषियोग्य एवं उपजाऊ बनाने के लिए किया जाता था।

वेदों में शुद्ध अन्न पैदा करने के लिए 'हवन' के प्रयोग पर बल दिया गया है। भारतीय संस्कृति में यज्ञ, हवन तथा पूजन का विशेष महत्व है, इससे पूरा वातावरण शुद्ध हो जाता है। यजुर्वेद में 12.69 में वायु और सूर्य को संबोधित करते हुए कहा है-'आप दोनों हमारी छवि से संतुष्ट होकर उत्तम फलों से युक्त औषधि एवं धान्य उत्पन्न करें।' अर्थात् यज्ञ की आहुतियों में विशेष पदार्थों के प्रयोग से वातावरण को शुद्ध कर भूमि को कृषि के अनुकूल बनाया जा सकता है। खुले आसमान में नीचे खेतों में यज्ञ करने से औषधीय द्रव्यों से उठा धुँआ खाद का काम करता है। बादलों से मिलकर यह धुँआ प्रदूषण का शोधन कर पोषक तत्वों की सृष्टि करता है फिर वह जल पृथ्वी पर गिरकर फसलों का पोषण करता है।

उपकरण- कृषि के लिए कुछ उपकरणों की भी आवश्यकता होती है, जिसका उल्लेख वेदों में मिलता है। हल और बैल कृषि के प्राचीन उपकरण हैं किंतु आज कृषि पूरी तरह से यांत्रिक हो गयी है। ट्रैक्टर, थ्रेशर ट्यूबबेल जैसे संसाधनों के आगे पुराने माध्यम दर किनार हो गए हैं। अब कुदाल, दरांती (दात्रम या सृणि) कहाँ हैं? वैदिक मंत्र में कहा गया है कि-

"शुनं वाह: षुनं नर: शुनं: कृषतु लाषगलम्
शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय।--"[9]

(बैल सुखी हों, उन्हें चलाने वाले किसान (हाली) सुखी हों और वे सुखपूर्वक हल जोतें। हल में रस्सियाँ सुख से बाँधी जाए तथा बैलों पर चाबुक (साँटा) भी सुख पूर्वक चलाया जाए)

कृषि उत्पाद या अन्न- वेदों में अन्न का विशेष महत्व है। इससे मनुष्य को शक्ति और ऊर्जा मिलती है, इसलिए अन्न को 'ज्योतिष्मती' (प्रकाश व शक्ति) कहा गया है। यजुर्वेद और तैत्तिरीय संहिता में दो प्रकार के अन्नों का उल्लेख है। 1. कृष्टपच्य- जो कृषि से उत्पन्न हो 2. अकृष्टपच्य- जो बिना कृषि के उत्पन्न हो जैसे-जंगली धान्य नीवार आदि।

वैदिक काल में पैदा होने वाले अनाजों में- 1. व्रीहि (धान) के तीन प्रकार थे-

कृष्णव्रीहि-काला धान या बगरी इसका चावल लाल होता था।

आशुव्रीहि-यह जल्दी पकने वाला धान था जिसे साठी कहते थे।

महाव्रीहि-यह बड़े दाने वाला धान्य था, संभवत: बासमती हो सकता है।

2. यव (जौ) 3. माश (उड़द) 4. तिल (तिल) 5. मुद्ग (मूंग) 6. खल्व (चना) 7. प्रियंगु (कँगुनीधान) 8. अणु (पतला या छोटा चावल) 9. श्यामाक (साँवा) 10. नीवार (कोंदो या तिन्नी का चावल) 11. गोधूम

(गेहूँ) 12. मसूर (मसूर) इसके अतिरिक्त वस्त्रों के लिए कपास की खेती भी की जाती थी। 'संस्कार चंद्रिका' में उपनयन संस्कार की व्याख्या के प्रसंग में शुद्ध खेत में पैदा हुई कपास को ही अच्छा माना गया है। माताएँ पुत्र के लिए वस्त्र बुनती हैं। यथा- वस्त्रा पुत्राय मातरो वयंति। कार्पासो निर्मलः प्रोक्तः शुचि क्षेत्रसमुदभवः[10]

वेदों में कृषि विज्ञान का पर्याप्त उल्लेख है, जिसके आधार पर युगानुरूप नए-नए आविष्कार की संभावनाएँ विद्यमान हैं। वेदों में कृषि को उत्तम व्यवसाय कहा गया है। लोक कवि घाघ ने भी इस बात की पुष्टि की है- "उत्तम खेती मध्यम बान, निषिध चाकरी भीख निदान।" लेकिन आज के वैश्विक पटल पर कृषि हाशिए पर चली गई है, उद्योग एवं सेंसेक्स के उतरते-गिरते ग्राफ के भंवर में उलझी युवा पीढ़ी खेती से मुँह फेर चुकी है। इधर 1990 के बाद 'नकदी फसलों' के जाल में उलझे किसान आत्महत्या करने को विवश हैं जो चिंता का कारण है। पारंपरिक कृषि से दूर होता किसान बैंक, महाजन तथा बिचौलियों के चक्कर में फँस चुका है। वह बाढ़ सूखा की चपेट में फसलों की बर्बादी के साथ जीवन भी तबाह कर रहा है। ऐसे में आवश्यकता है कि हम वैदिक पारंपरिक कृषि की ओर उन्मुख हों, जिससे सतत और टिकाऊ विकास दर को पा सकें। इस पद्धति का अनुसरण करके सर्वजन सुखाय-सर्वजन हिताय के लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है।

संदर्भ सूची

1. मनुस्मृति-पं. रामेश्वर भट्ट टीकाकार-पृष्ठ 49, द्वितीय अध्याय श्लोक 6, सम्यक् प्रकाशन प्रथम सं. -2015
2. अथर्ववेद-3.17.4
3. वेदों में समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र और शिक्षाशास्त्र-प्रो. कपिलदेव द्विवेदी, पृष्ठ - 108, विश्व भारती अनुसंधान परिषद ज्ञानपुर, भदोही, संस्करण 2010
4. सारस्वत साधना के मनीषी एवं संस्कृत वाङ्मय में विज्ञान-संपादक-प्रो. विद्याशंकर त्रिपाठी, विश्वभारती अनुसंधान परिषद, ज्ञानपुर, भदोही संस्करण 2010
5. सारस्वत साधना के मनीषी एवं वाङ्मय में विज्ञान-संपादक- प्रो. विद्याशंकर त्रिपाठी, पृष्ठ- 124
6. सारस्वत साधना के मनीषी एवं वाङ्मय में विज्ञान-संपादक- प्रो. विद्याशंकर त्रिपाठी, पृष्ठ- 124
7. सारस्वत साधना के मनीषी एवं वाङ्मय में विज्ञान-संपादक- प्रो. विद्याशंकर त्रिपाठी, पृष्ठ- 125
8. सारस्वत साधना के मनीषी एवं वाङ्मय में विज्ञान-संपादक- प्रो. विद्याशंकर त्रिपाठी, पृष्ठ- 128
9. सारस्वत साधना के मनीषी एवं वाङ्मय में विज्ञान-संपादक- प्रो. विद्याशंकर त्रिपाठी, पृष्ठ- 128
10. संस्कार चंद्रिका- पं. भीमसेन शर्मा पृष्ठ-346

– एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी, काशी नरेश राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, ज्ञानपुर, भदोही, उत्तर प्रदेश

❑❑❑

वैदिक काल और वर्तमान ज्यामितियों का अध्ययन

अवनीश कुमार चतुर्वेदी

आधुनिक काल में बीजगणित से हम लोग किसी ऐसे सदिश समष्टि की परिकल्पना के सिद्धांत को सत्य सिद्ध कर सकते है जिसके तीन से अधिक आयाम है। इस लेख में हम लोग देखेंगे कि आयामों और किसी वस्तु की ज्यामिति से क्या संबंध है। कैसे हमारी प्राकृतिक नेत्रों की क्षमता सीमित है, और इन आँखों से हम तीन से अधिक आयामों में स्थित किसी वस्तु की ज्यामिति नहीं देख सकते। बल्कि न ही अभी तक ज्ञात आधुनिक विज्ञान और उसकी किसी प्रौद्योगिकी से ही देख सकते हैं। लेकिन प्राचीन काल (वैदिक काल) में ऐसे कई उदाहरण हैं जिसमें यह दर्शाया गया है कि तीन से अधिक आयामों में ही संपूर्ण ब्रह्मांड को देखा और समझा जा सकता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि तीन से अधिक आयामों में स्थित किसी वस्तु का सिर्फ उतना ही भाग दिखाई देता है जितना कि तीन आयामों में उसका प्रक्षेपण है।

1. वर्तमान काल में तीन और तीन से अधिक आयामों में किसी वस्तु की ज्यमितियाँ-

बीजगणित के कुछ सामान्य सिद्धांतों को हम लोग यहाँ पुनः परिभाषित करते हैं (देखें (1))। मान लीजिए R एक वास्तविक संख्याओं का समुच्चय है। R का कार्तीय गुणन $R^n = \{(x_1, x_2, ..., x_n): x_i \in R\}$ है। हम जानते हैं कि R, सामान्य जोड़ + और गुणन × के साथ एक अदिश परिभाषित करता है। समुच्चय R^n अदिश क्षेत्र R के ऊपर एक सदिश समष्टि है

जहाँ R^n के सदिशो $(x_1, x_2, ..., x_n)$ और $(y_1, y_2, ..., y_n)$ का सदिश योग $(x_1, x_2, ..., x_n) + (y_1, y_2, ..., y_n) = (x_1, + x_2, y_1, + y_2..., x_n + y_n)$ और एक अदिश $\alpha \in R$, एक सदिश $(x_1, x_2, ..., x_n) \in R^n$ का अदिश गुणन $(\alpha x_1, \alpha x_2, ..., \alpha x_n) \in R^n$ द्वारा परिभाषित है। R^n सदिश समष्टि के सामान्य आधार तत्व $(1,0,..., 0)$ $(0, 1..., 0),..., (0,0, ..., 1)$ हैं और इसका आयाम n हैं यदि n का मान अंतत है तो हम कहते हैं कि इस सदिश समष्टि का आयाम अनंत है। उदाहरण के लिए, वास्तविक संख्याओं का समुच्चय R, परिमेय संख्याओं का समुच्चय Q (अदिश क्षेत्र) पर एक सदिश समष्टि है और इसका आयाम अनंत है।

परिभाषा : ज्यामितीय रूप से R^n में किसी भी बिंदु को $(x_1, x_2, ..., x_n)$ द्वारा निरूपित किया जाता है, जहाँ $x_i \in R$ हैं। R^n में किसी भी वस्तु को R^n के एक उपसमुच्चय X द्वारा निरूपित किया जाती है। तो

(i) किसी रेखा X की लंबाई क्या होगी? और

(ii) R^n में दो रेखाओं X और Y के बीच का झुकाव (कोण) को कैसे पता करें?

उत्तर: एक फलन $<>: R^n \times R^n \to R^n$ को $<x, y> = x_1 y_1 + ... + x_n y_n$ द्वारा परिभाषित करते हैं, जहाँ $(x_1, x_2, ..., x_n), (y_1, y_2, ..., y_n) \in R^n$। यह फलन $<, >$, R^n पर एक अंतर गुणन और $(R^n, <. >)$ एक अंतर गुणन समष्टि कहा जाता है। R^n में किसी सदिश $x = (x_1, x_2, ..., x_n)$ की लंबाई का मान है-

$$\|x\| = \|x_1, x_2, ..., x_n\| = \sqrt{< x, x >}$$

यदि R^n में दो सदिशों x और y के बीच का कोण $\varnothing$। है तो

$$\cos\varnothing = \frac{< x, y >}{\|x\|\|y\|}.$$

परिभाषा R^n में दो सदिशों x और y को ओर्थोगोनल कहा जाता है यदि $< x, y > = 0 \Leftrightarrow$ उनके बीच का कोण 90 डिग्री है $\Leftrightarrow$ इन सदिशों द्वारा दर्शाई गई रेखाएँ परस्पर लंबवत हों।

प्रश्न 2- किसी सदिश समष्टि (विशेष रूप से R^n) के आयाम और उसमें अधिकतम परस्पर लंबवत रेखाओं की कुल संख्याओं का क्या संबंध है?

उत्तर: किसी सदिश समष्टि में परस्पर ओर्थोगोनल सदिशें हमेशा रैखिक रूप से स्वतंत्र होते हैं। यदि एक सदिश समष्टि R^n का आयाम n है तो इसमें अधिकतम ओर्थेगोनल सदिशों की कुल संख्या n हो सकती है अत: R^n में पारस्परिक रूप से लंबवत रेखाओं की अधिकतम संख्या n होती है।

प्रश्न 3- R^n में अधिकतम कितनी परस्पर ऑर्थोगोनल सदिशे अथवा कितनी अधिकतम परस्पर लंबवत रेखाएँ दर्शाई जा सकती हैं?

उत्तर : (i) सदिश समष्टि $R^0 = \{0\}$ में सिर्फ एक ही अवयव शून्य है, जो की ज्यामितीय में एक बिंदु को दर्शाता है, इसलिउ R^0 में दो रेखाओं की बात नहीं की जा सकती।

(ii) R^2 सदिश समष्टि में अधिकतम दो रेखाएँ परस्पर लंबवत हो सकती हैं। उदाहरण स्वरूप, R^2 में अधिकतम दो पारस्परिक ओर्थोगोनल सदिशें (1, 0) और (0, 1) अस्तित्व में हैं।

(iii) R^3 सदिश समष्टि में अधिकतम तीन रेखाएँ परस्पर लंबवत हो सकती हैं। उदाहरण स्वरूप, R^3 में अधिकतम तीन परस्पर ओर्थोगोनल सदिशें (1, 0, 0)ए (0, 1, 0), (0, 0, 1) अस्तित्व में हैं।

(iv) इसी तरह R^n, $n > 3$ सदिश समष्टि में अधिकतम n रेखाएँ परस्पर लंबवत हो सकती हैं।

उदाहरण के लिए R^n में अधिकतम n पारस्परिक ओर्थोगोनल सदिशें (1, 0, ... 0,), (0, 1..., 0), (0 0, ..., 1) अस्तित्तव में हैं।

(v) इसी तरह एक सदिश समष्टि जिसका आयाम अनंत है, उसमें अनंत रेखाएँ परस्पर लंबवत हो सकती हैं।

प्रश्न 4- हमारी प्राकृतिक आँखों या किसी अन्य तकनीक द्वारा अधिकतम कितनी परस्पर लंबवत रेखाओं उत्तर- हमाारी प्राकृतिक आँखों, हम अधिकतम परस्पर तीन लंबवत रेखाओं ही देख सकते हैं। परस्पर लंबवत चार या अधिक रेखाएँ हमारी आँखों या किसी अन्य कृत्रिम ज्ञात प्रौद्योगिकी द्वारा नहीं देखी जा सकती हैं।

प्रश्न 5- क्या तीन से अधिक आयामों का विचार पूरी तरह से काल्पनिक है?

उत्तर- आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी के अनुसार, आज भी चार या उससे अधिक परस्पर लंबवत रेखाओं को देखना एक चुनौती की तरह है। उदाहरण के लिए, R^2 में (किसी समतल पर) हम तीन रेखाओं को परस्पर लंबित नहीं कर सकते। तथा R^3 में हम चार रेखाओं को परस्पर एक दूसरे के लंबवत नहीं देख सकते। माना हमारी प्राकृतिक क्षमता सिर्फ दो आयामी सदिश समष्टि (R^2) में वस्तुओं को देखने के लिए है, तो तीन आयामी सदिश समष्टि (R^3) का विचार उसके लिए पूर्णरूप से काल्पनिक है। लेकिन हम वस्तुओं को तीन आयामी सदिश समष्टि (R^3) में भली-भाँति देख सकते हैं, जबकि चार आयामी सदिश समष्टि का विचार हमारे लिए काल्पनिक है। इसलिए यह स्पष्ट है कि R^3 में स्थित किसी वस्तु की ज्यामितिय संरचना R^2 में एक संकीर्ण पैमाने (उस वस्तु R^2 में प्रक्षेपण के रूप) में दिखाई देती है और केवल दो आयामी सदिश समष्टि में देखने की क्षमता रखने वाले जीव के लिए उस वस्तु की ज्यामिति का पूरी तरह से वर्णन असंभव है। इस तथ्य से यह भी स्पष्ट है कि उच्च आयामों (4 या 4 से अधिक) की सदिश समष्टि में दिखाई देने वाली कोई भी वस्तु निचले आयामी सदिश समष्टि से भिन्न ज्यामितीय संरचना रखेगी। इसलिए, हम उच्च आयामों (4 या 4 से अधिक) से संबंधित किसी भी वस्तु को पूरी तरह से देख नहीं सकते हैं।

प्रश्न 6- क्या ब्रह्मांड वैसा ही है जैसा हम अपनी आँखों से देखते हैं?

उत्तर- हमारे पास रैखिक बीजगणित से साक्ष्य है कि R^n, में n परस्पर ओर्थोगोनल सदिश अस्तित्व में हैं अर्थात् R^n में n परस्पर लंबवत रेखाएँ स्थित हैं। लेकिन समस्या यह है कि हम अपनी प्राकृतिक आँखों या आधुनिक विज्ञान की किसी भी मौजूदा प्रौद्योगिकियों द्वारा उन्हें नहीं देख सकते हैं।

लेकिन प्राचीन भारतीयकाल (वैदिक काल) में तथ्यों के साथ हमारे पास कुछ प्रमाण भी अस्तित्व में हैं,

जिसमें अनंत आयामों में स्थित वस्तुओं के ज्यामिति का ब्याख्यान है। यहाँ हम विशेष रूप से महाभारतकाल (श्रीमदभागवतगीता) की चर्चा करते हैं।

2. **प्राचीन काल/ वैदिक युग में इस ब्रह्मांड की तीन से अधिक आयामों में ज्यामितिः**

हम लोग इस व्याख्यान में अर्जुन को श्रीकृष्ण द्वारा दिया गया श्रीमद् भागवत गीता का उपदेश का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं-

अर्जुन ने श्री कृष्ण से कहा कि [2, अध्याय 11, श्लोक 4]

मन्यसे, सदि, तत्, शक्यम्, मया, द्रष्टुम, इति, प्रभो,
योगेश्वर, ततः, में, त्वम्, दर्शय, आम्मानम्, अव्ययम्।।4।।

मैं यह कैसे विश्वास कर सकता हूँ कि पूरा ब्रह्मांड आपके शरीर के एक अंश मात्र में स्थित है। आप मेरे रथ के सारथी हैं यह सत्य जिसे मैं अपने इन नेत्रों से देखकर विश्वास कर पा रहा हूँ। यदि आपको यह प्रतीत होता है कि मैं आपको पूरे ब्रह्मांड (अविनाशी स्वरूप) के रूप में देखने में सक्षम हूँ तो कृपा करके मुझे दिखाएँ।

तब श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा [2, अध्याय 11, श्लोक 8] कि

न, तु, माम, शक्यसे, द्रष्टुम्, अनेन, एव, स्वचक्षुषा,
दिव्यम्, ददामि, ते, चक्षुः पश्य, मे, योगम्, ऐश्वरम्।।8।

तुम्हारी इन प्राकृतिक आँखों की जितनी क्षमता है, तुम मेरे इस त्रय आयामी स्वरुप को ही देख सकते हो। लेकिन मुझे पूर्णतया से कभी नहीं देख सकते, और तुम यह भी नहीं देख सकते कि पूरा ब्रह्मांड मेरे एक अंशमात्र में योगशक्ति से स्थित है (देखे [2, अध्याय 10, श्लोक 41, 42])। (जैसा कि हमने पूर्व में यह सिद्ध किया है कि हम स्वयं की प्राकृतिक आँखों से केवल तीन आयामों से कम में ही वस्तुओं को देख सकते हैं)। इसलिए अगर तुम पूरे ब्रह्मांड को देखना चाहते हो तो तुम्हारे ये नेत्र सक्षम नहीं हैं। अतः मैं तुमको एक ऐसी तकनीकी (दिव्य द्रष्टि) दे रहा हूँ, जिसके द्वारा तुम बहुत से पहले न देखे हुए आश्चर्यमय रूपों को देख सकोगे ([2, अध्याय 11, श्लोक 6,])। संजय नें [2, अध्याय 11, श्लोक 9-11], में इस ब्रह्मांड के अनंत आयामों में और श्री कृष्ण के शरीर के एक अंश में स्थित होने की व्याख्या की हैं। इस दिव्य दृष्टि द्वारा अनंत आयामों में स्थित ब्रह्मांड स्वरूप के दर्शन का सौभाग्य अर्जुन और संजय को मिला।

अतः अंत में यह निष्कर्ष निकलता है कि हम अपनी नेत्रों से जितना इस ब्रह्मांड को समझते हैं वह इसके अनंत आयाम का त्रय आयामी समष्टि में प्रक्षेपण मात्र है, यदि हमें इस ब्रह्मांड को पूरा समझना या देखना है तो इन प्राकृतिक नेत्रों से नहीं देखा जा सकता। आधुनिक विज्ञान के लिए ये एक चुनौती भी है कि वे ऐसी तकनीकी विकसित करें जिससे हम तीन से अधिक आयामों में स्थित किसी वस्तु की पूर्ण ज्यामिति की व्याख्या कर सकें।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. S.H. Friedberg, A. J. Insel and Lawrence E. Spence, Linear Algebra, 4th Ed., PHI Learning Private Limited, 2011.

2. स्वामी रामसुखदास, श्रीमद्भागवद्गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर, स. 2075, पंचनबेवां पुनर्मुद्रण।

– असिस्टेंट प्रोफेसर, गणित विभाग, इलाहाबाद, प्रयागराज-211002

❑❑❑

वेद-साहित्य और लोकमंगल का भाव

डॉ. नोदनाथ मिश्र

वैदिक साहित्य का विश्वसाहित्य में महत्वपूर्ण अनुपम स्थान है, क्योंकि वेद विश्व के प्राचीनतम ग्रंथ हैं और भारतीय साहित्य, संस्कृति, दर्शन और जीवन-धारा के मूलस्रोत हैं। भारतीय परंपरा में सृष्टि के आरंभ से ही वेदों का आविर्भाव माना गया है और उन्हें परवर्ती वाङमय का उपजीव्य ग्रंथ भी माना गया है। इनसे भारतीय जीवन-दर्शन, आचार व्यवहार, साहित्य, संस्कृति आदि सभी प्रभावित हैं। वेदों में ज्ञान- विज्ञान के विषयों का विस्तृत विवेचन हुआ है। इनमें आलैकिक शक्तियों, देवी-देवताओं की पूजा-आराधना द्वारा प्रसन्न करने के लिए, यज्ञ द्वारा प्रकृति को अनुकूल करने के लिए विविध मंत्रों का संकलन किया गया है। ये ज्ञान-विज्ञान के भंडार हैं। उन्हें केवल कर्मकांड से संबंधित मानकर इनके गौरव को कम करना उचित नही है।

वेद शब्द संस्कृत 'विद्' धातु से निष्पन्न शब्द है, जिसका अर्थ जानना, ज्ञान, पवित्र ज्ञान तथा लाभान्वित होना, आदि होता है। वेद ईश्वरीय ज्ञान के रूप में भी जाने जाते हैं, जिन्हें ऋषि मुनियों ने ईश्वर (प्रकृति) से मौखिक परंपरा में प्राप्त कर सुरक्षित रखा और बाद में महर्षि व्यास ने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद आदि रूपों में उनका विभाजन किया। विविध ज्ञान के रूप में इन्हें विज्ञान की मान्यता मिली है।

ब्राह्मण ग्रंथों, आरण्यक ग्रंथों और उपनिषदों में वेदविहित विचारों की व्याख्या और विस्तृत विवेचन होने के कारण इन ग्रंथों की गणना भी वैदिक साहित्य में की जाती है। शिक्षा कल्प व्याकरण निरूक्त, ज्योतिष तथा छंद आदि छह वेदांग हैं और इनकी रचना भी वेदों के विश्लेषण तथा महत्व प्रतिपादित करने के लिए की गई। फलतः वेदांगों को भी वैदिक साहित्य के अंतर्गत स्वीकार किया गया है।

वैदिक संहिताओं में भारतीय धर्म, साहित्य संस्कृति, दर्शन, राष्ट्रीयचेतना आदि का विवेचन विस्तार से हुआ हैं तो प्राकृतिक देवी-देवताओं इंद्र, वरुण, मित्र, अदिति, पूषा, अश्विनी कुमार पर्जन्य तथा उषा आदि की स्तुति के साथ-साथ मानवेतर देवों, प्रेतों, अप्सराओं, गंधर्वों के वशीकरण मोहन, उच्चारण के मंत्रों का भी उल्लेख किया गया है। यज्ञ के संबंध में वैदिक मंत्रों के आधार पर ब्राह्मण ग्रंथों तथा आरण्यकों में विचार दिए गए हैं तो उपनिषदों में आत्मविद्या का विवेचन मिलता है। भारतीय संस्कृति, इतिहास, साहित्य और भाषाविज्ञान का मूल आधार होने के कारण वैदिक वाङ्मय को महत्वपूर्ण माना गया है।

वेदों के लिए 'श्रुति' शब्द का प्रयोग भी किया जाता है। ऋषियों ने धर्म का साक्षात्कार प्रत्यक्ष रूप से किया था। उन्होंने जिस वैज्ञानिक सत्य का प्रत्यक्ष दर्शन किया उसे उपदेश के द्वारा अन्य ऋषियों को बताया। ऋषियों ने 'कान' से विषय को सुनकर ग्रहण अनुभव किया। अतएव वह 'श्रुति' कहलाया। इस प्रकार प्रत्यक्ष-द्रष्टा के अनुभव के कारण श्रवणेंद्रिय से गृहीत ज्ञान 'श्रुति' के रूप में लिया गया। 'श्रुति' शब्द प्रत्यक्ष देखे विषय का द्योतक होने के कारण समानार्थक और प्रत्यक्ष ज्ञान का बोधक है। वस्तुतः लोग वेदों से समस्त सत्य विद्याओं को जानते हैं, ज्ञान प्राप्त करते हैं, विचार

करते हैं और विद्वान होते हैं। इसलिए वेद विज्ञान है। कहते हैं- 'सत्य ज्ञान मनन्तं ब्रह्म' -वेद विज्ञान है और वह ब्रह्म है।

वेदों में सामाजिक संबंधों को दृढ़ता और स्थायित्व प्रदान करने के लिए तथा लोक मंगल की भावना से अनेक मंत्र उपलब्ध होते हैं। संस्कारों की चर्चा के क्रम में विवाह संस्कार को वर-कन्या इन दो व्यक्तियों का आलैकिक संबंध माना गया है, जहाँ दोनों की आत्मा एक बन जाती है। पत्नी के देह, प्राण, मन आदि का दृढ़ संबंध पति के देह, प्राण, मन से कर देना ही इस संस्कार का मुख्य लक्ष्य है। परस्पर मिलाने में जिन जल और अग्नि की शक्ति मानी जाती है उनका उपभोग इदस संस्करण में पूर्ण रूप से किया जाता है, कन्या का पाणिग्रहण करता हुआ वर जो मंत्र पढ़ता है वह अत्यंत महत्वपूर्ण है-

"गृणामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्यमा सविता पुरंध्रिमह्यं त्वा दुर्गा हे पत्याय देवाः।।

(ऋ. मं. 10/85/36)

भग, अर्यमा आदि देवों के गर्हपत्य कर्तव्य के संपादन के लिए वर को वधू प्रदान किया है। वधू को संबोधित करता हुआ वर कहता है कि तुम्हारे नेत्र घोर न हों, तुम पशुओं के लिए कल्याणकारिणी हो, सुमना, सुवर्चा हो, वीर संतान उत्पन्न करने वाली हो, द्विपद (मनुष्य, रिश्तेदार, नौकर आदि) के लिए तथा चतुष्पदों (पशुओं) के लिए मंगलकारिणर हो)

सामाजिक व्यवस्था में नववधु को आशीर्वाद देने के लिए ऋग्वेद में कहा गया है-

"सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञीभव, सम्राज्ञी अधिदेवृषु।"

(ऋ. मं. 10/85/47)

"तुम सुसर के संबंध में, सास के संबंध में, ननद के संबंध में, तथा देवरों के संबंध में सम्राज्ञी बनो। वे सब तुम्हारी इच्छा के अनुकूल कार्य करने वाले रहें।" पतिगृह में (संयुक्त परिवार मे, बहू का इससे अधिक महत्व और क्या हो सकता है। स्त्रियों के सम्मान का यह सुंदर उदाहरण है, जो परिवारों को, समाज को जोड़ने का अनुपम कार्य करता है।

वेद में मानव के शारीरिक व मानसिक विकास के लिए कामना करते हुए शरीर को सबल तथा निरोग बनाने हेतु देवताओं की स्तुति का निर्देश इस प्रकार किया गया है-

"भद्रं कर्णेनिःशृणुयाम देवा,
भद्रं पश्येमाक्षमियर्जत्राः
स्थिरै रंगैस्तुष्टुवांसस्तनूभिः
व्यशेमहि देवहितं यदायुः।।"

(ऋग्वेद 1/89/8)

हम कानों से शुभ वचन सुनें जिससे हमारा मन प्रसन्न रहे, हृदय राग-द्वेष से रहित पवित्र रहे। नेत्र इंद्रियों से मन को सुख देने वाली अच्छी (सत्) वस्तुओं को देखें, जिससे हमारे अंतःकरण में दूषित मनोवृत्तियों का विकास न हो पाए तभी हमें घृणा, समस्त प्राणी मित्र, सहयोगी और प्रिय दिखाई देंगे तथा हमें राग-द्वेष और मनोमालिन्य का अवसर ही नहीं प्रदान करेंगे। पणिामतः शरीर स्वस्थ, मन प्रसन्न और बुद्धि निर्मल और दीर्घायु स्वतः प्राप्त हो जाएगी।

अनुचित विधि, द्यूत क्रीड़ा, जुआ आदि के व्यसन से मुक्त रहकर सत्कर्म से धन उपार्जित कर जीविका निर्वाह की प्रेरणा ऋग्वेद के इस मंत्र से मिलती है-

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित कृषस्वक्ति रमस्व बहु मन्यमानः।
तत्र गावः किव तत्र जाया तन्मे विचष्टे सविताय मर्यः।।

(ऋ. 10/34/13)

हे मानव, तुम जुआ मत खेलो, कृषि से जो धन प्राप्त होता है उससे सुखपूर्वक जीवन यापन करो। इसके विपरीत परिश्रम न करके द्यूत क्रीड़ा के द्वारा धन बढ़ाने का प्रयास न करो। अपने परिश्रम से जो धन प्राप्त होता है उससे मिलने वाली सुखशांति अनोखी होती है)

अहिंसक प्रवृत्ति के विकास के लिए, हिंसा से दूर रखने के लिए प्रार्थना इस मंत्र में की गई है।

"मानो महान्तमुत मानो अर्भक मान उक्षन्तमुत मान न उक्षितम्

मानो वधीः पितरं मोत मातरं मानः प्रयास्तन्वो रूद्र रीरिषः

(हे रूद्रदेव, हमारे श्रेष्ठ गुरुजनों को मत मारो, बालको को मत मारो, हमारे तरुणों को मत मारो, हमारे गर्भस्थ शिशुओं को मत मारो, हमारे पिता और माता को मत मारो और हमारे प्रिय पुत्र-पौत्रादि को मत मारो)

समाज में सबको मिलकर चलने की प्रेरणा देते हुए एकरूपता स्थापित करने के उद्देश्य से कहा गया है कि

"संगच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।"
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।।

ऋग्वेद- 10/191/2

मिलकर, रहने, चलने, बोलने और सोचने से संगठन शक्ति बढ़ेगी।

(हम सबकी प्रार्थना एक समान हो, भेदभाव रहित परस्पर मेल की भावना समान हो, विचार प्रदान का स्थन एक ही हो, तभी संपूर्ण विश्व एक नीड़ में रह पाएगा। मनन करने का साधन अपना अंत:करण और चित्त-विचारजन्य ज्ञान एक प्रकार का हो)

इन विचारों के लिए यह मंत्र उल्लेखनीय है-

"समानो मंत्र: समिति: समानी, समानं मन: सह चित्तमेणाम्।
समानं मंत्रमभिमंत्रये व: समानेन वो हविषा, जुहोभि।।"

(ऋ. 10/191/3)

समाज और परिवार में सदभाव और सौहार्द बनाए रखने के लिए इस प्रकार प्रार्थना की गई है-

"मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।। (यजु. 36/18)
अनुव्रत: पितु: पुत्रो मात्रा भवतु संमना:।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम्।।"

(अर्थववेद- 3/30/2)

(मैं मनुष्य तथा अन्य सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूँ, हम सब परस्पर मित्र की दृष्टि से देखें। भाई, भाई से द्वेष न करें, बहन, बहन से द्वेष न करें। सब मिलकर आपस में मधुर वचन बोलते हुए अपने कल्याण के लिए दत्तचित्त हो जाए।

पुत्र पिता का आज्ञा पालक बना रहे और माता से मन मिलाकर परस्पर मधुरवाणी का व्यवहार करें। पति-पत्नी मिलजुलकर अच्छे परिवार को सुदृढ़ कर राष्ट्र का निर्माण करें।)

राष्ट्रीय भावना के विकास के लिए मातृभूमि के प्रति माँ और पुत्र का संबंध बताते हुए "माता भूमि: पुत्रोंऽहं पृथिव्या:" (अथर्ववेद 12/1/12) कहकर कृतज्ञता व्यक्त की गई है।

वैदिक वाङ्मय में राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्य और दायित्व का बोध कराया गया है, जिससे राष्ट्रप्रेम की भावना जागृत होती है। तदनुसार नागरिकों की राष्ट्ररक्षा की प्रेरणा दी गई है।

"आ ब्रह्मन ब्राह्मणों ब्रह्वर्चसी जाय तामाराष्ट्रे राजन्य: शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढा-नड्वानाशु: सप्ति: पुरन्ध्रिर्योषा जिष्णु रथेष्टा: सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे-निकामे न: पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधय: पच्यन्तां योगक्षेमो न: कल्पताम्। (शुक्लयजुर्वेद-22/22)

(हे परमेश्वर, हमारे संपूर्ण राष्ट्र में ब्रह्मतेजस्वी और परम जितेंद्रिय लोग उत्पन्न हों जो हमारे राष्ट्र को ईति-भीति आदि सभी विपत्तियों से राष्ट्र में अस्थिरता पैदा करने वाले शुत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाले हों, हजार सारथियों को अपने-अपने पराक्रम के पराजित करने वाले योद्धा पैदा हों तथा राष्ट्र की शक्ति स्वरूपा गाएँ जो अधिक दूध देने वाली हों और ज्यादा भार ढोने वाले शक्तिशाली बैल, तेजगति वाले घोड़े उत्पन्न उत्पन्न हों। सकल सद्गुणों से पूर्ण स्त्रियाँ पैदा हों।

पुत्र भी गुणवान हो, बादल समय-समय पर पृथ्वी पर वर्षा करते रहें- धरती अन्न से परिपूर्ण रहे दुर्भिक्ष से प्रजा दुखी न हो। सब प्रकार से योगक्षेम (कुशलता) बना रहे।)

वेदों में अनेक स्थलों पर विज्ञान पर प्रकाश डाला गया है तथा अनेक वैज्ञानिक तथ्य उपलब्ध होते हैं। वेदों में यज्ञ का बहुत अधिक महत्व है जिसके कारण अग्नि को प्रमुखता दी गई है। यजुर्वेद के इस मंत्र में अग्नि को संबोधित किया गया है-

"अप्स्वग्ने सधिष्टव सौषधीरनुरुध्यसे
गर्भे सन् जायसे पुन:। (यजु. 12/36)

"हे अग्नि देव जल में तुम्हारा स्थान है, तुम ओषधियों में भी व्याप्त हो और गर्भ से रहते हुए भी फिर प्रकट होते हो"। जल में रहने वाले आग से बिजली का बोध होता है जो विद्युत् विज्ञान को सिद्ध करता है।

इसी प्रकार अनेक मंत्रों में आकर्षण विज्ञान से पृथ्वी की आकर्षण शक्ति की ओर संकेत है, वेदों में शरीर विज्ञान, दृष्टि विज्ञान, मनोविज्ञान, ग्रहण विज्ञान,

गर्भविज्ञान, वास्तुविज्ञान, शिल्पविज्ञान, ओषधिविज्ञान शल्यचिकित्सा आदि विज्ञानों के अनेक मंत्र उपलब्ध होते हैं, और वेदविज्ञान की महत्ता सिद्ध होती है।

वेदमंत्रों के अनुसार ऋभुदेवताओं इंद्र के लिए आदि उपकरण की अपेक्षा नहीं थी। तीन पहियों के इस रथ को ऋभु देवों ने अपनी विशिष्ट प्रतिभा और कौशल से बनाया था।

(ऋग्वेद–मं.2/4/36)

इसी प्रकार द्वंद्व के लिए आकाश और पृथ्वी दोनों में समानरूप से चलने वाला आपस में जुड़े हुए दो घोड़ों के आकार का एक विमान बनाया था।

(ऋग्वेद 4/35/5)

बृहस्पति के उपभोग के लिए गाय के आकार का एक विमान के बनाने का उल्लेख भी है, जिसका नाम विश्वरूपा था। (ऋग्वेद– मं. 1/161/6)

इसी प्रकार देवताओं को लिए ऋषिओं द्वारा अनेक विमानों के निर्माण की चर्चा ऋग्वेद में की गई है, जिससे उस समय शिल्पों के कोशल के समृद्ध हाने की बात प्रमाणित होती है।

वेद–विज्ञान का प्रभाव भाषा संबंधी चिंतन और अध्ययन में भी दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद के अंत में कुछ ऐसे वर्णन मिलते हैं कृष्ण यजुर्वेद संहिता में देवताओं ने इंद्र से कहा है कि हम लोगों के कथन को टुकडों में कर दीजिए। इससे स्पष्ट होता है कि 'वाक्य के खंड हो सकते हैं– इस बात का उन्हें ज्ञान था और भाषा संबंधी विचार वैदिक साहित्य में हुआ है। ध्वनि की दृष्टि से वेदों के विशिष्ट अध्ययन में गेयता की प्राचीन परंपरा को सुरक्षित रखा गया। इसके लिए उच्चारण संबंधी विशिष्ट पक्षों की दृष्टि से 'प्रतिशाखा' का अध्ययन किया गया। प्रतिशाखा के कारण ये 'प्रातिशाख्य' कहलाए। बाद में शिक्षाग्रंथों में ध्वनि, स्वरूप, वर्गीकरण, अक्षर आदि पर विचार किया गया। वैदिक शब्दों के संग्रह 'निघंटु' में किए गए। 'निघंटु' वैदिक शब्दों का कोश है और यास्क के समय में अनेक निटुंट थे। निघंटु की व्याख्या यास्क के 'निरुक्त' में की गई है, जिसके अंतर्गत 'निघंटु' के प्रत्येक शब्द की अलग–अलग व्युत्पत्ति तथा अर्थ पर विचार किया गया है। इसके अतिरिक्त निरुक्त में शब्दों पर भाषा की उत्पत्ति, गठन, विकास आदि पर विचार के साथ–साथ शब्द अर्थ के संबंध, विभाषाओं की उत्पत्ति, नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात आदि पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया गया है। पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि आदि वैयाकरणों ने वैदिक वाङ्मय से प्रेरित होकर संस्कृत व्याकरण को उच्चतम बिंदु पर पहुँचाया तथा परवर्ती काल में अनेक विद्वानों को भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करने को प्रेरित किया। इस शृंखला में भारतीय तथा विदेशी विद्वानों का योगदान होता रहा और कहा जा सकता है कि वेदविज्ञान का मूल योगदान भाषा क्षेत्र में अतुलनीय रहा है।

– सी–180, द्वितीय तल, हरिनगर घंटाघर, नई दिल्ली–110064

❑❑❑

वैश्विक ज्ञान-विज्ञान की संपूर्ण क्रियाओं का मूल उत्सः वेद

डॉ. पूरन चंद टंडन

'वेद' शब्द ज्ञानार्थक 'विद्' धातु से निर्मित वह शब्द है जिसका सही-सही-अर्थ है भारत के ऋषियों-मुनियों द्वारा सर्वप्रथम देखा-समझा गया 'ज्ञान'। वैदिक युग में इसे वाङ्मय भी कहा गया। मनु ने अपने स्मृति-ग्रंथ में वेदों को 'सर्वज्ञानमय कोष' भी घोषित किया। संज्ञा शब्द 'वेद' से विशेषण बनता है 'वैदिक'। काल, युगबोध, साहित्य, संस्कृति, विशिष्ट ज्ञान वैदिक' शब्द की सीमा या परिधि में वेद विषयक ज्ञान आदि समाहित रहते हैं। विद्वानों ने 'वेद' वाङ्मय के अंतर्गत 'वेद' और उनसे संबंद्ध संपूर्ण साहित्य, यथा ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् आदि ग्रंथों को भी वैदिक साहित्य कहा है। संहिताओं, कल्पसूत्र तथा वेदांग आदि को भी वैदिक साहित्य के अंतर्गत रखा गया है। "हिस्ट्री ऑफ एंशिमेन्ट संस्कृत लिटरेचर" ग्रंथ में प्रसिद्ध विद्वान मैक्समूलर ने तो वैदिक साहित्य को चार खंडों में विभक्त किया- 1. छांदस् युग 2. मंत्रयुग 3. ब्राह्मण युग और 4. सूत्र युग। यह भी मान्यता है कि ऋग्वेद के छंदों अथवा मंत्रों की रचना सर्वप्रथम हुई। फिर मंत्रों को चार संहिताओं में संग्रहीत किया गया। इसके बाद ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषद रचे गए। अंत में जाकर सूत्र-ग्रंथों की रचना हुई।

डॉ. कीथ ने अपने ग्रंथ 'रिलीजियन एंड फिलास्फी ऑफ वेदाज' (खंड एक) में वैदिक साहित्य की अवधारणा पर विचार करते हुए उसमें सूत्र-ग्रंथों को भी समाहित तो किया साथ ही समग्र वैदिक साहित्य को तीन वर्गों में विभक्त किया-

1. ऋग्वेद के प्राचीन मंत्र

2. साम, यजुष् तथा अथर्व, संहिताओं के साथ-साथ ब्राह्मण, आरण्य और उपनिषद् आदि ग्रंथ

3. श्रौत तथा गृहय-सूत्र

इस तरह वेदों के अंतर्गत संहिताएँ, ब्राह्मण ग्रंथ, आरण्यक ग्रंथ, उपनिषद् ग्रंथ, कल्पसूत्र तथा शेष बेदांग आदि समहित किए गए हैं।

वैदिक साहित्य में प्रयुक्त 'संहिता' शब्द कर अर्थ 'संग्रह' है। इन संग्रहों अर्थात् संहिताओं के अतंर्गत प्राचीन भारतीय सूक्त, सभी प्रार्थनाएँ, अनुरोध, याचनाएँ और मंत्र-तंत्र आदि संकलित हैं। हमारे प्राचीन ऋषियों, तपस्वियों, मुनियों आदि ने जिस महान ईश्वरीय ज्ञान का साक्षात्कार और अनुभव किया उसे जिन शब्द समूहों या वाक्य समूहों में पिरोया उन्हें ही 'मंत्र' संज्ञा दी गई। संहिताओं के अध्ययन-अवलोकन हेतु अनेक संप्रदाय सक्रिय हो गए तो एक ही संहिता के भी अनेक रूप उपलब्ध होने लगे। इन्हीं संहिता रूपों को शाखाएँ भी कहा गया। आज इन संहिताओं के रूप में उपलब्ध शाखाओं को ही हम- 1. ऋग्वेद, 2. यजुर्वेद, 3. सामवेद तथा 4. अथर्ववेद के नाम से जानते हैं। इन्हीं संहिताओं में प्रत्येक के अंतर्गत भिन्न-भिन्न 'ब्राह्मण', 'आरण्यक' तथा 'उपनिषद्' ग्रंथ भी प्राप्त होते हैं।

वैदिक वाङ्मय की सर्वाधिक प्राचीन एवं अत्यंत महत्वूर्ण संहिता 'ऋग्वेद संहिता' कहलाई। 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' पुस्तक में वेद-विद् श्री वाचस्वति गैरोला लिखते हैं कि- "छंदोबद्ध मंत्रों को 'ऋक्' या

भाषा ISSN 0523-1418

'ऋचा कहते हैं, 'वेद' शब्द 'विद्' धातु से निष्पन्न होता है, जिसका शाब्दिक अर्थ है ज्ञान। इसलिए 'ऋग्वेद संहिता' का शाब्दिक अर्थ हुआ देव विषयक (अतिगूढ़) ज्ञान का प्रतिपादन जो छंदों में संग्रहीत है।"

इस प्रकार ऋग्वेद की इन संहिताओं में स्तुतिपरक प्राचीन ऋचाएँ संग्रहीत हैं।

गद्यात्मक मंत्रों को 'यजुर्वेद संहिता' के नाम से जाना गया। यजुर्वेद के दो रूप मिलते हैं- 1. शुक्ल यजुर्वेद तथा 2. कृष्ण यजुर्वेद। यजुर्वेद संहिताओं का महत्व धार्मिक विकास के अध्ययन की दृष्टि से अत्यधिक है।

सामवेद् संहिता का महत्व भारतीय यज्ञ परंपरा, भारतीय जादू आदि संबंधी परंपरा तथा संगीत शास्त्र विषयक परंपरा को उजागर करने की दृष्टि से है।

अथर्ववेद के मंत्र रोगों का नाश से संबद्ध हैं। इसमें 'अंगिराओं' का समावेश भी है। अंगिराओं के मंत्रों का संबंध शुत्रुओं, प्रतिद्वंद्वियों और दृष्टों- मायावियों के प्रति-प्रकट किए जाने वाले अभिशापों से है।

ब्राह्मण ग्रंथों को यज्ञ-विज्ञान की प्राचीन पुस्तक कहा जाता है। इनमें अनेक प्रेदक आख्यान तथा सृष्टि उत्पत्ति के प्रसंग भी समाहित हैं। ब्राह्मण ग्रंथों के परिशिष्ट रूप में 'आरण्यक' संकलित किए गए। अरण्यों के एकांतवासियों तथा वानप्रस्थियों द्वारा इन ग्रंथों का अध्ययन किया जाता था, इसीलिए इन्हें 'आरण्यक' कहा गया। यज्ञों के गूठार्थ, लाक्षणिकता तथा पौरोहित्य संबंधी दर्शन को इन ग्रंथों में विवेचित किया गया। आरण्यक ग्रंथों के परिशिष्ट रूप में उपलब्ध ग्रंथ 'उपनिषद्' हैं। उपनिषद् जीवन एवं सृष्टि के भौतिक तथा नश्वर सुखों से विलग, शाश्वत और चिरंतन या कालजयी आनंद की अनुभूति- से जोड़ने का काम करते हैं। उपनिषदों की संख्या 'मुक्तिकोपनिषद्' में 108 तक गिनवाई गई है। किंतु ऐतरेय, मृहदारण्यक, मुण्डकोपनिषद आदि चौदह उपनिषद् तो मुख्य माने ही जाते हैं। 'कल्पसूत्र' भी वैदिक साहित्य से अत्यंत निकाय से संबद्ध हैं। ब्राह्मण ग्रंथों के अनेक प्रकरणों को संक्षिप्त, व्यवस्थित और व्यावहारिक बनाने तथा सहज और बोधगम्य बनाने के लिए ही 'कल्पसूत्र' निर्मित दिए गए हैं।' ये चार प्रकार के हैं- 1. श्रौत सूत्र, 2. गह्य सूत्र, 3. धर्मसूत्र तथा 4. शल्व सूत्र।

अंत में 'वेदांग' आदि को यदि देखें तो इनमें 1. शिक्षा, 2. कल्प 3. व्याकरण, 4. निरुक्त 5. ज्योतिष तथा 6. छंद आदि समाहित हैं। वस्तुतः ये सभी वेदांग किसी न किसी प्रकार से वैदिक साहित्य से संबद्ध भी हैं तथा उन संपूर्ण वैदिक साहित्य के अध्ययन में सहायक भी हैं।

इस तरह संपूर्ण वेदों को सत्यविद्या के रूप में देखा गया है। महर्षि दयानंद ने ऋग्वेद आदि भाष्यों की भूमिका में वेदविषय पर विचार करते हुए इसके चार विषय क्षेत्र गिनवाए- 1. विज्ञानकांड 2. कर्मकांड 3. उपासनाकांड तथा 4. ज्ञानकांड।

महर्षि दयानंद यह भी लिखते हैं कि- "इनमें विज्ञान कांड का विषय सबसे मुख्य है क्योंकि इसमें परमेश्वर से लेकर तृणपर्यंत विषयों के सब पदार्थों का ज्ञान समाविष्ट है।"

वेद, विश्व ज्ञान और विज्ञान के शिक्षक-प्रशिक्षक ग्रंथ हैं। ये अध्यात्म विज्ञान, भौतिक विज्ञान तथा विधा विज्ञान की विचार संपदा का आगाज है।। वेद स्वस्थ-शरीर, नीरोगी काया, सशक्त आत्मबल, विषयक ज्ञान तथा शरीर रचना का ज्ञान चिकित्सा शास्त्र एवं आयुर्विज्ञान तथा आयुर्वेदशस्त्र संबंधी ज्ञान का भी भंडार हैं। अर्थववेद में मानव-शरीर की रचना और संपूर्ण विज्ञान के रहस्य को स्पष्ट किया गया है। शरीर में रक्त प्रवाह-चक्र का भी वर्णन वैज्ञानिक शैली में ही किया गया है। अर्थववेद के 10वें कांड के दूसरे सूक्त के 11वें मंत्र में तो यह भी बताया है कि शरीर में कितने प्रकार से जल (आपः) को संजोया गया है और यह जल कैसे संपूर्ण शरीर में फैलता है और संपूर्ण शरीर से बहता हुआ नदियों की तरह समुद्र अर्थात् हृदय में आता है और फिर वहाँ से कैसे बाहर निकल जाता है। जिन जलकणों का स्वाद तीखा है, जो चमकते लाल रंग के हैं, जो लोह तत्व से युक्त हैं और इसी कारण से लाल भी है (लोहिनी है) जो लाल-नीले रंग का है, (तामधूम्र) है और पुरुष के शरीर में ऊपर की ओर (ऊर्ध्वा) बहता है, नीचे की ओर (अवाची) बहता है तथा अंत में शरीर के दाएँ-बाएँ अंगों में (तिरश्चीः) भी प्रवाहित रहता है।

वेदों में अनेक स्थलों पर ऐसे मंत्र और सूक्त उपलब्ध हैं जिनमें जलचिकित्सा, सूर्य की किरणों से चिकित्सा (क्रोमोपैथी) रोगाणुओं तथा रोग जनक कृमियों

का सूर्य-किरणों से विनाश, अग्नि के ताप से विनाश, रोग निवारक औषधियों का ज्ञान, प्राकृतिक औषध संपदा की जानकारी, पुत्रादा ओषधि का ज्ञान, शुद्ध वायुसेवन और प्राणायाम के शारीरिक लाभ, मित्र तथा वरुण नामक वायुओं के योग से जल की उत्पत्ति आदि का भी वेदों में विस्तार से प्रामणिक विवेचन दिया गया है

वेदों में अनेक स्थलों पर विमानों का, विद्युत चलित रथों का, शत्रुमारक सीसे की गोली का प्रयोग, पनडुब्बी का वर्णन, वज्रास्त्र, युद्ध आदि मैदानों में दुधारी तलवार 'ऋषि' का भी उल्लेख वेदों में किया गया है। विज्ञान के साथ-साथ राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, आचारशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र आदि ज्ञान-अनुशासनों का अवधारणात्मक रूप-स्वरूप भी- वेदों में वर्णित है। प्रलय आदि का और सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन थी वेदों में विस्तार से किया गया है वेद, विद्या-विज्ञानों, कला यंत्रों तथा शास्त्रास्त्रों का भी परिचय देते हैं। कलायंत्रों तथा शास्त्रों का भी परिचय देते हैं। वास्तव में वेद वैज्ञानिक सत्य और धार्मिक सत्य को एक-साथ आत्मसात किए हुए हैं। अद्यतन और अद्युनातन ज्ञान-विज्ञान के स्रोत भी इन वेदों में ही खोज सकते हैं। बड़े-बड़े और प्रतिष्ठित अनेक विद्वाना ने सप्रमाण वेदों में ज्ञान-विज्ञान के उदाहरण की विवेचनों भी की है। महर्षि अरविंद भी वेदों को विधा विज्ञानों का भंडार मानते हैं। वेदों में धर्म तथा कर्मकांडों की भी वैज्ञानिकता को सिद्ध किया गया है। पुनर्जन्म के सिद्धांत की विवेचना थी वेद-ग्रंथ साधिकार करते हैं।

वेदों को विश्व संस्कृति का आधार, विश्व ज्ञान की निधी और मानव-धर्म का व्याख्याता भी कहा जाता है। पूरी वसुधा को कुटुंब मानने वाले देश भारत की वैश्विक देन 'वेद' अक्षय ज्ञान के स्रोत भी हैं और मानवमात्र के अभ्युदय तथा उन्नयन की आधारशिला भी हैं। संपूर्ण विश्व का कल्याण-वेदालोक से ही संभव है। वेदों ने ही यें स्थापना की थी कि पृथ्वी घूमती है। सूर्य ही चंद्रमा आदि लोकों को प्रकाशित करता है। वेदों में ही गणित विज्ञान की विद्या का मूलाधार विद्यमान है नौका, विमान, ताराविद्या तथा वैद्यक शास्त्र जैसे विज्ञानों का प्रामाणिक ज्ञान और बोध भी वेदों में ही उपस्थित है। वेदों में विज्ञान और वैज्ञानिक दृष्टि को उजागर करने वाले अनेक विद्वान हुए जिनमें डी. डी. मेहता (Positive sciences in the vedas), प्रो. बी. जी. रेले (The vedic Gods, As Figures of Biology) डॉ. सत्यप्रकाश सरस्वती (Founders of Sciences in Ancient-India) तथा आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री (Sciences in the vedas) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

दुर्भाग्य से वेदों की व्याख्या और उसके मंत्रों का अर्थ देव-स्तुति परक अथवा यज्ञादि परक किया गया। उसीका देश-विदेश में प्रयास भी हुआ। विश्व में इन ग्रंथों को भ्रमवंश धार्मिक, कर्मकांड विषयक मान कर यह भूल की कि इसके आध्यत्मिक और वैज्ञानिक अर्थों के वंचित रह गए। देश-विदेश के अनेक मर्मज्ञों, वेद-ज्ञाताओं और विशेषज्ञों ने वैदिक वाङ्मय की आधुनिक तथा वैज्ञानिक व्याख्या करते हुए उन भ्रामक धारणाओं और मान्यताओं का खंडत भी किया। उसके मूलार्थ तथा निहितार्थ प्रतिष्ठा में हर संभव साधना भी थी। ऐसे भारतीय विद्वानों में महर्षि दयानंद, आचार्य सायण, आचार्य वेंकट माधव, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, आचार्य नरेंद्र देव शास्त्री-वेदतीर्थ, डॉ. हरिदत्त शास्त्री, डॉ. सूर्यकांत, जयदेव विद्यालंकार, विश्वबंधु शास्त्री क्षेमकरण त्रिवेदी, पंडित गिरधारी लाल शर्मा, चतुर्वेदी, डॉ. स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती और डॉ. रघुबीर आदि का नाम स्मरणीय है, वंदनीय है। पश्चात्य विद्वानों में मैक्समूलर, प्रो. विल्सन, प्रो. ग्रासमान, डॉ. मैंडानल, डॉ. कीथ, प्रो. ब्लूमफील्ड, प्रो. बेबर, प्रो. स्टेन कोनो तथा प्रो. गोंड आदि उल्लेखनीय हैं।

वेद मनोविज्ञान के विषयों को भी व्याख्यापित करता है। वेदों में कहा गया है-

मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये।
मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम्।।

इस मंत्र में मनसे अर्थात् संवेदना एवं प्रेरणा चेतसे अर्थात् चेतना एवं चिंतन धिये अर्थात् ध्यान या अवधान आकूतये अर्थात् अनुभूति एवं संवेग, चित्तये अर्थात् चित्त का धर्म स्मरण एवं तदभावरूप में विस्मरण मत्यै अर्थात् बुद्धि श्रुताय अर्थात् श्रवण, पठन एवं शिक्षण, चक्षसे अर्थात् चक्षुकार्य, दर्शन या प्रत्यक्षीकरण आदि ज्ञान-विज्ञान के गहन-गंभीर विषयों, अनुशासनों का संबलन तथा विवेचन विधिवत किया गया है। इस तरह वैदिक साहित्य की भाषा भी ज्ञान-विज्ञान की विषय वस्तु के गांभीर्य के अनुकूल है।

विश्व के प्रसिद्ध ग्रंथ गीता, बाइबिल तथा कुरान आदि के माध्यम से जिन मूल्यों, विचारों की स्थापना की गई है उन सभी का स्रोत भी वेद ग्रंथ हैं। गीता का निष्काम कर्मयोग यजुर्वेद से, बाइबल का प्रेम और मैत्री भाव भी यजुर्वेद से, कुरान का एकेश्वरवाद, अल्लाह की एकात्मकता, दया सर्वज्ञता आदि भी ऋग्वेद से ही ग्रहीत प्रतीत होते हैं।

वेदों में वर्णित विमान पृथ्वी, जल और अंतरिक्ष तीनों में चल सकते हैं। वे देश-देशांतर की यात्रा करवा सकते हैं। इस तरह वेदों का ज्ञान और वेदों में वर्णित विज्ञान कहीं तो पर्यावरणीय संरक्षण के लिए प्रैरक बनता है तो कहीं सूर्य-किरणों से तमाम रोगों के उपचार का मार्ग प्रशात्र करता है। ये ग्रंथ प्रकृति के सौंदर्य, उपादेयता तथा अग्नि आदि को देव स्वरूप देखने-मानने की राह भी दिखाते हैं तो मानवीय अधिकारों और कर्तव्यों का बोध भी कराते हैं। इन ग्रंथों में गणित शास्त्र के मूल तत्व भी वर्णित हैं, पारिस्थितिकी, तकनीक, प्रौद्योगिकी आदि के लिए भी स्पष्ट दिशा-निर्देश प्रस्तुत किए गए हैं। दर्शन, सृष्टि के रहस्य, शिक्षा, संस्कृति और कृषि, वाणिज्य, अध्यात्म, परिवार, जीवन, वनस्पतियाँ, जीव-जंतु, पशु-पक्षी तथा संकल्प चिकित्सा आदि से संबद्ध अनेक प्रासंगिक मंत्र मिलते हैं।

इस तरह वेद ईश्वरीय ज्ञान के सिद्धांत भी प्रतिपादित करता है, भारतीय आर्य संस्कृति के उद्गम का स्रोत बनकर (वेद) अर्थशास्त्र, शिल्पशास्त्र, धर्मशास्त्र और साहित्यशास्त्र आदि ज्ञान-अनुशासनों से भी अवगत कराता है। ईश्वर की सत्ता, जीव की सत्ता, विकासवाद के सिद्धांत, कालबोध तथा इतिहास बोध भी वेद ग्रंथों से ही बोधगम्य हो पाते हैं।

वेदों ने परिस्थितिकी के संतुलन की भी चिंता बनी है तथा पर्यावरण के संरक्षण, वनस्पतियों की रक्षा, भूमि संरक्षण, स्वच्छता, वायु की शुद्धता, जल संरक्षण, जल एवं पर्यावरण शुद्धि, ज्योतिष, खगोल, नीति, युद्ध, धर्म, प्रकृति, चिकित्सा आदि अनेक क्षेत्रों में भी वेद ग्रंथ आधिकारिक चिंतन, मनन और विवेचन करते हैं। यज्ञ की वैज्ञानिकता, रात-दिन का विवरण, आचारों की वैज्ञानिकता तथा पर्व-उत्सवों, रीति-रिवाजों की वैज्ञानिकता भी थी व्याख्या वेद ग्रंथ विधिवत करते हैं।

अतः वेद ग्रंथ विश्व के वैदुत्यलोक में अपनी ज्ञान-विज्ञान- संपदा का परचम लहराने वाले वो ग्रंथ हैं जिनमें योग, दर्शन, धर्म, अध्याय, भक्ति, साधना तपस्या, संपत्ति की वैधामिकता, अधिकार बोध, भूगर्भशास्त्र, कृषि एवं सिंचाई विज्ञान, नदी, वन, पर्वत, शिल्प, मनोविज्ञान तथा युद्ध विद्या आदि को सविस्तार वर्णित किया गया है। कह सकते हैं कि दुनिया के वांङ्मय में वेद ग्रंथ विलक्षण हैं, अनुपम हैं, अकल्पनीय हैं, अप्रतिम हैं, अतुलनीय हैं।

– संकल्प, डी-67, पश्चिम विहार, नई दिल्ली

❑❑❑

भारतीय भाषाओं में वैदिक ज्ञान-विज्ञान

आ. अ. वेताल

[प्रस्तुत विषय वस्तुतः संपूर्ण शोध की अपेक्षा रखता है, जिस पर एक बड़ा ग्रंथ लिखा जा सकता है। यहाँ उसके कुछ पहलुओं पर विचार किया जा रहा है।

विचारक्रम–1. 'ज्ञान–विज्ञान' एवं 'वैदिक' शब्दों का विमर्श। 2. वैदिक – वेदकालीन, वेदोक्त या वेदसंबंधी? 3. वेद से तात्पर्य – परिभाषा। 4. वैदिक साहित्य का विस्तार। 5. वेदों में ज्ञान–विज्ञान आया कैसे? 6. वैदिक ज्ञान–विज्ञान या दर्शन को समझने में कठिनाई क्यों? 7. भारतीय भाषाओं पर प्रभाव एवं व्याप्ति। 8. भविष्य की संभावनाएँ।]

शीर्षक में दो महत्वपूर्ण शब्द हैं – वैदिक और विज्ञान। एक विशेषण है और दूसरा विशेष्य। 'विज्ञान' शब्द आज एक विशेष अर्थ में रूढ़ हो चुका है, बल्कि यह एक पारिभाषिक शब्द बन चुका है। गीता में प्रयुक्त विज्ञान शब्द अत्यंत भिन्न अर्थ देता है। भाषा विज्ञान के अनुसार काल प्रवाह में शब्द भी अपना अर्थ बदल देता है। इस शब्द के आज के प्रचलित अर्थ का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। अंग्रेजी शासन एवं सभ्यता के आगमन के पश्चात् विज्ञान शब्द के पर्याय के रूप में इसका आगमन हिंदी में हुआ है। यह काल लगभग 300–400 वर्षों का ही है। परंतु इसका क्षेत्र फैलता ही जा रहा है। अस्तु।

वैदिक शब्द का अर्थ वेदकालीन, वेदोक्त या वेदसंबंधी भी हो सकता है। जो भी हो, यह वेदों से जुड़ा है, इसमें वैमत्य नहीं। वेदों को समझने के दृष्टिकोण भी भिन्न–भिन्न हैं। वेदों को अपौरुषेय मानने से लेकर वेदमंत्रों को गड़रियों के गीत मानने तक के विचार पुस्तकों में प्राप्त होते हैं। कुछ की दृष्टि में ये मात्र पूजापाठ के मंत्र हैं तो कुछ के मत में ये ज्ञान के भंडार हैं।

शोध की दृष्टि से देखा जाए तो वेद शब्द संस्कृत की अविद् धातु से घञ् प्रत्यय लगाकर सिद्ध होता है। अब विद् का अर्थ क्या होगा – इस प्रश्न का उत्तर प्रायः सभी विद्वान 'जानना' ही बतलाते हैं। यदि पाणिनि का 'धातुपाठ' देखा जाए तो उसमें विद् पाँच स्थानों पर प्राप्य है। 1. अदादि गण में विद ज्ञाने (59), जिसका रूप वेत्ति.. आदि होता है। 2. दिवादि गण में विद सत्तायाम् (67), जिसका रूप विद्यते.. आदि होता है। 3. तुदादि गण में विद लाभ (168), जिसका रूप विंदति.. आदि होता है। 4. रुधादि गण में विद विचारणे (13), जिसका रूप विंत्ते.. आदि होता है और 5. चुरादि गण में विद चेतनाख्याननिवासेषु (232), जिसका रूप वेदयते.. आदि होता है। इन पाँचों का प्रयोग संस्कृत के कवियों ने अलग–अलग प्रकार से तथा विभिन्न अर्थों में किया है परंतु इनके मुख्य अर्थ क्रमशः जानना, होना, पाना, मानना (समझना) तथा कहना हैं। अधिक जानकारी के लिए कोश देखें।

अब प्रश्न यह उठता है कि इनके आधार पर वेद शब्द का अर्थ क्या समझा जाए? वेदों में ब्रह्म विषयक ज्ञान है अतः पहला, वेदों में ब्रह्म की सत्ता सर्वत्र मानी गई है अतः दूसरा, वेदों के द्वारा अनेक विद्याएँ प्राप्त होती हैं अतः तीसरा, वेदों में आस्तिकता को मानने का प्रतिपादन है अतः चौथा या वेद भी कुछ संदेश देते हैं

भाषा ISSN 0523-1418

अत: पाँचवा? स्पष्ट है कि वेद शब्द का अर्थ अत्यंत विस्तृत है।

वैदिक साहित्य के अंतर्गत प्राय: चारों वेद, चारों उपवेद, ब्राह्मण, उपनिषद, छहों वेदांग तथा वेद के उपांग अर्थात् दर्शनों (षड्दर्शन) का समावेश होता है। भरत मुनि का नाट्यशास्त्र पंचम वेद माना जाता है पर इनमें उसको सम्मिलित नहीं किया जाता।

वेदों के संबंध में एक विचारणीय पक्ष अत्यंत महत्वपूर्ण है। वेदमंत्रों के निर्माण की प्रक्रिया क्या रही होगी? ऐसा कहा जाता है कि इन्हें किसी ने लिखा नहीं है अपितु विभिन्न ऋषियों को इनका साक्षात्कार हुआ। इसीलिए वे ऋषि उन-उन मंत्रों के द्रष्टा कहे जाते हैं रचयिता या कर्ता नहीं। इसका तात्पर्य क्या समझें? अनुमान है कि उन ऋषियों को ये मंत्र सूझे होंगे।

उस काल में आज की तरह लिखने की परंपरा तो थी नहीं। इस कारण जो बात सूझी उसे किसी दूसरे को बताया गया।। मौखिक परंपरा से चलते-चलते बात विद्वंमंडली तक गई होगी और उसे इस बृहत संकलन में सम्मिलित कर लिया गया होगा। बाद में अनुश्रुति के अनुसार महर्षि वेदव्यास ने उन्हें संपादित कर चार वेदों का स्वरूप दिया होगा। अस्तु, जो भी हो, वेदमंत्रों के लिए योग्यता की कोई आधार रेखा नहीं थी। द्रष्टाओं में सभी वर्गों के लोग थे। पुरुष, महिला आदि का भी भेद नहीं था।

प्रत्येक द्रष्टा ने अपने-अपने ज्ञान के अनुसार मंत्र प्रस्तुत किए। ध्यातव्य है कि उस काल में आज के समान विषयवार पाठ्यक्रम आदि नहीं थे कि किसी विशिष्ट सूत्र या सिद्धांत का प्रतिपादन होता। उदाहरण के लिए कोई पूछे कि आइंस्टीन का गतिविषयक सूत्र किस मंत्र में है तो उत्तर कठिन होगा, पर गति के सिद्धांतों की जानकारी किसी को नहीं होगी यह कहना भी कठिन ही है। विभिन्न शास्त्रों या विषयों के विद्वान उस काल में समाज में थे ऐसा भी मत है। हाँ, हम जिस रूप में उत्तर चाहते हैं उस रूप में तो नहीं ही मिलेगा। जैसे कोई (a+ b) का घन (cube) वहाँ ढूँढने का प्रयत्न करेगा तो वैसा नहीं मिलेगा पर वेदों के एक अंग 'छंद' में उसका संकेत अवश्य है।

यजुर्वेद का एक मंत्र (18.241) है- एका च में तिस्रश्च मे, तिस्रश्च में पञ्च च में ..... इत्यादि। इस मंत्र में 1 से लेकर 33 तक विषम संख्याओं का उल्लेख है। यह एक अत्यंत प्रचलित मंत्र है। प्राय: प्रत्येक अर्चक (मंदिर के पुजारी या कर्मकांडी) को यह कंठस्थ होता है क्योंकि भगवान शिव के रुद्राभिषेक में यह बोला जाता है। रुद्राष्टाध्यायी के चमकाध्याय का यह एक मंत्र है। परंतु इसका अर्थ उन अर्चकों को नहीं पता होता। परंतु इस मंत्र के द्रष्टा कोई महान गणितज्ञ होंगे इसमें संदेह नहीं। उन्होंने अपने गणितीय ज्ञान के माध्यम से परमात्मा की स्तुति की होगी। आज का गणितज्ञ जानता है कि इन विषम संख्याओं का क्या महत्व है। विषम संख्याएँ संख्याओं के वर्ग (squares) और घन (cubes) जानने का साधन हैं। महान गणितज्ञ पाइथागोरस को भी शायद पता नहीं होगा कि उनके द्वारा बताए गए त्रिकों (Pythagorean triplets) का निर्माण भी इन विषम संख्याओं से हो सकता है। ऐसा कोई त्रिक नहीं जो इन विषम संख्याओं में न हो। अब यह बात अलग है कि पाइथागोरस से काफी पहले शुल्व सूत्रों में उनके सिद्धांत का वर्णन मिलता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि मंत्रों के द्रष्टाओं में अनेक विद्वान रहे होंगे जो आधुनिक कहे जाने वाले विज्ञान की विभिन्न शाखाओं के मूल सिद्धांतों से परिचित रहे होंगे। प्रो. सुद्युम्न आचार्य, प्रो. कपिलदेव द्विवेदी आदि ने अपने ग्रंथों में वैदिक मंत्रों में आधुनिक गणित एवं विज्ञान के सिद्धांतों का संकेत दिया है। पर यह पर्याप्त नहीं है क्योंकि ये विद्वान संस्कृत क्षेत्रों के हैं। ये विज्ञान के विद्वान नहीं हैं। आवश्यकता है दोनों क्षेत्रों के विद्वानों की। ऐसे कितने ही मंत्र हो सकते हैं जिनके रहस्य अभी रहस्य ही हैं। इसका एक बड़ा कारण है।

संस्कृत जानने वाले आधुनिक विज्ञान को नहीं जानते और विज्ञान के विद्यार्थी संस्कृत नहीं समझते। फिर वैदिक संस्कृत लौकिक संस्कृत से कई दृष्टियों से भिन्न हैं। लौकिक संस्कृत के विद्वान भी कई बार वेदमंत्रों को समझने में कठिनाई का अनुभव करते हैं।। फिर रहस्य ढूँढना तो अत्यंत दुर्गम है।

वस्तुत: वर्तमान शिक्षा प्रणाली ब्रिटिश शासन की देन है। एक बड़े षड्यंत्र के रूप में इसका विकास हुआ है। एक निश्चित कालांतर के बाद अध्ययन की धाराएँ (streams) विभाजित हो जाती हैं तथा संस्कृत एवं

विज्ञान विपरीत ध्रुव बन जाते हैं। संस्कृत पढ़ने वाले विज्ञान नहीं पढ़ पाते और विज्ञान के छात्रों को संस्कृत पढ़ने की अनुमति नहीं होती। संकाय (faculty) ही अलग-अलग हो जाते हैं।

वैदिक ज्ञान-विज्ञान एवं दर्शन का प्रभाव भारत की जीवन पद्धति पर अत्यंत गहरा है। फिर भाषाओं का प्रभावित होना अत्यंत स्वाभाविक है। जैसा कि ऊपर कहा है विषय बहुत बड़ा है, फिर भी कुछ उदाहरण देने का प्रयास कर रहा हूँ।

भारत की समस्त भाषाओं की वर्णमाला प्रायः एक सी ही है। विश्व में सर्वाधिक वैज्ञानिक वर्णमाला हमारी ही है जो वैदिक विज्ञान की महत्ता का द्योतक है। स्वर, स्पर्श व्यंजन, अंतःस्थ एवं ऊष्म यह क्रम विश्व की कितनी वर्णमालाओं में है? स्पर्शवर्णों के वर्ग भी शरीर विज्ञान के क्रम के अनुसार हैं। कवर्ग जिह्वमूल से, चवर्ग जिह्वमध्य से, टवर्ग और तवर्ग जिह्वाग्र से (टवर्ग मूर्धा से और तवर्ग दाँतों से) और पवर्ग ओठों से बोले जाते हैं। अंदर से बाहर का क्रम वैज्ञानिक नहीं? वर्गीय वर्ण भी अल्पप्राण, महाप्राण, अनुनासिक एवं अघोष, सघोष के क्रम से हैं। अ से ह तक एक वैज्ञानिक क्रम है।

गणना में 20, 30, 40 आदि से पहले की संख्या में उन/ऊन का प्रयोग भारत की संस्कृतमूलक सभी भाषाओं में है। मेरी अब तक की जानकारी के अनुसार विश्व की किसी भाषा में ऐसी व्यवस्था नहीं है। गणित की दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण प्रयोग है, जिसपर स्वतंत्र निबंध लिखा जा सकता है।

भाषाओं में कितने ही मुहावरे, लोकोक्तियाँ एवं प्रयोग भारतीय दर्शन, गणित, खगोल शास्त्र एवं आयुर्वेद से संबंधित हैं। भारत ने वैदिक विज्ञान को जीवन में उतारने के लिए उसे धर्म से जोड़ने का काम किया।

भारतीय भाषाओं के लेखकों ने तो इस विषय पर कार्य किया ही है। पर वर्तमान शिक्षा प्रणाली के कारण यथेष्ट सफलता नहीं मिल पा रही है। आवश्यकता है संस्कृतमूलक विज्ञान के शिक्षण की। जब नासा के वैज्ञानिक संस्कृत सीखने पर जोर दे रहे हैं तो भारत में यह क्यों नहीं हो सकता? कहाँ तो सुपर कंप्यूटर संस्कृत का आधार खोज रहा है और हम हैं जो संस्कृत सीखने से ही भाग रहे हैं।

यदि भारत सरकार इस दिशा में ध्यान दे तथा शिक्षा प्रणाली में अपेक्षित परिवर्तन करते हुए विज्ञान के छात्रों को उनकी रुचि के अनुसार संस्कृत अध्ययन की सुविधा दे सके और इसी प्रकार संस्कृत छात्रों को भी विज्ञान के अध्ययन का लाभ दे तो समस्या का हल निकाला जा सकता है। वैदिक ज्ञान-विज्ञान के अमूल्य कोश पर से परदा हटना ही चाहिए।

– यू यू, 179 सी, पीतमपुरा, दिल्ली-110034

❑❑❑

भारतीय भाषाएँ एवं वैदिक आयुर्वेद

(मलयालम भाषा के संदर्भ में)

लक्ष्मी वी.

"उस भगवान धन्वंतरी को नमन करता हूँ जिसके हाथों में सभी रोगों का निवारण करने वाला अमृत-कलश है।"

रोग-निवारण का मुख्य आधार है विश्वास। आयुर्वेद से लेकर अलोपति तक सभी चिकित्सा शास्त्रों का आधार मनुष्य का आंतरिक विश्वास है और इसी विश्वास को और मजबूत बनाता है ईश्वरीय चैतन्य। इसी दैविक भक्ति को आधार बनाकर आयुर्वेद का निर्माण हुआ है।

आयुर्वेद जीवन का शास्त्र है। आयुर्वेद को अथर्ववेद का ही उपवेद माना जाता है। हिंदू धर्म का पहला चिकित्सा संबंधी ग्रंथ है अथर्ववेद। चरक संहिता को ही आयुर्वेद का प्रथम ग्रंथ माना जाता है जो 1000 ईसा पूर्व का लिखा माना जाता है। उसी समय पर लिखा गया अन्य मुख्य ग्रंथ है सुश्रुत संहिता, जिसे महान आचार्य सुश्रुत ने लिखा है। सुश्रुत संहिता में शल्य चिकित्सा से संबंधित पूर्ण विवरण मिलता है।

आयुर्वेद का इतिहास 5000 वर्ष पुराना है और इसका मूल हमारे वेदों में विशेषत: अथर्ववेद में मिलता है। आयुर्वेद की चिकित्सा पद्धति हमारे पारंपरिक नैतिक जीविकानुष्ठानों से संबंधित है। आयुर्वेद एक जीवनशैली है जो इस बात पर जोर देती है कि रोग के कारणों पर नहीं उनके मूल निवारण पर ज्यादा ध्यान देना है। इसलिए इसकी शैली हमारी दैनंदिन जीवन शैली से संबंधित है।

आधुनिक आयुर्वेद चिकित्सा का आधार तीन ग्रंथ है जो बृहत्रयी के नाम से जाने जाते हैं। वे हैं- (i) चरक संहिता (आचार्य चरक), (ii) सुश्रुत संहिता (सुश्रुत) एवं (iii) अष्टांग हृदय (वांङ्मय)। इनके आधार पर ही आधुनिक आयुर्वेद चिकित्सा का चयन हुआ है।

चरक संहिता - ऐसा माना जाता है कि करीब 800 ईसा पूर्व में इसका सृजन आचार्य चरक ने किया। इसमें 8400 पंक्तियाँ हैं जो पद्य में हैं और इसमें 120 अध्याय हैं।

सुश्रुत संहिता - यह करीब 700 ईसा पूर्व में आचार्य सुश्रुत द्वारा लिखा गया है। इसमें सेहत, शरीर के अंदर के अवयव, रक्त और पाँच उपदोषों के बारे में विस्तृत रूप से लिखा गया है। इसमें कास्मेटोलॉजी से संबंधित प्लास्टिक सर्जरी का भी विवरण है।

अष्टांग हृदय - आचार्य वाग्भट द्वारा लिखित यह ग्रंथ करीब 400 ईसा पूर्व का माना जाता है। इसमें कफ के उपदोषों के बारे में विस्तृत विवरण है। आज भी आयुर्वेद आचार्य इस ग्रंथ को आयुर्वेद चिकित्सा का मुख्य आधार मानते हैं।

आयुर्वेद इतना पुराना और विश्वसनीय होने पर भी लोकप्रिय नहीं हो सका। इसका मुख्य कारण है इसकी विधियाँ जो कठिन थीं और इसको पढ़ने और करने की विधियाँ चलाने में अज्ञानता का अनुभव हो रहा था। लेकिन केरल में आयुर्वेद आज भी पूरी प्रबलता के साथ चला आ रहा है। यहाँ इसको मुख्य चिकित्सा पद्धति के रूप में ही अपनाया गया है। यहाँ के लोग अपनी जीवनचर्या में भी आयुर्वेद का ध्यान रखते हैं;

और यह कहना होगा कि आधुनिक तौर-तरीकों के साथ उनकी जीवन शैली अधिक नहीं बदली है।

केरल में आयुर्वेद का आविर्भाव

यह माना जाता है कि महाऋषि परशुराम ने आयुर्वेद को आठ भेदों में बांट दिया और आठ परिवारों को उनका अधिकार दे दिया। ये बाद में अष्टवैद्य के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन अष्टवैद्यों ने आयुर्वेद को केरल में पोषित किया करीब 13वीं से 17वीं शताब्दी के बीच। उस समय के केरल के राजाओं ने भी इनको खूब सहयोग दिया जिसकी वजह से वे आयुर्वेद में अनेक अनुसंधान एवं चिकित्सा पद्धतियों को जन सामान्य तक पहुँचाने में कामयाब रहे। ये अष्टवैद्य अपनी आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति को आने वाली पीढ़ी को प्रदान करता है। यह भी माना जाता है कि अष्टांग हृदय के रचयिता वांग्भट ने आयुर्वेद के आठ अंग बनाए-

1. काय चिकित्सा (General Medicine)
2. बाल चिकित्सा (Pediatrics)
3. मनश्चिकित्सा (psychiatry)
4. ऊर्ध्वांग चिकित्सा (Neck & above region)
5. शल्य चिकित्सा (Surgery)
6. विष चिकित्सा (toxicology)
7. रसायन चिकित्सा (chemical medicine)
8. वजीकरण चिकित्सा (aphrodisiac)

अष्टांग हृदय को आधार बनाकर मलयालम में अनेक ग्रंथों की रचना हुई है। उनमें से कुछ प्रमुख हैं -

1. अग्निपुराण तर्जमा
2. आयुर्वेद प्रकाशिका (1104)
3. माधवनिधन
4. अक्षर कषायं
5. आरोग्य चिंतामणि आदि।

आयुर्वेद प्रकाशिका के प्रथम अध्याय में कहा गया है कि रोगी ईश्वर के प्रति भक्ति रखने वाला और चिकित्सा में कहे जाने वाले नियमों का पालन करने वाला होना चाहिए।

आयुर्वेद प्रकृति की चिकित्सा पद्धति है। केरल की उचित प्रकृति एवं उत्तम पर्यावरण के कारण जड़ी-बूटियों की लभ्यता भी यहाँ आसानी से होती थी। कहा जाता है कि वाग्भट जो सिंध देश का था, जड़ी-बूटियों की सुलभता के कारण केरल में आया और अष्टांग हृदय की रचना की। उसी से अष्टवैद्यों ने अपनी आयुर्वेद पद्धति को पाया है।

केरल में आयुर्वेद चिकित्सा पाँच चिकित्सा संप्रदायों का समीकरण है। औषधिकृत तेल, जड़ी-बूटियाँ, दूध और विशेष आहार इसके लिए दिए जाते हैं। इस विशेष पद्धति को पंचकर्म पद्धति कहा जाता है, जो बहुत ही प्रसिद्ध है।

धन्वंतरी को आयुर्वेद का ईश्वर माना जाता है। किसी भी चिकित्सा के आरंभ में वैद्य धन्वंतरी की प्रार्थना करते हैं और दवाई देने के दौरान भी विशेष मंत्रों का जाप करते हैं। आयुर्वेद आचार्यों का मानना है कि आयुर्वेद को जीवन शैली में लाना है। योग विधि का पालन इसका अंग है। इसीलिए केरल में कलरिप्पयटु को ज्यादा स्थान मिला है जिसका मुख्य उद्देश्य स्वरक्षा के उपायों के साथ-साथ शरीर और मन के अंतर्संबंध को साबित करना, एकाग्रता को बढ़ाना शरीर के लचीलेपन को बढ़ाकर रोगमुक्त रखना है।

आयुर्वेद की चिकित्सा पद्धति के अनुसार मनुष्य का शरीर प्रकृति के पाँच तत्वों से निर्मित है। उनके समन्वय में जो कुछ अधिक-कम होना रोगों का कारण बनता है। इसके अनुसार तीन दोषों को माना गया है। पित्त, कफ, वात। पित्त का संबंध है अग्नि और पानी से। वात का संबंध है वायु एवं अंतरिक्ष के पदार्थों से। कफ का संबंध पानी और भूमि से है। ये तीनों मनुष्य शरीर की बनावट को निर्धारित करते हैं। इनके समन्वय से शारीरिक व्यवहार ठीक से होते हैं। आयुर्वेद में मनुष्य शरीर का पूर्ण रूप से निवारण किया जाता है न कि मात्र रोग मुक्ति।

अष्टांग हृदय में रोग निर्धारण के लिए अष्ट स्थान परीक्षण का प्रयोग करते हैं। वे हैं -

1. नाड़ी परीक्षण - इसमें रोगी की नाड़ी को पकड़कर उसके कंपन से रोग निर्धारण किया जाता है।
2. मूत्र परीक्षण - इसमें रोगी के मूत्र का परीक्षण करके रोग निर्धारण होता है।
3. मल परीक्षण - रोगी के मल का परीक्षण करके रोग निर्धारण करते हैं।
4. शब्द परीक्षण - रोगी के शब्द को सुनकर परीक्षण किया जाता है।

5. जिह्वा परीक्षण – जिह्वा परीक्षण में रोगी की जिह्वा की परीक्षण कर रोग निर्धारण होता है।

6. स्पर्श परीक्षण – रोगी के शरीर को स्पर्श कर रोग निर्धारण किया जाता है।

7. नयन परीक्षण – आँखों का परीक्षण कर रोग निर्धारण होता है।

8. आकृति परीक्षण – अवयव की आकृति देखकर रोग निर्धारण होता है।

केरल में आज भी आयुर्वेद का उतना ही महत्व है। यहाँ प्रसिद्ध आठ आयुर्वेद अस्पताल हैं जो केरल की सरकार द्वारा ही चलाए जाते हैं।

केरल में पुराने जमाने में आयुर्वेद चिकित्सा मंदिरों से जुड़ा होता था। इसलिए लोगों का विश्वासपात्र भी था।

शरीर की सेहत को बनाए रखने से संबंधित अधिकारिक पुस्तक है 'रास वैशेशिक सूत्र' जिसमें छह रसों और तीन दोषों के बारे में विस्तार से व्याख्या है। इस पुस्तक का प्रथम संस्करण 1928 में तिरुवनंतपुरम ग्रंथावली में और दूसरा संस्करण 1976 में आयुर्वेद कॉलेज, तिरुवनंतपुरम से हुआ था।

'रसोपनिषद' (रसतंत्र पर आधारित) ग्रंथ है। इसका संस्करण तिरुवनंतरपुरम ग्रंथावली से ही हुआ।

'वैधमनोरम' में कुछ विशेष चिकित्सा पद्धतियों का जिक्र हुआ है जिसके लिए केरल बहुत ही प्रसिद्ध है। ये चिकित्साएँ किसी भी अन्य ग्रंथों में नहीं पाई जाती हैं।

'धारकल्पम' ग्रंथ में आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति धारा के महत्व के बारे में लिखा गया है।

'सिंदूर मंजरी' जो प्रसिद्ध वैध तैक्काड नाराणन मूसद द्वारा लिखा गया है इसमें तांबा, लौह, सल्फर, पारा जैसे पदार्थों के प्रसंस्करण के संबंध में है।

'मणिप्रवालम' संस्कृत एवं मलयालम दोनों भाषाओं का मिश्रित ग्रंथ है।

'होर्तुस इंडिकस मलबारिकस' लैटिन भाषा की पुस्तक है, जिसमें केरल की अमूल्य जड़ी-बूटियों का विवरण है।

करीब उप संस्कृत निखंड भी आयुर्वेद की संपदा है।

'मंत्रविद्या' मात्र केरल की संपदा है जिसमें मंत्रों से रोगी के मन की चिकित्सा कर किसी भी रोग का निवारण करते हैं। इसमें औषधियों का कम सेवन होता है।

आयुर्वेद को केरल में पनपने के लिए वातावरण अनुकूल था। एक तो यहाँ का मौसम सह्याद्रि पर्वतमालाएँ जिसमें हर रोग को मिटाने वाली जड़ी-बूटियाँ हैं। इसके अतिरिक्त, यहाँ के लोगों का आयुर्वेद के प्रति विश्वास और उसको पढ़ने और प्रवृत्ति में लाने का तरीका भी कारण है। आयुर्वेद मात्र चिकित्सा नहीं बल्कि इसका संबंध यहाँ के योग शास्त्र कलरिप्पयट्टू, मर्मचिकित्सा, मंदिरों के पूजाक्रम, जीवन रीति इन सबका अंतर्संबंध है। आज संसार के कोने-कोने से केरल में आयुर्वेद पढ़ने और इस चिकित्सा पद्धति को अपनाने के लिए उत्सुक हैं।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय
धन्वन्तरये
अमृतकलश हस्ताय सर्वामय
विनाशनाय त्रैलोक्यनाथाय
श्री महाविष्णवे नमः।

– असिस्टेंट प्रोफेसर, रमय्या कॉलेज ऑफ आर्ट्स साइंस एंड कॉमर्स, बंगलुरू

❑❑❑

भारतीय भाषाएँ एवं वैदिक चिकित्सा विज्ञान

अमित सिंह

भाषा शब्द संस्कृत की भाष् धातु से बना है। जिसका अर्थ है व्यक्त वाणी। 'भाष्यते व्यक्तवाग् रूपेण अभिव्यज्यते इति भाषा'। अर्थात् जिसकी अभिव्यक्ति व्यक्त वाणी के रूप में की जाए, उसे भाषा कहते हैं।[1] भाषा ऐसी इकाई है जिसका साक्षात् संबंध मानव व मानवेतर जाति के सबसे छोटे अवयव से लेकर विश्व मानव की समष्टि तक है। इस जगत् के किसी कोने में पड़ा हुआ व्यक्ति भी भाषा का प्रयोग करता है और विश्व-विख्यात व्यक्ति भी।

भाषा वह साधन है जिसके माध्यम से हम सोचते तथा अपने विचारों को व्यक्त करते हैं और इसके द्वारा अपने मनोनुकूल बातें अभिव्यक्त कर सकते हैं। भाषा शब्द का प्रयोग सामान्यतः अपने व्यापक अर्थ में किया जाता है। इसमें उच्चारण, ग्रहण व बोध सभी का समावेशित रूप होता है। बोलने वाला व्यक्ति भी भाषा बोलता है। सुनने वाला भी भाषा को ही सुनता है और उसका बोध भी भाषा के रूप में होता है।

भाषा के स्वरूप पर बात की जाए तो इसमें कुछ विशेषताएँ व प्रवृत्तियाँ हैं। सामान्य रूप से विश्व की सभी भाषाओं में देखने को मिलती हैं। भाषा इस जगत् की सर्वोत्तम ज्योति है। जो मानव को प्रकाशित करती है। आचार्य भतृहरि ने भी वाक्यपदीय में कहा है-

वाग् रूपता चेन्निष्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्ययमर्शिनी।।[2]

इसी प्रकार आचार्य दंडी ने भी भाषा की प्रकाश शीलता को बताते हुए कहा है शब्दरूपी प्रकाश जगत् में न जलता तो जगत् में चारों ओर का वातावरण अंधकारमय रहता-

इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जाचेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते।।[3]

भाषा के मूल पहलू पर विचार किया जाए तो इसे तीन भागों में बांटा जा सकता है। बोली, विभाषा व परिनिष्ठित या भाषा। बोली का तात्पर्य मात्र इतना है कि इसका संबंध ग्राम या एक सीमित क्षेत्र के स्तर से रहता है। यह भाषा की सबसे छोटी इकाई मानी जा जाती है, इसमें व्यक्तिगत बोली भी हमेशा प्रधान रहती है या फिर कह सकते हैं यह मुख्य रूप से बोल-चाल की भाषा होती है। इसमें साहित्यिक कृतियों का आभाव रहता है। विभाषा का विषय क्षेत्रीय बोली से उत्कृष्ट होता है। यह प्रांत स्तर तक प्रचलित होती है। इसमें साहित्यिक कृतियाँ भी मिलती हैं, इसको समझने के लिए जैसे प्रचलित खड़ी बोली, ब्रजभाषा, भोजपुरी, अवधी इत्यादि। इसके बाद जो सर्वप्रमुख है वह भाषा है या फिर उसे परिनिष्ठित या फिर आदर्श भाषा का नाम दे सकते है। भाषा को हम ऐसा समझ सकते हैं जैसे साहित्यिक, सामाजिक, आर्थिक आदि कार्यो के लिए समृद्ध मानी जाए। इसके साथ राजकार्य आदि के लिए चुन लिया जाए व उसको राजभाषा जैसे प्रतिमानों में स्वीकार किया जाए।[4]

भारत बहुभाषीय देश है। हिंदी, उर्दू, गुजराती, मराठी, कन्नड, मलयालम, तमिल, तेलुगु, ओड़िया, बांग्ला, असमिया, कश्मीरी, सिंधी आदि भारतवर्ष की प्रमुख आधुनिक भाषाएँ हैं और ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाए तो ये सभी भाषाएँ संस्कृत, प्राकृत, पाली, अपभ्रंश आदि से जुड़ी हुई हैं। वर्तमान समय में

आधुनिक भाषाएँ अपने - अपने राज्यों में शिक्षा का माध्यम बनी हुई हैं।

भारत में यूरोप से आने वाले आर्यों को भारतीय आर्य कहा गया। यद्यपि इनका एक निश्चित समय में देश में न आना हुआ। इसलिए इनकी भाषाएँ व संस्कृति में थोड़ा-थोड़ा अंतर रहा। जब ये भारत में आए थे उस समय साहित्यिक भाषा का एक सामान्य रूप प्रतिष्ठित हो गया था जिसकी जानकारी ऋग्वेद में मिलती है।

भारतीय आर्य भाषा के विकास क्रम से ये तीन भागों में विभाजित किए जाते हैं। 1. प्राचीन भारतीय आर्य भाषा। 2. मध्य भारतीय आर्य भाषा 3. आधुनिक भारतीय आर्यभाषा।[5]

प्रारंभ में ही आर्य जन यज्ञ परंपरा में विश्वास करते थे। वे इंद्र, मित्र, वरुण आदि वैदिक देवताओं की पूजा करते थे। भारत के प्राचीनतम साहित्य की भाषा का प्रारंभिक चिंतन व अध्याय ऋग्वेद में ही मिलता है। वेदों में अनेक स्थलों पर वाक् तत्व, भाषा की उत्पत्ति, भाषा के भेद, वाक् तत्व का संबंध, पद आदि का विवेचन मिलता है।[6]

मध्य भारतीय आर्यभाषा में पाली साहित्य एवं अशोक के अभिलेखों से भाषाओं का अध्ययन स्रोत मिलता है। वस्तुतः मध्य भारतीय आर्य भाषा को प्राकृत की संज्ञा दी जाती है, क्योंकि उस समय साहित्यिक प्राकृत सबसे ज्यादा प्राप्त होती है। अपभ्रंश शब्द का प्रयोग आचार्य व्याडि और पतंजलि ने किया है-

"शब्द प्रकृतिरपभ्रंशः इति संग्रहकार।"[7]

तत्पश्चात् आधुनिक भारत में आर्य-भाषाओं का समय आता है। भारतीय भाषाओं में सबसे पहले पश्चिमी हिंदी भाषा का विकास होता है जो कि अपभ्रंश से हुआ है। इस भाषा के तहत् पाँच प्रमुख बोलियाँ आती हैं। जैसे- खड़ी बोली, ब्रजभाषा, बांगरू, कन्नौजी व बुंदेली। ये बोलियाँ सबसे ज्यादा उत्तर-भारत में बोली जाती हैं। शौरसेनी के नागर अपभ्रंश से राजस्थानी भाषा का विकास होता है जिसमें चार प्रमुख बोलियाँ बोली जाती हैं जैसे- मारवाड़ी, जयपुरी, मालवी व मेवाती।[8] इसी प्रकार शौरसेनी अपभ्रंश से ही गुजराती भाषा का विकास होता है। गुजराती भाषा की लिपि की बात की जाए तो वह अपने आप स्वतंत्र लिपि है। जो कि देववाणी लिपि से ही विकसित हुई। मराठी-भाषा, महाराष्ट्री अपभ्रंश से निकली है। जो इसके नाम से ही पता चलता है कि ये महाराष्ट्र की भाषा है। यहाँ पर भी चार बोलियाँ मुख्यतः देशी, कोंकणी, नागपुरी व बरारी हैं। बिहारी- यह मागधी अपभ्रंश से विकसित भाषा है। वैसे देखा जाए तो इसको कोई विशेष भाषा का नाम नहीं दिया गया है। क्योंकि इसके तहत् भोजपुरी, मैथिली और मगही है। मागधी अपभ्रंश से विकसित बांग्ला भाषा है। यह बंगाल प्रांत में बोली जाती है। इसी प्रकार ओडीसा में ओड़िया भाषा बोली जाती है। यह उत्कल जाति की भाषा होने के कारण उत्कली भी कही जाती है। असमी असम प्रांत की भाषा है। इसका बांग्ला से मिला-जुला भाषा समावेश है।

पूर्वी हिंदी- यह अर्धमागधी अपभ्रंश से विकसित हुई है। इसकी तीन प्रमुख बोलियाँ हैं- अवधी, बघेली व छत्तीसगढ़ी है और इनकी लिपि नागरी होती है। इसी प्रकार पैशाची अपभ्रंश से विकसित भाषा लहंदा(लहन्दी) का हुआ है। यह भाषा पंजाब के पश्चिमी भागों में बोली जाती है। सिंधी भाषा सिंध प्रांत की है। भारतवर्ष का विभाजन होने के बाद पंजाब, दिल्ली, मुंबई आदि प्रांतों में यह भाषा लोग बोलने लगे थे इस भाषा की पाँच बोलियाँ प्रमुखतः बोली जाती हैं - बिचौली, सिरैकी, लाडी, थरेली व कच्छी। पंजाबी भाषा- यह पंजाब प्रांत की है। इन्ही की एक बोली डोंगरी है जो जम्मू में भी बोली जाती है। पंजाबी की लिपि गुरुमुखी है। खस अपभ्रंश से पहाड़ी भाषा का विकास हुआ है। वैसे ये ज्यादातर हिमालय के निचले भागों में बोली जाती है।[9]

संस्कृत एक शास्त्रीय भाषा है। यह विश्व की सबसे प्राचीन भाषा व भारतवर्ष की मूल भाषा है। यह भारोपीय परिवार की एक प्रमुख शाखा है। आधुनिक भाषाओं का उद्गम संस्कृत भाषा से हुआ है। संस्कृत भाषा में ही लगभग हिंदू, बौद्ध, जैन, आदि धर्मगंथ लिखे गए हैं। वस्तुतः भारतवर्ष की भाषाओं का इतिहास संस्कृत को जोड़कर ही लिखा जा सकता है। भारतवर्ष का सांस्कृतिक स्वरूप संस्कृत भाषा के भौगोलिक इतिहास से ही मिलता है। भारतवर्ष की आधुनिक भाषाएँ आर्य परिवार और द्रविड़ परिवार की भाषाएँ संस्कृत भाषा के संस्कारों से ही निर्मित हैं।

भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता दोनों ही संस्कृत में आरंभ से ही मूर्त रूप में हैं। भारतवर्ष में संस्कृत भाषा

के उपरांत प्राकृत भाषा ही मात्र भौगोलिक विस्तार पा सकी है। जिसका कारण जैन व बौद्ध धर्म को माना जाता है। प्राकृतिक वस्तुओं का वर्णन संस्कृत भाषा में पूर्णरूप से व्यक्त हुआ है। वह भारतवर्ष की किसी और भाषा में नहीं हुआ है। संस्कृत भाषा वैसे तो वैदिक संस्कृत थी। प्राकृतों के कारण ही संस्कृत भाषा लौकिक संस्कृत के रूप में समृद्ध हुई है।

प्राचीन चिकित्सा परंपरा का प्रारंभ ऋग्वेद काल से है। प्राचीनकाल से ही वेद रहस्यों में ब्राह्मण-ग्रंथों, वेदांगों तथा उपांगों के रूप में मानवीय प्रयास होता रहा है। वेद सदैव चिंतन परंपरा का विषय रहा है। महर्षि दयानंद सरस्वती ने वेदों पर अनेक कार्य किए और उन्होंने इसमें चिकित्सा शास्त्र को अद्भुत ज्ञान बताया है। यद्यपि वेद में चिकित्सा शास्त्र से संबंधित अथाह सामग्री उपलब्ध है परंतु यह ज्ञान प्रयोगात्मक रूप में उतना उपयोग में नहीं लाया गया।

भारतीय चिंतन परंपरा में 'वेदात् सर्व प्रसिध्दयति' को मूल में स्थापित कर वेद से ही समस्त विद्याओं, सभ्यताओं, संस्कृतियों का विकास होता है। वेदों ने ही संसार के अधिक सिद्धांतों को प्रायोगिक और वैज्ञानिक रूप दिया है। और इसके साथ-साथ जीवन जीने की कलाओं के विषयों को स्थापित करती है। वेदों में वर्तमानकालिक समस्त विधाओं के बीज भी अंतर्निहित हैं। वैदिक काल में वेद संहिताओं से तमाम मूल तथ्यों को लेकर प्राचीन ऋषि मुनियों ने विभिन्न अलग-अलग विधाओं का विकास किया है, जो वर्तमान आधुनिक विषयों के रूप में पल्लवित हो रहे हैं। जैसे चरक संहिता चरक का, सुश्रुत व वाग्भट आदि।

भारतीयों मनीषियों द्वारा 'सर्व ज्ञानमयो हि सः' तथा 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' आदि पंक्तियाँ वेद के लिए बताई हैं।[10] इस जगत् में चतुर्विध पुरुषार्थो के संबंध शारीरिक आरोग्यता को मूल में स्थापित करते हुए पुरुषार्थ चतुष्टय की पूर्ति तथा धर्मादि स्वस्थ्य मन की आवश्यकता पर विशेष बल दिया गया है। स्वस्थ मन का निवास स्वस्थ शरीर में ही संभव है। अतः आरोग्यता प्राप्ति हेतु वैदिक संहिताओं तथा अन्य जुड़े समस्त शास्त्रों में कई नियम और प्रयोग बताए गए हैं। वस्तुतः स्वस्थ शरीर की सर्व मूलकता का निदान, मणि- मंत्र-औषधि आदि वर्णन किया गया है।

प्राचीन चिकित्सा में न केवल मनुष्य अपितु पशुओं आदि तक के स्वास्थ्य एवं चिकित्सा से संबंधित मंत्रों की प्राप्ति भी वैदिक संहिताओं में होती है। वेद के संहिताओं में जड़ी-बूटियों, निवारण मंत्रों एवं विशिष्ट मणियों का वर्णन आया है। जो मनुष्यों को युवावस्था, सौंदर्य, उत्तम वृद्धि एवं अमरत्व तक की प्राप्ति करा सकती है। वहाँ रोहिणी, अपामार्ग, रेवती, शंखमणि आदि ऐसी अनेक दिव्य औषधियों का वर्णन आदि पहचान में आया है जो मानव जीवन के लिए अति उपयोगी है।[11]

वर्तमान चिकित्सा पद्धति अपने चरम उत्कर्ष के उपरांत भी स्वास्थ्य रक्षण हेतु चिकित्सा पद्धति की ओर देख रही है तथा स्वास्थ्य रक्षण के वैदिक उपायों यथा योग, वैदिक चिकित्सा को प्रयोग में ला रही है। वेदों में नित्य आरोगिता के संबंध में मनुष्य के मन को सुख और दुख का मूल कारण माना गया है और मानसिक शांति एवं शुद्धि वहाँ स्वास्थ्य का प्रमुख आधार बताई गई है। अतः शांति के इस संदर्भ में यजुर्वेद में संपूर्ण ब्रह्मांड में ही शांति स्थापित करने की प्रार्थना की गई है। आरोग्यवान मनुष्य ही वेदवर्णित पुरुषार्थ चतुष्टय को संपन्न कर सकता है। वेद वर्णित प्राकृतिक चिकित्सा एवं स्वास्थ्य रक्षण की वैदिक पद्धति सभी प्राणियों के लिए कल्याणकारी सिद्ध होगी।

स्वास्थ्य का भारतीय चिंतन से बहुत प्राचीन संबंध है। 'धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यमूलमुत्तमम्' इन पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि के लिए सर्वप्रथम स्वस्थ होना परम आवश्यक है। भारतीय संस्कृति के मूल चारों वेदों में एक वेद पूर्णतः स्वास्थ्य को ही समर्पित है। अतः भारतीय मनीषियों और ज्ञानियों ने संपूर्ण विश्व की हित साधन हेतु स्वास्थ्य एवं निरोगिता पर विशेष ध्यान दिया है। वेदों में स्वास्थ्य-रक्षण से संबंधित प्रभूत सामग्री यत्र-तत्र बिखरी पड़ी है। आयुर्वेद की दृष्टि से वेदों का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि चारों वेदों में आयुर्वेद के विभिन्न अंगों आदि का यथास्थान पर विशद रूप से वर्णन आया है।

मानव मात्र के स्वास्थ्य हेतु ऋग्वेद और अथर्ववेद में विविध औषधियों व चिकित्सा प्रकारों का वर्णन आया है, जिनमें से यहाँ हम बगैर औषधि के मनुष्य को स्वास्थ्य लाभ कराने वाली वैदिक चिकित्सा विज्ञान है। मनुष्य के शरीर में उत्पन्न विभिन्न प्रकार के रोगों की

चिकित्सा प्रकृति द्वारा प्रदत्त पँच महाभूतों से संभव है। ये वर्णन अथर्वेद में प्रभूत स्थानों पर प्राप्त होते हैं।

ऋग्वेद और अथर्ववेद में हृदय रोगों की प्राकृतिक चिकित्सा दी गई है इसमें सूर्यकिरण, चंद्रकिरण चिकित्सा और जल चिकित्सा मुख्य हैं। अथर्ववेद का कथन है कि उदय होते हुए सूर्य की अवरक्त या नारंगी किरणें हृदय के रोगों को तथा पीलिया या पांडु रोगों को दूर करती हैं। उदयीमान सूर्य की रश्मियों का इतना अधिक माहात्म्य अथर्ववेद में वर्णित है कि शरीर के प्रायः सभी रोगों की यह अमोघ चिकित्सा है। प्रश्नोपनिषद् में भी सूर्य को जीव-जगत का प्राण कहा गया है। सूर्य जीवनी शक्ति देकर शरीर के दूषित तत्वों को नष्ट करता है और शरीर को आरोग्य प्रदान करता है।

"अनु सूर्यमुदयतां हृदद्योतो हरिमा च ते।
गो रोहितस्य वर्णेन तेन त्वा परि दध्मसि।।"[12]

जल चिकित्सा पाद रोग के लिए अमृत तुल्य कही गई है। अथर्ववेद में एक मंत्र में कहा गया है कि औषधियों में श्रेष्ठ जल मेरे दोनों चक्षु, एड़ियों और दोनों पंजो में जो शूल है, उसे दूर करें। इस मंत्र में जल चिकित्सा को नेत्र और पाद रोगों के लिए सर्वोत्तम बताया गया है। घुटने, पैर, पैर के पंजे आदि के शूल या अन्य रोगों के लिए रोग ग्रस्त अंश पर धार से जल डालें। ऋग्वेद का तो यह उद्घोष है कि जल से सभी रोगों की चिकित्सा संभव है। ऋग्वेद में तो जल का महात्मय वर्णित करते हुए यहाँ तक कहा गया है कि जल सभी रोगों की आनुवांशिक रोगों को भी नष्ट करता है। जल रमणीयता एवं सौंदर्य का वर्धक है।

"यन्मे अक्ष्योरादिद्योत पाषणर्योः प्रपदोश्च यत्।
आपस्तत् सर्व निष्करन् भिषजां भिषक्तमाः।।[13]
आपो विश्वस्य भेषजीः तास्त्वा मुंजन्तु क्षेत्रियात्।"[14]

प्राकृतिक चिकित्सा में अग्नि-चिकित्सा को भी वेदों में मुख्यतया वर्णित किया गया है। शीत एवं शीतजन्य रोगों में अग्नि सेवन अथवा अग्नि-चिकित्सा बेहद लाभप्रद है। अर्थात् अग्नि शीत की औषधि है यह सभी रोगों की औषधि है। विष-चिकित्सा में अग्नि अति उपयोगी है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में स्पष्टतः कहा गया है कि अग्नि रोगोत्पादक कृमियों को नष्ट करती है। अग्नि ऊर्जा के समस्त स्रोतों का भंडार है। समस्त जीवनी शक्ति अग्नि से प्राप्त की जा सकती है। अथर्ववेद में अग्नि को तेज, वर्चस्व, ओजस, दीर्घायु, बल और यश का मुख्य हेतु बताया गया है। अग्नि आक्सीजन के रूप में शरीर में प्राणशक्ति को उत्पन्न करती है।

"अग्निं च विश्वशंभुवम्।"[15]
"अग्निम्कृणोतु भेषजम्।"[16]
"अग्निर्विषम् अहेर्निरधात्।"[17]

वेदों में सूर्यकिरण चिकित्सा का विस्तार से वर्णन आया है। सूर्य रोगों को दूर कर बुद्धि की शुद्धि करता है और ज्ञान की वुद्धि करता है। वेदों में उदीयमान सूर्य का बहुत महात्म्य वर्णित है। उदीयमान सूर्य मृत्यु के समस्त कारणों को नष्ट करते हुए मनुष्य को जीवनी शक्ति प्रदान करती है। उदित होते हुए सूर्य से अवरक्त किरणें निकलती हैं। इन लाल किरणों में जीवनी शक्ति तथा रोगों को नष्ट करने की क्षमता होती है।

"अपामीवां सविता साविषत्।"[18]
"अप सेघत दुर्मतिम् आदित्यासः।"[19]

अथर्ववेद में नौवें कांड के आठवां सूक्त के 1 से 22 मंत्रों में सूर्य किरण चिकित्सा से ठीक होने वाले रोगों की एक विस्तृत सूची दी गई है। ऋग्वेद और अथर्ववेद में प्राणशक्ति का बहुत महत्व है।[20] प्राण स्वयं भेषज या औषधि है। प्राण रोगों का उपचार है। अतः प्राण का सर्वोत्तम रूप भेषज तत्व है। यही जीवनीशक्ति प्रदान करता है प्राण शक्ति को प्राणायाम- चिकित्सा के द्वारा पुष्ट किया जाता है। यह एक योग- चिकित्सा है इसके विषय में वेदों में अनेकों स्थान पर वर्णन आया है। वायु से प्राण या जीवनीशक्ति प्राप्त होती है, प्राणायाम से प्राप्त वायु तत्व शरीर के सारे दोषों को नष्ट करके मस्तिष्क व हृदय को शक्ति देता है और मनुष्य को निरोगी तथा दीर्घायु बनाता है।

वेदों में यज्ञ को चिकित्सा का एक प्रकार माना गया है। यज्ञ में चार प्रकार के सुंगंधित, पुष्टिकारक, भिष्ट, रोगनाशक द्रव्यों को आहुति के रूप में डालकर रोगों को फैलाने वाले जीवाणुओं को नष्ट कर मनुष्य को स्वास्थ्य लाभ कराया जाता है। रोगों के अनुसार रोगनाशक औषधियों का चयन कर यज्ञ में आहुति दी जाती है। ऋग्वेद और अथर्ववेद में एक पूरा सूक्त ही यज्ञ चिकित्सा विषय पर दिया गया है।

प्राकृतिक पदार्थों में मिट्टी का भी चिकित्सा की दृष्टि से महत्व है। वेदों में चिकित्सा के लिए मिट्टी

का विधान आया है। सुश्रुत-संहिता कल्पस्थान में भी मृत्त चिकित्सा का उल्लेख है। नारायणोपनिषद् में भी मिट्टी को गुणकारी बताते हुए चिकित्सा में उसका उपयोग बताया गया है।

मृत्तिके देहि मे पुष्टि त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम्।[21]

अथर्ववेद में मानसिक विकारों का मनोवैज्ञानिक उपचार के द्वारा चिकित्सा का वर्णन आया है। मनोवैज्ञानिक चिकित्सांतर्गत मनोबल के विकास के अतिरिक्त आश्वासन चिकित्सा और संकल्प चिकित्सा भी आते हैं।

मंत्रचिकित्सा ध्वनि-तरंग-चिकित्सा है। ऋग्वेद व अथर्ववेद में मंत्रशक्ति का व्यापक उल्लेख है। अथर्वा ऋषि को मंत्रविद्या का विशेषज्ञ बताया गया है। मंत्रों के सस्वर पाठ से जो सूक्ष्म ध्वनि-तरंगें उत्पन्न होती हैं, वे शरीर और मन को पुष्ट करती हैं। इससे शरीर में विद्यमान दूषित तत्व नष्ट होते हैं। फलतः मनुष्य मानसिक तनाव, शिरोरोग, स्नायुरोग आदि से मुक्त हो जाता है। मंत्रशक्ति से दुर्विचारों का नाश होता है, अतः मन शुद्ध और पवित्र रहता है। मन की पवित्रता से मानस रोग स्वयं शांत हो जाते हैं। मंत्र चिकित्सा एक अद्भुत चिकित्सा है।

"तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः।"[22]

ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में हस्तस्पर्श से रोगनिवारण की विधि का वर्णन आया है। रोग-निवारण के लिए रोगी की चिकित्सा करते समय अपने हाथों को फैलाना, अंगुलियों को खोलना, स्वयं के हाथों में आरोग्यदायक शक्ति का अनुभव करना, दोनों हस्त से रोगी के शरीर को स्पर्श करना और मंत्र बोलते हुए रोगी के शरीर पर हाथ फेरा जाता है।

"अयं मे हस्तो भगवान, अयं मे भगवत्तरः।
अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमदर्शनः।।"[23]

इस प्रकार से वैदिकचिकित्सा विज्ञान के तहत् चारों वेदों के संहिताओं, उपवेद, आयुर्वेद के अंतर्गत अष्टांगहृदय, चरक संहिता, सुश्रुत संहिता एवं अन्य आयुर्वेदिक ग्रंथो की मान्यताओं में वैदिक चिकित्सा संबंधित जानकारी प्राप्त होती है। समस्त प्राचीन चिकित्सा विधा संस्कृत भाषा में ही लिखित है। जो संस्कृत भाषा हमारे लिए महत्वपूर्ण है। भारतीय भाषाओं में संस्कृत भाषा सबसे प्राचीन है और इसकी जानकरी होना अति महत्वपूर्ण है। मानव को बिना किसी भाषा के ज्ञान से लिखित जानकारी का ज्ञान होना दुर्लभ हो सकता है। इसलिए वर्तमान समय में भारत में प्रचलित भाषाओं की जानकारी होना बहुत महत्व रखता है। भारतीय भाषाएँ एवं वैदिक चिकित्सा विज्ञान ये दोनों विषय वास्तव में अलग-अलग समझ में आते हैं परंतु यथार्थ यह है कि जब तक हमें संस्कृत भाषा का ज्ञान न होगा हमें कैसे ज्ञात होगा कि वैदिक चिकित्सा में क्या है? ऐसा कहा जा सकता है। संस्कृत भाषा में सारे संस्कृत, सभ्यता, विकास आदि समन्वित रूप में हैं। वैदिक चिकित्सा विज्ञान का उद्देश्य व्यापार न था, बल्कि मनुष्य को रोगरहित दीर्घजीवी बनाना ही आयुर्विज्ञान का लक्ष्य था।

वर्तमान समय आधुनिकता, भौतिकवाद तथा विकास की तीव्र उत्कंठा का युग है। इससे उत्पन्न प्रतिस्पर्धी विकास की उत्कंठा ने व्यक्ति, प्रकृति एवं पर्यावरण के पारस्परिक संबंध को गंभीर रूप से प्रभावित किया है। प्रकृति, पर्यावरण एवं मनुष्य के मध्य उपजे इस असंतुलन के कारण मानव स्वास्थ्य के समक्ष गंभीर संकट उत्पन्न हो गए हैं। आधुनिक चिकित्सा पद्धति भी स्वास्थ्य की इन समस्याओं का स्थाई एवं प्रभावी समाधान देने में असफल हो रही है। वर्तमान चिकित्सा पद्धति अपने चरम उत्कर्ष के उपरांत भी आज वैदिक चिकित्सा विज्ञान का सहारा ले रही है जैसे- योग, प्राणायाम एवं प्राकृतिक चिकित्सा को प्रयोग में ला रही है। वर्तमान समय में लगभग हर व्यक्ति योग, प्राणायामादि पर बल दे रहा है। अतः वैदिक पद्धति, प्राणायाम तथा प्राकृतिक चिकित्सा वर्तमान समय में प्रासंगिक हो गई है। इस प्रकार ये चिकित्सा की प्राचीन एवं प्राकृतिक पद्धतियाँ आधुनिक चिकित्सा में पूरक सिद्ध होगीं।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. भाषा विज्ञान एवं भाषाशास्त्र - डॉ. कपिलदेव द्विवेदी
2. वाक्यपदीय 1.125
3. काव्यादर्श 1.4
4. भारत की भाषाएँ तथा हिंदी-डॉ. राजकमल बोरा
5. भाषा विज्ञान एवं भाषाशास्त्र -डॉ. कपिलदेव द्विवेदी
6. भारतीय भाषाएँ और साहित्य (तुलनात्मक अध्ययन)- डॉ. राजकमल बोरा

7. वाक्यपदीय 1.149
8. भाषा विज्ञान एवं भाषाशास्त्र – डॉ. कपिलनाथ द्विवेदी
9. भाषा विज्ञान एवं भाषाशास्त्र– डॉ. कपिलनाथ द्विवेदी
10.मनुस्मृति 2/7, 2/62
11.अथर्ववेद 4.12.1 से 4.12.8 तक
12.अथर्ववेद 1.22.1
13.अथर्ववेद 6.42.2
14.अथर्ववेद 3.7.5
15.ऋग्वेद 1.23.20
16.अथर्ववेद 6.106.3
17.अथर्ववेद 10.4.26
18.अथर्ववेद 1.28.1 से 2
19.ऋग्वेद 10.10.06
20.ऋग्वेद 8.8.10
21.नारायणोपनिषद् 1.8
22.अथर्ववेद 1.173
23.अथर्ववेद 4.13.6

– शोधछात्र, डॉ. राम मनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय, अयोध्या, फैजाबाद

❑❑❑

भारतीय भाषाओं में प्राचीन जैन गणित विज्ञान

हरीश जैन

जैनों के अनुसार, एक बच्चे को पहले लिखना सिखाया जाना चाहिए, फिर अंकगणित सिखाया जाना चाहिए। जैन कथा के अनुसार, उनके पहले तीर्थंकर ऋषभनाथ ने ब्राह्मी लिपि को अपनी बेटी ब्राह्मी को पढ़ाया, और अपनी दूसरी बेटी सुंदरी को गणित। जैनों का पवित्र साहित्य सिद्धांत या आगम कहलाता है और यह बहुत प्राचीन है। जैनों ने अपने सिद्धांतों को विकसित किया और चिकित्सा, गणित, भौतिकी, खगोल विज्ञान, ब्रह्मांड विज्ञान, पदार्थ और ऊर्जा की संरचना, जीवित प्राणियों की मूलभूत संरचना, अंतरिक्ष और समय की अवधारणा और सापेक्षता के सिद्धांत में उल्लेखनीय योगदान दिया।

जैन धर्म में गणित विज्ञान एक महत्वपूर्ण विषय रहा है। यह जैन चिंतन परंपरा का हिस्सा है। संख्यान (अक और ज्योतिष) जैन मुनियों की साधना का महत्वपूर्ण अंग रहा है। जैन धर्म में 72 विज्ञानों तथ कलाओं में अंकगणित को सर्वाधिक तरजीह दी गई है प्राचीन भारत के जैनों ने गणित के अध्ययन के लिए बहुत महत्व दिया, और इस विषय को अनके धर्म का एक अभिन्न अंग माना गया। सांख्या (संख्याओं का विज्ञान, जिसका अर्थ अंकगणित और खगोल विज्ञान) का ज्ञान हमें धार्मिक कार्यक्रमों के लिए उचित समय और स्थान में से एक बताया गया है।

जैन वाङ्मय को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है। उसे गणितानुयोग भी कहा जाता है। गणितीय सिद्धांतों द्वारा सृष्टि-संरचना को स्पष्ट करना तथा कर्म-सिद्धांत की व्याख्या करना जैनाचार्यों का प्रमुख दृष्टिकोण है। इसलिए मात्र करणानुयोग का ही नहीं, अपितु द्रव्यानुयोग के ग्रंथों का भी अध्ययन गणित के परिपक्व ज्ञान के बिना संभव नहीं है। जैन गणितज्ञ महावीराचार्य ने गणित की महत्ता बतलाते हुए कहा है- "सांसारिक ग्रंथों में गणितीय सामग्री प्रत्यक्ष रूप परोक्ष रूप में प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। हमारे प्राचीन ज्ञान-भंडार में आगम साहित्य का बहुत महत्व है। ऐसे ही एक महत्वपूर्ण वैदिक तथा धार्मिक आदि सभी कार्यों में गणित उपयोगी है"। गणित का शाब्दिक अर्थ है कि गणना या गणना का विज्ञान, महावीरचार्य (850।.D.) का गणिता-सार-संग्रह (850।.D) जैन विद्वान द्वारा केवल अंकगणित और बीजगणित पर एकमात्र ग्रंथ है, जो वर्तमान में उपलब्ध है। सूर्यप्रजापति और चंद्रप्रजापति दो खगोलीय ग्रंथ हैं। प्रारंभिक जैनों द्वारा लिखे अन्य गणितीय ग्रंथ अप्राप्य हो गए हैं।

यही कारण है कि जैन आगम ग्रंथ स्थानांगसूत्र (325 ई.पू.) से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि तत्कालीन जैनाचार्यों को गणित के दस विषयों यथा परिकर्म, व्यवहार, रज्जू, राशि कलासवर्ण, यावत- तावत्, वर्ग, धन, वर्ग-वर्ग, एवं विकल्प का समुचित ज्ञान हो गया था। यहाँ पर जैन गणितज्ञ महावीराचार्य का संक्षिप्त परिचय आवश्यक हो जाता है-

जैन गणितज्ञ महावीराचार्य और गणित सार संग्रह

महावीराचार्य 9 वीं सदी के एक भारतीय गणितज्ञ और ज्योतिषी विद थे। ये जैन धर्म का अनुसरण करते थे। वह गुलबर्ग के निवासी थे। इन्होंने गणित इतिहास

की एक विशिष्ट कृति 'गणित सार' की रचना की थी, जिसका रचनाकाल 850 ई. के आसपास माना जाता है। अब तक मिले उनके द्वारा लिखे ग्रंथों से यह अनुमान लगाया जाता है कि वह राष्ट्रकूट वंश के महान नरेश अमोघवर्ष नृपतुंग के समकालीन थे। इन्होंने गणित की महानता को एक श्लोक के माध्यम से बताया है–

"।।बहुभिर्प्रलापैः किम्, त्रयलोके सचराचरे। यद् किंचिद् वस्तु तत्सर्वम्, गणितेन् बिना न हि।।" अर्थात्

बहुत प्रलाप करने से क्या लाभ है? इस चराचर जगत में जो कोई भी वस्तु है वह गणित के बिना नहीं है। उसको गणित के बिना नहीं समझा जा सकता।

संस्कृत में लिखे गए गणित सार संग्रह ग्रंथ में महावीराचार्य ने गणित का विलक्षण तरीके से विवेचन किया है। यह जैन परंपरा को सबसे पहले गणित विषयक ग्रंथ की श्रेणी में आता है। इसमें गणित के नियमों के साथ–साथ गणित संबंधी प्रश्न भी दिए गए हैं जो अत्यंत मनोरंजक तथा ज्ञानवर्धक होते हैं। दक्षिण भारत में यह ग्रंथ काफी समय तक पाठ्य पुस्तकों में शामिल रहा है। 20वीं सदी के प्रारंभ में मद्रास ओरिएंटल पांडुलिपि ग्रंथालय से संबद्ध 'एम. रंगाचार्य' को इस भंडार से प्राप्त आचार्य महावीर द्वारा रचित गणितीय पांडुलिपि 'गणितसार संग्रह' की प्राप्ति से भारतीय गणित का एक स्वर्णिम पृष्ठ अनावृत हुआ। विश्व समुदाय को इस महत्वपूर्ण जैन गणितीय कृति की जानकारी सर्वप्रथम 1908 में डेविड स्मिथ के बिबलियोथीसीका मैथमैटिका में प्रकाशित आलेख के माध्यम से हुई तथा 1912 में मद्रास सरकार द्वारा 'गणितसार संग्रह' का 'एम. रंगाचार्य' द्वारा किए गए अंग्रेजी अनुवाद एवं प्रस्तावना सहित प्रकाशन किया गया। वस्तुतः इस कृति के प्रकाशन के साथ ही विश्व समुदाय का ध्यान भारतीय गणित की उस परंपरा की ओर आकृष्ट हुआ जिसे संप्रति 'जैन गणित' की संज्ञा दी जाती है और इस प्रकार विश्व क्षितिज पर जैन गणित की पुर्नस्थापना हुई।

अपने ग्रंथ के आरंभ में ही वह लिखते हैं – "सांसारिक, वैदिक तथा धार्मिक आदि सभी कार्यों में गणित उपयोगी है। कामशास्त्र, अर्थशास्त्र, संगीत व नाट्यशास्त्र, पाकशास्त्र, ओषधिशास्त्र, वास्तुविद्या, छंद–अलंकार, काव्य, तर्क, व्याकरण आदि सभी कलाओं में गणित – विज्ञान श्रेष्ठ माना जाता है। सूर्य तथा ग्रहों – नक्षत्रों की गतियाँ, ग्रह – संयुति, चंद्र की गति, त्रिप्रश्न आदि जानने में इनका उपयोग होता है। व्यर्थ में अधिक कहने से क्या लाभ। तीनों लोकों में जो तमाम चराचर (गतिशील और स्थिर) वस्तुएँ हैं उनका अस्तित्व गणित से पृथक नहीं है। महावीराचार्य के "गणितसार – संग्रह में कुल नौ अधिकार यानी अध्याय हैं।" प्रथम अध्याय में रेखा, समय, धान्य, सोना – चांदी तथा भूमि आदि को मापने के पैमाने दिए गए हैं। महावीराचार्य ने इकाई से आरंभ करके 24वें स्थान तक संख्या – संज्ञाएँ गिनाई हैं।

महावीराचार्य (850 ई.) ने भिन्नों के योग हेतु लघुत्तम समापवर्त्य का नियम (निरूद्ध नाम से) तथा किसी भी भिन्न को इकाई अंश वाली भिन्नों अर्थात् एकांशक भिन्नों के पदों में व्यक्त करने के अनेक नियम प्रस्तुत किए हैं। ये दोनों महावीराचार्य के मौलिक योगदान हैं।

महावीराचार्य (850 ई.) ने सर्वप्रथम ऋणात्मक संख्याओं के प्रकृति में वर्गमूल न होने के कथन के माध्यम से प्राकृतिक संख्याओं में ऋणात्मक संख्याओं के वर्गमूल की उपस्थिति को नकारा।

भारतीय भाषाओं में जैन धर्म के विद्वानों द्वारा रचित अन्य गणित संबंधी ग्रंथ एवं उनका गणितीय अवदान

स्थानांग सूत्र, भगवती सूत्र और अनुप्रयोग द्वारा सूत्र – स्थानांग सूत्र जैन आगम ग्रंथ है। इसकी मूल भाषा अर्धमागधी है, लेकिन आचार्य अभयदेवसूरी ने इस ग्रंथ पर संस्कृत में एक पारिभाषिक ग्रंथ की रचना की है। इसमें गणित के बहुत से विषय, विधियाँ तथा संक्रियाएँ दी गई हैं।

परिकर्म (चार आधारभूत संक्रियाएँ), व्यवहार, रज्जु (ज्यामिति), राशि (ठोस ज्यामिति), कलासवर्ण (भिन्न), यावत्–तावत् (सरल समीकरण), वर्ग (वर्ग समीकरण), घन (त्रिघात समीकरण) वर्गावर्ग तथा विकल्प (सांयोजिकी)

ईसा से 500 वर्ष पूर्व गणित के विकास में जैनाचार्यों का श्लाघनीय योगदान रहा है। इस काल की प्रमुख कृतियाँ 'सूर्य प्रज्ञप्ति' तथा 'चंद्र प्रज्ञप्ति' जैन धर्म के प्रसिद्ध धर्मग्रंथ हैं। इन ग्रंथों की संख्या–लेखक–पद्धति, भिन्नराशिक व्यवहार तथा मिश्रानुपात, बीजगणित समीकरण

एवं इनके अनुप्रयोग, विविध श्रेणियाँ, क्रमचय-संचय, घातांक, लघुगणक के नियम, समुच्चय सिद्धांत आदि अनेक विषयों पर विशद् प्रकाश डाला गया है।

जैन दार्शनिक उमास्वाति (135 ई. पू.) की कृति 'तत्वार्थाधिगम सूत्र भाष्य' एवं आचार्य यतिवृषभ (173 ई. के लगभग) की कृति 'तिलोयपण्णत्ती'।

वक्षाली गणित में गणितीय विधियों का व्यापक प्रयोग मिलता है।

स्थानांग सूत्र में 5 प्रकार के अनंत की तथा अनुप्रयोग में 4 प्रकार के प्रमाण की बात कही गई है।

भगवती सूत्र में n प्रकारों में से 1 - 1 , 2 - 2 प्रकारों को एक साथ लेकर जो युग्म बनते हैं, उन्हें एकक, द्विक - संयोग आदि कहा गया है जिसका मान n n (n - 1) / 2 आदि बनाया गया है जो आज भी प्रचलित हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन भारतीय काल में गणित के क्षेत्र में अग्रणी विचार एवं कार्य जैन धर्म के आचार्यों तथा विद्वानों ने संस्कृत, प्राकृत, अर्धमागधी तथा दक्षिण भारतीय भाषाओं में गणित के विभिन्न आयामों पर प्रकाश डाला था, जिसे आधुनिक काल में हम हिंदी, अंग्रेजी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के माध्यम से हम सभी पढ़ व समझ रहे हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. गणित का शिक्षणशास्त्र, भाग 1, बीएड 2 सीपीएस 9, उत्तराखंड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्दवानी

2.https://epustakalay.com/book/28128-tiloy-pannatti-ka-ganit-by-hi-la-jain/

3. जैन ए., कुछ अज्ञात भारतीय जैन गणित ग्रंथ गणित भारती 4 (1-2) (1982), 61-71

4. जैन लक्ष्मीचंद्र (संपा.) महावीराचार्य रचित गणित सार- संग्रह, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, 1903

– एन 40, बुद्ध विहार, फेस-1, दिल्ली-110086

❑❑❑

भारतीय भाषाओं में वैदिक कला विज्ञान : असमिया के विशेष संदर्भ में

डॉ. अंजू लता

मानव मन एवं मस्तिष्क की उच्चतम एवं प्रखरतम भावों की अभिव्यक्ति व लोगों की संस्कृति में एक सुल्यतम विरासत लाने वाली कला का विकास कोई नवीन बात नहीं है। मानव सभ्यता व संस्कृति के विकास एवं उत्पत्ति के साथ-साथ कलाओं का भी निरंतर विकास हुआ है। मानव सभ्यता का विकास तथा भारतीय संस्कृति जितनी पुरानी है, उतनी ही पुरानी कलाएँ एवं कला पद्धतियाँ हैं। पूरे देश में यदि नजर फैलाएँ तो यह देखने को मिलेगा कि मानव सभ्यता और संस्कृति के साथ कलाओं का आपसी सह-संबंध रहा है। जिस तरह मानव जीवन वैविध्यपूर्ण है, उसी भांति कलाओं का विकास एवं मानव समाज में उसका आगमन विविधता से परिपूर्ण है। सभी कलाएँ मानव जीवन के हर पहलू, इतिहास, सभ्यता-संस्कृति तथा उत्थान-पतन आदि को हमेशा एक दस्तावेज के रूप में परखती हैं। इस संदर्भ में कला एक बाह्य माध्यम या पद्धति द्वारा अपने भावों की अभिव्यक्ति को कहा जा सकता है। कला के संबंध में विद्वानों का अलग-अलग मत रहा है, इस दृष्टि से डॉ. कृष्ण गोपाल का मानना है कि जो लोगों को आनंद प्रदान करता है व कला अपूर्णता को पूर्णता प्रदान करता है तथा कलाकार किसी भी कला को गाता है, उसे बनाता व एक स्वर प्रदान करने वाला होता है। अतः विस्तृत रूप से कला को हम एक मानव मन की अभिव्यक्ति कह सकते हैं जिसके माध्यम से कलाकार किसी भी कला को गति प्रदान करने के साथ ही एक आकार प्रस्तुत करता है। विविधता में एकता व अनेकता में एकता की भूमिका रखने वाले देश भारत में कला का आरंभ प्रागैतिहासिक काल से ही दिखाई पड़ता है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाए तो भारतीय कलाओं का विकास वैदिक काल से पूर्व ही मिलता है। इस संदर्भ में कहा जाए तो भारतीय कलाओं का विकास सर्वप्रथम ग्रामीण सभ्यता में हुआ है। उदाहरणस्वरूप सिंधु घाटी सभ्यता में प्राप्त अवशेषों को कलाओं का प्रारंभिक नमूना माना जाता है। क्योंकि इस कला की खोज ईसा पूर्व तीन हजार साल पुरानी मानी जाती है। भारतीयों कलाओं का स्वरूप मुख्य रूप से सिंधु घाटी सभ्यता, अजंता, एलोरा एवं प्राचीन मठ और मंदिरों में दिखाई पड़ता है - (द हिस्ट्री ऑफ इंडियन आर्ट, अनिल राव संध्या केट्कार)। वैदिक काल में विभिन्न नदियों की घाटियों में पुरातत्वविदों की खुदाई में मिले असंख्य पाषाण उपकरण भारत के आदि मनुष्य के कलात्मक प्रवृत्तियों के साक्षात प्रमाण है। भारतीय वैदिक कला मूलतः मूर्तिकला और वास्तुकला के संदर्भ पर आधारित है, जिसका वर्णन साहित्य में 1500 से 800 ईसा पूर्व के बीच मिलता है। इस युग में वास्तुकला न तो गतिशील थी न स्थायी और न ही शहरी विकास में केंद्रित थी। उस समय की वास्तुकला की द्रविड में पिरामिड के आकार के मंदिर शामिल थे, जो कि देवताओं, नर्तक, राजाओं और योद्धाओं की कई प्रतिमाओं से मिलकर पत्थर पर नक्शा तैयार किया जाता था। इसके अलावा कलाओं में गोल और चोकोर आकार की झोपड़ियों को भी देखा जाता है (द हिस्ट्री ऑफ इंडियन आर्ट, अनिल राव संध्या केट्कार)। वास्तुकला निर्माण में इस युग में व्यवहृत सामग्रियाँ हैं - टिन, सीसा, चाँदी, तांबा आदि धातुओं का उल्लेख वैदिकालीन साहित्य में

मिलता है। इसी तरह धीरे-धीरे वास्तुकला से आभूषण कला, चित्रकला, हस्तशिल्प कला, मुहर निर्माण, गुफा चित्रकारी आदि का विकास हुआ है।

भारत में फैले सभी राज्यों और संघ राज्य की अपनी विशेष सांस्कृतिक और पारंपरिक पहचान होने के नाते उन राज्यों में प्रचलित कलाओं में भिन्न-भिन्न रूप दिखाई पड़ते हैं। जिनके अपने पारंपरिक स्वरूप होने के अलावा उनकी अपनी खास प्रवृत्तियाँ भी होती हैं, जिन्हें राज्य के सांस्कृतिक व धार्मिक आभूषणों से अलंकृत होने से सहज ही पहचाना जा सकता है। इस संदर्भ में पूर्वी हिमालय के दक्षिण में स्थित सात बहनों का राज्य असम को लिया जा सकता है जो अपनी समृद्ध संस्कृति और विविध आबादी के लिए विख्यात है। नाना जाति-जनजातियों के मिलन भूमि में लोक कला और संस्कृतियों में चार चाँद लग गए हैं। असम में भी कलाओं की उत्पत्ति प्रागैतिहासिक काल में ही हुई है। इस विकास यात्रा में हम कलाओं को भाषा के साथ भी जोड़कर देख सकते हैं कि सभ्यता-संस्कृति व कलाओं के विकास में एक सहचरी संबंध रहा है, एक के विकास में दूसरा पूर्ण रूप से निर्भर रहा है। क्योंकि सभ्यता और संस्कृति व कलाओं के परिवर्तन के साथ ही भाषाओं में भी परिवर्तन हुआ है। इस संदर्भ में प्रमुख लेखक व आलोचक बिरिंचि कुमार बरुआ के शब्दों में इस प्रकार देख सकते हैं -"असमिया भाषा की उत्पत्ति व विकास न केवल राजनैतिक, धार्मिक व सामाजिक कारणों से हुई है बल्कि उसमें आठवीं शताब्दी में प्राप्त पाषाण और धातु लिपियों की खोज से उसकी शुरूआत हुई है"। असम में अब तक प्राप्त पाषाण लिपियों में से नागावँ जिले में स्थित कोपिली नदी की खुदाई में प्राप्त लिपियाँ ही प्राचीन लिपि कला रही हैं (असमिया भाषा आरू संस्कृति, श्री बिरिंची कुमार बरुआ)। उस समय पत्थरों में प्राप्त लिपियों में से ज्यादातर लिपियाँ संस्कृत भाषा की होती थीं, अतः यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि प्राचीन काल में आमतौर पर संस्कृत भाषा का प्रचलन रहा होगा। उस समय पत्थर पर न केवल लिपियों का बल्कि पत्थर के टुकड़ों को विभिन्न तकनीकों से भिन्न प्रयोजनों के अनुरूप स्वरूप प्रदान किया जाता था। असमिया इतिहास के पृष्ठों को देखा जाए तो उस युग में हस्थ कुल्हारें, खुरचनी, छिद्रक आदि पाषाण उपकरण सिर्फ उपयोगिता की दृष्टि से ही नहीं बल्कि उनका कलात्मक पक्ष भी महत्वपूर्ण रहा है। भारतीय वैदिक कला के समकालीन असमिया वैदिक युग में केवल वास्तुकला और स्थापत्य कला की ही मौजूदगी नहीं थी बल्कि उस युग में चित्रकलाओं का भी महत्वपूर्ण हस्तक्षेप रहा है (ए हिस्ट्री ऑफ आसाम, एडवर्ड एल्बार्ट गैट)। असम के ग्वालपारा (Goalpara) जिले में और उसके आस-पास खोज की गई पुरातन मौर्य स्तूपों को प्राचीन कला और स्थापत्य कला कार्य का सबसे प्राचीन तथा प्रारंभिक उदाहरण माना जा सकता है। दूसरा प्रमुख उदाहरण तेजपुर के इतिहास प्रसिद्ध 'दपर्वतिया'(Doporboteeya) में पुरातत्ववादियों द्वारा खोज पर मिलने वाले स्मारकीय स्थापत्य अवशेषों को लिया जा सकता है जो गुप्तकालीन असमिया कलाओं का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं। वर्तमान असम में चालीस से भी अधिक खोजे गए प्राचीन पुरातात्विक स्थल हैं जिनमे कोई मूर्तिकला और वास्तुकला के अवशेष प्राप्त हुए हैं। इसके अलावा मंदिरों और इमारतों के साथ अनेक मूर्तियाँ और रूपांकान भी शामिल हैं। जैसे- रंग घर (Rang Ghar), जयदौल (Jaydoul), बालाजी मंदिर(Balaji Temple), कामाख्या मंदिर (Kamakhya Temple), उमानंद मंदिर (Umananda Temple), तलातल घर (TalatalGhar), शिवदौल(Shivdoul), कारेंग घर (KarengGhar), अग्निगढ़(Agnigarh), बामुनी पहाड़(Bamuni Hills), महाभैरव मंदिर(Mahabhairav Temple), कमलाबारी सत्र (KamalabariSatra), आओनिआटी सत्र (AauniaatiSatra), बरपेटा सत्र (BarpetaSatra) आदि पर उपलब्ध रूपांकान असमिया कलाओं का उल्लेखनीय उदाहरण है। इसके अलावा चित्रकला भी असम की एक प्राचीन परंपरा रही है। चित्रकलाओं की असम में एक खास पहचान रही है, चाहे वह शंकरी युग हो या उससे पूर्व एवं पश्चात् की हो, हमेशा से ही चित्रकला का अपना महत्व रहा है। शंकरी पूर्व युग की कुछ महत्वपूर्ण कविता पुथियों में चित्रकला का आभास तथा स्रोत मिलता है जैसे - हेम सरस्वती द्वारा रचित प्रह्लाद चरित्र, हरगौरी संवाद, रुद्रकंदली का सात्यकिर युद्धयात्रा (अनुदित) और माधव कंदली का रामायण और जयद्रथवध आदि में अनेक प्राचीन कथा कहानियों के माध्यम से चित्रकला का एक रूप प्रस्तुत किया गया है। असम में चर्चित चित्रकला संबंधी परंपराओं के बारे

में हम असम तथा कामरूप जिले में मिलने वाले तथ्यात्मक प्राचीन ग्रंथ जैसे - कालिका पुराण, योगिनी तंत्र, कामरूप में निवास करने वाले नृपति लोगों का ताम्र फलक, पाषाणलिपि आदि में चित्रलिपि का महत्वपूर्ण तथ्य प्राप्त होता है (असम चित्रकला, प्रदीप चलिहा, असम साहित्य सभा, 1993)। इस तरह असम की चित्रकलाओं के बारे में न हमें केवल दीवारों में बने चित्र ही दिखाई पड़ते हैं बल्कि ऐतिहासिक कविता पुथी हो या धार्मिक ग्रंथ हो, सब में चित्रकलाओं का स्रोत मिलता है। वैदिक युग में राजा-महाराजा भी ने दूसरे राज्यों में संदेश व सूचना पहुँचाने के कार्यो के संदर्भ में चित्रवाला का प्रयोग करते थे। पूरे देश की भाँति असम में भी संस्कृतियों की प्रगति के साथ कलाओं में भी निरंतर प्रगति हुई है। वैदिक युग से व उसके पश्चात् असम में धीरे-धीरे दृश्य कलाओं का निरंतर विकास हुआ है, जिसमें मुख्यत: पांडुलिपि चित्रण की परंपरा का विकास देखने को मिलता है। एड्वार्ट एल्बर्ट गैट की प्रसिद्ध पुस्तक 'ए हिस्ट्री ऑफ आसाम' ग्रंथ के अनुसार असम की पांडुलिपि चित्रकला का विषय भागवत, पुराण, रामायण, और महाभारत की कहानियों के चित्र थे। इसके अलावा कुछ पांडुलिपि चित्रकला में 'मनसा देवी' (सांप की देवी) का चित्र भी दर्शाया जाता था और किसी किसी पांडुलिपि में राजाओं के इतिहास की झलक मिलती है। कला और शिल्प के क्षेत्र में असम के इतिहास में दो हजार साल से भी अधिक समय के विभिन्न पारंपरिक कला और शिल्प पाए जाते हैं। जैसे - मिट्टी के बर्तन और टेराकोटा काम, पीतल शिल्प से बने बर्तनों से लेकर पारंपरिक साज सज्जा, आभूषण, वाद्य यंत्र, बेंत और बाँस शिल्प, रेशम और कपास की बुनाई और काष्ठकला आदि केवल असम के लोगों के लिए एक पारंपरिक कला की पहचान ही नहीं बल्कि पूरे असम में रोजगार का एक प्रमुख स्रोत भी है। प्राचीन समय से ही असम की महिलाएँ हथकरघा और बुनाई की प्रथाओं पर गर्व करती हैं। इस संदर्भ में हम एक असमिया कविता को ले सकते हैं, जिसमें असमिया महिला बुनकरों की हस्तकला प्रदर्शित होती है, जैसे-

आए काटिले शालर गामोसा
आचूर भमका फूल
बाए आनि थले खुपालोई बुलि
रंगचंगा कोपोउ फूल। (कविता-बिहूर आदरनी, कवि-मित्रदेव महंत, मरुवा फूल, सं- नवकांत बरुवा)

उधृत पंक्तियों में कवि मित्रदेव महंत ने ग्रामीण परिवेश में किस तरह महिलाएँ 'बिहू' के पावन अवसर पर अपनी हस्तकलाओं का उपयोग करती हैं उसी का सुंदर चित्रण कविता के माध्यम से व्यक्त किया है। इस कविता में हम न केवल असमिया संस्कृतियों का पालन करते हुए देखते हैं बल्कि इसमें यह भी अभिव्यक्त होता है कि किस तरह नाना कलाओं के प्रयोग के माध्यम से अपनी अलग पहचान भी बना लेते है। गामोसा न केवल एक परंपरागत प्रतीक है बल्कि कलाओं का भी एक महत्वपूर्ण दस्तावेज है। इसके अलावा असम में चित्रकला का भी प्राचीन रूप देखने को मिलता है जब चीनी यात्री 'हुवेंचांग (Xuanzang) सातवीं शताब्दी के समय में असम भ्रमण पर आए थे, (ए हिस्ट्री ऑफ आसाम, एड्वार्ट एल्बर्ट गैट)।

त्योहारों व रस्मों-रिवाजों की अपनी एक कलात्मक विशेषता होती है। असम का सबसे महत्वपूर्ण त्योहार 'बिहू' है, जिसमें शिल्प कला से लेकर नृत्य कला तक कला के सभी रूपों की मौजूदगी रहती है। अत: बिहू असम का एक पारंपरिक उत्सव होने के साथ ही एक प्रमुख नृत्य कला भी है। इसके अलावा असम में ओजापाली, देवध्वनि, सत्रिया, भोरताल आदि नृत्य कलाएँ भी शामिल हैं। इन नृत्य कलाओं के माध्यम से धार्मिक पौराणिक कहानियों व देवी देवताओं की स्तुति की जाती है। नृत्य कला हाथ से बनाया जाता है, जैसे -ढोलबिरी (Dholbiri), मगर्दाना (Magardana), मुकुतामोनी (Mukutamoni), लोकापारों (Lokaparo), केरू (Keru), गोलपता (golpata), थुरिया (Thuriya), जांग्फाई (Jangphai), सातसोरी (Satsori), जोनबीरी (Jonbiri), बीना (Bena), गेजरा (Gejra), दूगदूगी (Doogdoogi), बिरिमोनी (Birimoni), पोवालमोनी (Poalmoni), सिलिखामोनी (Silikhamoni), आदि से जुड़ी एक महत्वपूर्ण कला है आभूषण कला, जो आमतौर पर रीति- रिवाज और परंपराएँ समाज व परिवार में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है और असमिया अपने पूर्वजों द्वारा अपने समुदायों से संबंधित रीति- रिवाजों का हमेशा से पालन करता आया है। यह ऐसी एक मान्यता है जो अतीत में उत्पन्न हुई और पीढ़ी दर पीढ़ी चली आ रही है। असम में शादी ब्याह, जन्म मृत्यु, त्योहारों में ऐसे अनेक रीति और नीति- नियम शामिल

हैं जिनका पालन कलात्मक ढंग से किया जाता है। उदाहरणस्वरूप हम बांस को ले सकते हैं जिसका उपयोग संस्कृति से लगाव के कारण मेहमानों के स्वागत से लेकर उससे खाद्य पदार्थ भी तैयार किया जाता है व घर निर्माण, आभूषणों का निर्माण, वाद्य यंत्र का, मुखौटा का, बर्तनों का आदि सभी कार्यक्षेत्र में इसका कलात्मक प्रयोग किया जाता है। 'जापि' को असम की सांशेड के रूप में जाना जाता है, जिनका निर्माण बांस की पट्टियों और सूखे ताड़ के पत्तों से होता है, जिसे असमिया भाषा में 'तोको पात' कहा जाता है। जापि कई प्रकार की होती हैं, जैसे – हलुआजापि (HaluwaJapi), सोरोडिया जापि (SorudayaJapi), बोरजापि (BorJapi), टूपी जापि (TupiJapi), उका जापि (UkaJapi), पीठा जापि (PithaJapi) गरखिया जापि (GarakhiyaJapi) बोरदोई जापि (BordoiJapi) आदि (ए हिस्ट्री ऑफ आसाम, एडवार्ड एल्बर्ट गैट)। इन जापियों के हर एक प्रकार आहोम के कार्यकाल से लेकर अब तक असमिया जनजीवन का महत्वपूर्ण हिस्सा बने हुए हैं, इनमें से अगर किसी एक का प्रयोग मेहमानों के स्वागत में किया जाता है तो दूसरी और किसान अपने खेतों में छतरियों के रूप में प्रयोग करते हैं। इसी तरह जापि असम के लोगों के लिए सम्मान का प्रतीक होने के साथ ही किसानों का एक मात्र सहारा भी है। अतः यह कहा जा सकता है कि असम की संस्कृति का महत्वपूर्ण पहलू कला और शिल्प में इसकी उत्कृष्टता है। स्वाभाविक रूप से असम के लोगों को हथकरघा और हस्तकला का कारीगर कहा जाता है। क्योंकि विभिन्न प्रकार की कला और शिल्प, हस्तकला और हथकरघा की वस्तुएँ, लकड़ी की वस्तुएँ, धातु की चित्रकला, गहने व आभूषण, रेशम की पोशाक आदि भारत की अन्य संस्कृतियों से इसे अलग पहचान प्रदान करता है। इसी तरह असम को कुटीर उद्योग में भी विख्यात माना जाता है। कुटीर उद्योग में सबसे पहले हम बांस और बेंत से उत्पादित वस्तुओं को देख सकते हैं जो असम के लोगों के प्रमुख हस्तकला होने के साथ ही व्यावसायों के एक महत्वपूर्ण हिस्से के रूप में सदियों से रहा है। पीतल धातु, बेल धातु आदि का अत्यधिक उत्पाद है और अपनी सुंदरता के लिए प्रसिद्ध है। इससे बने पारंपरिक बर्तनों में से मुख्य रूप से 'शराई (Saraai), बटा (Bata), कलह (Kalah), काही (Kahi), बाटी (Bati) आदि को लिया जा सकता है। शराई और बटा मेहमानों के स्वागत के लिए बीटल नट और पान पेश किया जाता है। बेल धातु उद्योग असम के 'सरथेबारी' (Sarthebari) में स्थित है और पीतल धातु उद्योग असम के कामरूप जिले के हाजो में केंद्रित है। हथकरघा (Handloom) असम की संस्कृति का दूसरा सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा है। राज्यभर में लगभग तीस हजार करघे स्थित हैं। 'स्वाल्कुची' (Suakuchi) असम में हथकरघा का केंद्र है। इस करघे में कपास (Cotton), मुगापाट (Muga Silk), एरापाट (Era Silk) का उपयोग किया जाता है। मुगा भारत का जंगली रेशम है, जिसका उत्पादन केवल असम में किया जाता है। इसके अलावा असम के लोग लकड़ी की वस्तुएँ बनाने में माहिर है। काठ का प्रयोग प्राचीन समय से ही देखने को मिलता है, जैसे आहोम राजाओं के महलों में काठ से बने अनेक सजावटी समान देख सकते हैं। गुरु आसन के साथ एक सतारा की विभिन्न वस्तुओं को लकड़ी पर उकेरा जाता है। हस्तकला का एक और महत्वपूर्ण रूप खिलौनों के निर्माण में दिखाई पड़ता है। असम में कुमार और हीरा समुदायों से बनाए गए खिलौना, जैसे–देवी– देवताओं, पशु–पक्षियों का चित्रण वाले खिलौने आमतौर पर ग्वालपारा जिले में नजर आते हैं। कपड़े और मिट्टी के खिलौने साधारणतः कठपुतली थियेटर के लिए उपयोग किए जाते हैं। इसके अतिरिक्त मिट्टी से बने बर्तन और मुखौटा कला भी एक अहम् हिस्सा है व मिट्टी से बने बर्तन असम में प्रचलित कला और शिल्प में गतिविधि का सबसे प्राचीन रूप माना जाता है। इसके अंतर्गत हम मिट्टी के घड़े, प्लेट, अगरबत्ती धारक, दिया, कलश आदि को प्रमुख रूप से देख सकते हैं। दूसरा है मुखौटा कला जो विख्यात नदी द्वीप 'माजुली' का पारंपरिक पहचान है। सामान्यतः मुखौटा लकड़ी, बांस, टेराकोटा, धातु और मिट्टी से बनता है। इन मुखौटों का व्यापक रूप 'भाउना' और लोक मंचीय नाटक में प्रयोग किया जाता है व लोग घर में सजावट के रूप में रखते हैं। एक और हस्तकला का यहाँ उल्लेख किया जाना चाहिए जो कुहिला की कोठी है, जिसे ज्यादातर नगाँव जिले के बाताद्रवम क्षेत्र में देखा सकता है। यह लकड़ी और बांस के खम्भे से बने सामान की तरह करघे पर बुना जाता है। इसका उपयोग सीट, मैट, और कुशन बनाने के लिए किया जाता है। यह असम में एक मान्यता प्राप्त कुटीर

उद्योग है। इसके अतिरिक्त एक महत्वपूर्ण कला के रूप में लोक गीतों का प्रचलन असम के प्राय : सभी क्षेत्रों में देखा जाता है। लोक गीतों को परिभाषित करते हुए डॉ. सत्येंद्र नाथ शर्मा का कहना है कि– "वह गीत, जो लोक – मानस की अभिव्यक्ति हो अथवा जिसमें लोकमानस भी हो, लोक–गीत के अंतर्गत आएगा"। (असमिया साहित्य का परिचयात्मक इतिहास, डॉ. अलख निरंजन सहाय)। असमिया लोक गीत कलाओं के अंतर्गत बिहू गीत, आईनाम, बियानाम, मणिकुवरर गीत, बरफुकनर गीत, निचुकनी गीत, गरखिया गीत, नाव खेला गीत आदि असम के परंपरागत गीतात्मक कलाओं में से है।

अत: उपरोक्त विश्लेषणों को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि भारत एक ऐसा राष्ट्र है जहाँ न केवल वैदिक युग में बल्कि उससे पहले और बाद में भी कलाओं का आविष्कार हुआ है और लगातार होता रहा है। चाहे वह स्थापत्य कला हो, वास्तुकला, चित्रकला, मूर्तिकला या फिर हस्तशिल्प कला हो सभी क्षेत्रों में नित्य नवीन प्रगति हुई है। इसी तरह कलाओं में हमेशा अलग–अलग सामाजिक, धार्मिक आदि प्रभावों से प्रभावित होने के फलस्वरूप उसमें निरंतर परिवर्तन भी होता दिखाई पड़ता है। आज भारतीय कलाओं में जो विश्वस्तर में उसकी पहचान दिन व दिन बढ़ती जा रही है उसमें न केवल भारतीय परिप्रेक्ष में ही नहीं बल्कि असम के अनेक जाति–जनजाति व आदिवासियों का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इसीलिए सभी कलाओं में उनकी अपनी खास धार्मिक व सांस्कृतिक कलात्मक विशेषताएँ स्पष्ट झलकती हैं। जिनमें उनकी धर्म व सभ्यता संस्कृति के संदेश भी लोगों को प्राप्त होते हैं। इन दृष्टियों से असमिया कला अपनी प्राचीनता तथा विविधता के लिए विख्यात है। इस तरह पर भारत के संदर्भ में यह कहा सकता है कि भारत हमेशा से ही कलाएँ और इसकी पद्धतियाँ, धार्मिक व सांस्कृतिक परंपरागत प्रभावशीलता को अभिव्यक्त करने का माध्यम बना रहा है। ऐतिहासिकता की दृष्टि से न केवल भारतीय इतिहास में बल्कि असमिया भाषिक इतिहास में भी वैदिक काल की कला को सिंधु घाटी सभ्यता से जोड़कर देखा जा सकता है और प्रागैतिहासिक काल से ही भारतीय भाषाओं और असमिया भाषा में कला को मानव सौंदर्य भावनाओं के इतिवृत्त के एक दस्तावेज के रूप में परखा है। भारतीय भाषाओं के अलावा असमिया भाषा के संदर्भ में यह कहा जाता है कि भारतीय कलाओं की भांति असमिया कलाएँ भी वैदिक काल के महत्व को विज्ञान के रूप में वास्तुकला में ही जीवित रखे हैं। अनिर्धारित प्राचीनता के विभिन्न अवशेष, जिन्हें साधारण रूप में नवपाषाण या प्रागैतिहासिकता के रूप में वर्गीकृत किया जाता है और वह सब वैदिक काल से भी संबंधित रहा है। अत: सभी तथ्य और दृष्टिकोणों को एक साथ समेटने से यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि न केवल वैदिक युग में बल्कि उसके पूर्व और उत्तर काल में भी यदि कलाओं के बारे में कुछ कहा जाए तो यह कहना तर्कसंगत न होगा कि कला–कला के लिए होते तो है ही परंतु कला मानव धर्म के लिए भी महत्वपूर्ण होती है। इन महत्व को केवल पुराने मठ और मंदिर ही नहीं बल्कि प्राचीन धर्म ग्रंथो और लोक भाषाओं का भी प्रदर्शन बराबर रहा है, चाहे वह लोक साहित्यिक ग्रंथ या लोक भाषा हो या अन्य किसी चीज, सबका महत्वपूर्ण योगदान तथा भूमिका हमेशा से ही रही है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. The History of Indian Art-ketkar, Anil Rao Sandhya, Jyotsnaprakashan, 2017

2. A History of Assam - Gait Edward Albert, EBH Publication, 2012

3. असमिया भाषा आरू संस्कृति – बरुवा, बिरिंचि कुमार, लयार्स बुक स्टाल, 1963

4. मरुवा फूल, सं. बरुवानवकांत, असम प्रकाशन परिषद्, 1989

5. असमर चित्रकला, चलिहा प्रदीप, असम साहित्य सभा, 1993

6. असमिया साहित्य का परिचयात्मक इतिहास, डॉ. सहाय अलख निरंजन, महावीर पब्लिकेशन, 2014

7. पुरणी असमर चित्रकला, दास नारायण, असम प्रकाशन परिषद्, गुवाहाटी

– एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, तेजपुर विश्वविद्यालय, असम

❑❑❑

भारतीय भाषाएँ एवं वैदिक ज्ञान विज्ञानः
कन्नड भाषा के संदर्भ में

डॉ. शोभा

भूमिका – भारतीय भाषाएँ – भारतीय संविधान द्वारा मान्यता प्राप्त भाषाओं की संख्या है

– 1950 मे भारतीय संविधान की स्थापना के समय में मान्यता प्राप्त भाषाओं की संख्या थी 14

– आठवीं अनुसूची में तदोपरांत जोड़ी गई भाषाएँ

– शास्त्रीय भाषा का दर्जा पाने वाली पहली भाषा तमिल अन्य भाषाएँ संस्कृत, कन्नड, मलयालम, तेलुगु और ओड़िया

– नागालैंड की राज्य भाषा अंग्रेजी

– लक्षद्वीप की प्रमुख भाषाएँ जेसरी दीप भाषा और महल

– पूर्व की इतालवी कही जाने वाली भारतीय भाषा तेलुगु

– भारत का एकमात्र राज्य जहाँ संस्कृत राजभाषा के रूप में मान्य है –उत्तराखंड

वेदों को ज्ञान–विज्ञान का सार माना जाता है। संसार की प्रत्येक विषय के बारे में आवश्यक जानकारी उसी से उपलब्ध होती है। वैदिक युग में लोग उसी जानकारी और मार्गदर्शन पर समृद्ध जीवन यापन करते थे।

परंतु एक लंबे संक्रमण काल से कई समस्याओं में फंसकर यह ज्ञान विस्मरण हो चुका है। आज कई साहित्यिक दिग्गजों की कड़ी मेहनत फिर से उन वैदिक ज्ञान भंडार को पुनः समाज से परिचित कराने का प्रयत्न कर रही है।

भाषा के दो रूप हैं– मौखिक और लिखित। भाषा का विकास बोलियों द्वारा होता है। भाषा का क्षेत्र विस्तृत और बोली का क्षेत्र सीमित होता है, भाषा का साहित्य होता है बोली का नहीं।

धरती माता भुतधार्ती है जल भुमयांतर्गत सभी प्राणियों के लिए आहार बनाते हैं अग्नि अनंत रूप से सार्वजनिक है। आकाश समस्त सृष्टि के लिए आश्रयदाता है।

इसी आकाश में वायु का जन्म हुआ है। ब्रह्मांड के आसपास धनोदक समुंदर हैं, महामेरु की पूर्व दिशा में मानस पर्वत है। पृथ्वी 50 करोड़ योजना से अधिक विस्तार में बसा है। अंतरिक्ष भूमंडल के ऊपर बसा हुआ है।

हिमवत्त पर्वत के दक्षिण में भारतवर्ष है यहाँ राजा भरत की संतति वास करती हैं। इसका 9 हजार योजन से अधिक विस्तार है। भरत भूमि स्वर्ग, मोक्ष की प्राप्ति की साधना के लिए कर्मभूमि माना जाता है, यहाँ पुरुषार्थ की साधना के लिए गंगा, कावेरी जैसी पुण्य नदियाँ सहायक हैं।

इन नदियों का उद्गम स्थान महेंद्र मलय सहयद्री शुम्तिमंत, विंध्य और परियत्र जैसे सप्त कुल पर्वत है यहाँ शुभाशुभ कर्माचरण किया जाता है। अपने–अपने कर्म के अनुसार स्वर्ग, मोक्ष, नर्क की चर्चा है।

वैदिक पुराणों में पुनः सृष्टि के लिए जगन्नाथ, विष्णु और ब्रह्मा तीनों परिश्रम करते हैं यह वैदिक ज्ञान एक अभूतपूर्व अनुभवकाव्य है।

यह आज के वैज्ञानिक जगत को आश्चर्य में डालने वाले वैज्ञानिक तथ्यों का मौलिक भंडार भी है। चरित्र निर्माण की समस्त प्रक्रिया उसमें है और खगोल, भूगोल, पृथ्वीस्थ जीवन यापन का विस्तृत अध्ययन है।

भाषा ISSN 0523-1418

आत्म, परब्रह्म, जन्म-मृत्यु के रहस्मय सत्य का संश्लेषण भी है, नक्षत्र, ग्रह, ऋतुचक्र है। नदी-नद पर्वत, कानन, अनंतानंद विविध शस्त्र राशियाँ, वनस्पतियाँ, पशु-पक्षी संकुल औषधियों का अद्‌भुत उल्लेख वेदों में मिलता है।

वैदिक ज्ञान की मूल भाषा संस्कृत है कन्नड हो तो क्या भाषा का ब्राह्य रूप मात्र अलग होगा! भावनाएँ सदा एक ही रहेंगी।

अथर्ववेद-वेदों में राजनीति, युद्‌धनीति, सामाजिक स्थिति, विवाह प्रकरण, सामाजिक, नैतिक मूल्य, पाप पुण्य की चर्चा, आध्यात्मिक विचार, अभिचार कर्म, आयुर्वेद, संस्कार, राष्ट्र धर्म के बारे में चर्चा की गई है।

अथर्ववेद में वैदिकीय दैनंदिन जीवन कर्मो का सीधा-सीधा निरूपण है। मानव के अंतरंग में उद्‌भव होने वाली कामनाओं के महासंघर्ष का सही मार्गदर्शन कराने का प्रयास है।

मनुष्य के मन स्वार्थ परम स्वभाव के कारण केवल सुख की कामना के पीछे जीवन मूल्यों को दुत्कारता हुआ नियम उल्लंघन करता हुआ निष्ठुर जीवन बिताने का प्रयत्न करता है। इस बीच समाज कलुषित होता चला जाता है। उसी सुधार के लिए समाज में कुछ क्रांतिकारी व्यक्ति पदार्पण करते हैं समाज सुधार करने का प्रयत्न करते हैं।

इसलिए कर्नाटक में क्रांति का सिलसिला 12वीं शताब्दी से देखा जा सकता है। इनमें वचन साहित्य बहुत प्रबल क्रांति समाज में लाने का प्रयत्न करता है। इनमें प्रमुख हैं अंबिगरा चौडैया, चेतन बसवेश्वर, देवर दासीमैया, प्रभुदेव, बसवेश्वर, महादेवी अक्का, महंत शिवयोगी। समाज में बसे जाति व्यवस्था, स्त्री-पुरुष, ऊँच-नीच, अमीर-गरीब की परिधि से परे इन सब पर चर्चा हुई है।

कर्नाटक में समाज सुधार का यह दौर 12वीं शताब्दी से पाया जाता है।

कर्नाटक में कन्नड भाषा का अपना इतिहास रहा है।

इस साहित्य में विचरण करते समय लगता है यह एक तपोवन है इसमें सिद्‌ध साधक ऋषि संकुलन से संदर्शन पाकर उनके उद्‌धार जीवन धर्म बोधन से हमें अंतरंग की गुत्थी का अनुभव होता है। आत्मबंधन से मुक्त होने में एक दिव्य आनंद का अनुभव होता है।

12वीं शताब्दी में जो सामाजिक क्रांति के नाटक पाए जाते हैं इनमें वचन साहित्य का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है यहाँ गुह्यत गुह्यतर रहस्य बिना छुपाए, वर्ण भेद के बिना, लिंग भेद के बिना, अधिकार, अनाधिकार में संबंध इन सबसे परे कहा गया है।

कन्नड के वचनकार कुल 38 माने जाते हैं। वह अपने मूल तथा अंकित नामों से प्रसिद्‌ध हैं। चंद प्रसिद्‌ध रचनाकारों के वचनों के साथ विषय में प्रवेश करेंगे। अष्टावरण, महादेवी अक्का, विश्वेश्वर्या, अल्लमप्रभु, पृष्ठस्थल सिद्‌धांत, अम्बिगर चौडय्या, मादार चेन्नय्या, कपिल सिद्‌ध, मल्लिकार्जुन-सिद्‌धरामू, देवर दसिमय्या, सत्यवक, सुले संतावव्वा 12वीं सदी के रचनाकारों में सुप्रसिद्‌ध हैं।

इस वचन संग्रह में 218 पुरुष वचनकार हैं, 130 स्त्री वचनकार है। कन्नड भाषा साहित्य के बहुरूप में प्रमुख वचन साहित्य या 12वीं शताब्दी में उदय होकर 20वीं शताब्दी तक एक बहुत बड़ा आंदोलन के रूप में बढ़ता चलता है। यह साहित्य की परिभाषा में एक प्रकार का काव्य है, वचन का अर्थ है "प्रमाण"।

मादर चेन्नैया 11वीं शताब्दी में प्रारंभ होता है जो दक्षिण के चालुक्य के समय के संत हैं।

यह इस साहित्य प्रकार के प्रथम कवि हैं वे उत्तर काल्चुरी के राजा विज्जल के दरबार के आस्थान में प्रधानमंत्री बसावन्ना इस संप्रदाय के पितामह कहलाते हैं। वास्तव में देखा जाए तो अल्लमप्रभु वचन धमग संस्थापक हैं।

वीरशैव धर्म पुरुषों में अग्रिम जैसे बसावन्ना भक्ति मार्ग के लिए प्रसिद्‌ध हैं वैसे अल्लमप्रभु ज्ञान और विज्ञान के लिए प्रसिद्‌ध हैं और यह ज्ञान वैराग्य को देखा जाए तो गौतम बुद्‌ध की याद दिलाता है। कहते हैं आत्मा तुम अपनी पहचान खुद करो वह केवल झूठी ज्योति, वर्णनातीत है। अल्लमप्रभु केवल अद्‌वैती हैं।

हाथ में माला लिए जाप करते दिन मत गवाओं, गृह नक्श देखकर पूजा के दिन मत बिताओं, वे एक-एक क्षण नैतिक वास्तविकता की याद में बिताने होते हैं।

कर्मयोग-सिद्‌धराम - ईश्वर ने सृष्टि की रचना आत्मा के उद्‌धार के लिए की है। जब तक प्राण रहेंगे मनुष्य को कर्म करते ही रहना है। इसलिए कर्म करते

रहने से ज्ञानार्जन और वैराग्य से मुक्ति प्राप्त होगी।

कृषि किए बिना अन्न नहीं मिलेगा तो भूख कैसे मिटेगी? कर्मयोग के बिना।

वैदिक विश्व रचना के संदर्भ में कुछ विशेष जानकारी पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और अग्नि यह पंचतत्व अनंत धातु से व्याप्त हैं।

वचनों का प्राशस्य – वेद, उपनिषद, आगम, पुराण यह सब वैदिक मत और धर्म की बुनियाद हैं इसीलिए भारत खंड में इनके लिए बहुत बड़ा गौरव है। स्मृतियों में 'वेदों धर्म मूल', 'वैद्य धर्म मूल्य', वेदशास्त्र 'सनातन' कहा गई है। हमारे आर्य ऋषियों द्वारा कुछ जगह आगम शास्त्रों के लिए मान्यता है जैसे वक्ष्यामि परम पुण्य पुराण वेदसमित–

"शिवज्ञानार्णवं साक्षादमुक्ति मुग्ति फलप्रंद"

इन सब के आधार पर ही वचनकारों ने भी अपने–अपने सिद्धांतों को स्थापित किया है।

वचनकारों का कहना था –

"वेद शास्त्रागम पुराणगलेंबुव कोटणव कुटुत्ता
नुयु तौडु काम्बो, अवन्नु कुटलेके
अत्तित्त हरिव मनद शिवनरियबल्लेडे बटबयलु
चेन्नमल्लिकार्जुन"

तात्पर्य है कि वेद शास्त्र पुराणों की गुत्थियों को सुलझाने का प्रयास व्यर्थ है इधर–उधर विषय वासनाओं के चक्कर में भटकने वाले मन को पहचानो उसमें जो शिव है उसको समझने का प्रयास करो।

"आद्ययर वचन पुरूष कण्डय
सदाशिवनेम्ब लिंगव नंबुउदु, नंबलोडने नी विजय कण्डय
अधरक्के कहि, उदरक्के सिहि, कूडल संगमन शरणर वचन बेत सषिदंत"

अर्थात् भवरोग के लिए औषधि चरणों का वचन है होठों के लिए कड़वा है पर पेट के लिए मीठा। इन वचनों का जो सेवन करते हैं हमेशा के लिए इस भव रोग से मुक्त हो जाते हैं।

"शिवनल्लदे देवरिल्ल नोडा एनगे
शिवमंत्रवल्लदे बेरे मंत्रविल्ल नोडा एनगे
इदु कारण ओं नमः शिवाय ओं नमः शिवाय
एम्ब षडझर मंत्रवने जपिसुतिर्देनु कारण
महालिंग गुरू शिव सिद्धेश्वर प्रभुवे"

सभी वचनाकारों का इष्टदेव शिव था ज्योति स्वरूप लिंग को माना गया है। तो कहते हैं शिव के बिना कोई ईश्वर नहीं है शिव मंत्र जाप ही मेरे लिए परम मंत्र है।

ईश्वर की उपस्थिति या भगवान है– इस एक ही सूचना से मन को बहुत धैर्य मिलता है और आनंद देता है। मुश्किलों में संकटों में सहायक होने वाला एक पुण्य आत्मा मिल जाए तो मन का भार उतर जाता है।

भक्यि हृदय का निक्षेप है। भक्ति पंथ बहुत पौराणिक है। वचनों का सार सभी वैदिक मतों का वर्णश्रम व्यवस्था, यज्ञ यजादियो के परे, जाति भेद को पीछे छोड़ देता है। शैव हो या वैष्णव मत हो दोनों के लक्षण एक ही हैं। कन्नड वचन साहित्य के वचनाकारों में बसवन्ना के वचन प्रसिद्ध हैं।

"श् अत्लित्त होगंदते हेलवन माडया तंदे
सुत्तिसुलिटु नोडिदुंते अंधकन माडया तंदे
मत्तोंद केलंदते किउडन माडय तंदे
निम्म शरणर पादवल्लदे अन्य विषयक्केलसंदते
इरिसु कूडल संगमदेवा"

अक्का महादेवी का जीवन स्त्री के लिए गौरव साधन है, स्त्री के स्वतंत्र्य का साधन और स्त्री परमार्थ साधन का एक महा प्रकरण है। राजा से शिव विवाह के उपरांत भी महादेवी ने राज्य को त्याग दिया, लोगों ने समझाया तो कहा –

भूख लगेगी तो भिक्षा है
प्यास के लिए कुआँ, तालाब
सोने के लिए पुराना मंदिर है
आत्म संग के लिए तुम हो।

इस विचारधारा के साथ समाज में हिंदी साहित्य की भक्त मीरा का जो स्थान है, उसकी जो विचारधारा रही उसी तरह महादेवी का भी जीवन बिता।

चराचर वस्तुओं में तुम हो। तुम मुझे दर्शन दो, मेरा साथ दो पुकारती–पुकारती जंगल में घूमती रही।

यह वृत्ति से वेश्या थी परंतु अंत में दीक्षांत होकर शिव के शरण में जीवन यापन किया।

वचन धर्म सार समाज में वैराग्य और सीधा–सादा जीवन मूल्यों पर कहा गया है। सब नागरिकों का धर्म के आधार पर लक्ष्य एक और साधना मार्ग एक ही होता है।

जिस मत का भी आधार लिया है उसी में श्रद्धा रखकर भक्ति के मार्ग में जीवन सुंदर और सफल बनाने का मार्ग बताया गया है।

समाज की भद्रता के लिए व्यक्ति समाज, देश की सुरक्षा के लिए वज्र कवच की तरह वचनकारों ने अपने वचनों के माध्यम से समाज को जागरूक बनाने का प्रयत्न किया है।

वचनों के काव्य लक्षण त्रिपदी ,चौपदी उभा भोग, गधविधि रस भाव अलंकार उदारित होने के कारण यह उत्तम साहित्य माना जा सकता है।

सभी वचनकार हैं तो वचन कन्नड साहित्य का उपनिषद। इनका उद्देश्य, उपदेश सारा साहित्य ही दर्शन, दर्शन ही साहित्य और सत्य ही सौंदर्य ,सौंदर्य ही सत्य।

(जेडर दसिमैया वचन साहित्य शीला के लिए मूल आधार है तो गोपुर के पाँच कलश चैन्नन बसबन्ना, अक्का महादेवी, सुले संकव्वा, अल्लम प्रभु और सिद्धराम। सभी वचनकारों पर वैदिक मत का संपूर्ण प्रभाव रहा। उन्होंने वेद आगम शास्त्र का सहारा लिया था।)

वचनकार के विचारवाद –वचनकारों का विचारवाद दीक्षा परंपरा, गुरु से दीक्षित होना।

वचन धर्म और स्त्री –पुरुषों की तरह समान गौरव दिया गया।

सती लकम्मा – पति चावल गोदाम में काम करता था एक दिन मौका मिलते ही गोदाम से ज्यादा तांदुल घर लाता है तो सती लकम्मा कहती है – हर बार की तरह उतना ही काफी है जो अधिक लाए हो वह जाकर डाल दो मर्यादा के प्रिय अमरेश्वर लिंग जो दिया है उतना ही काफी है–

महिला शिवशरणों में मुमतयक बहुत हिम्मत वाली साधिका रही है।

वह आत्म साधना पर विश्वास रखकर जीती है। यह केवल विचारवादी और ज्ञान मार्ग को अपनाती हैं।

समरस संसार स्वर्ग
नीरस संसार नरक
जीवन में पति–पत्नी अन्योन्य है
तो उनकी भक्ति शिव भक्ति है।

परम पिता से प्रार्थना करते हैं कि इधर–उधर मन ना जाए इसलिए हे पिता पंगु बना दो, घूम फिर कर गलत ना देखे मुझे अंधा बना दो, पिता तुम्हारे नाम के अलावा कुछ और ना सुनाई दे मुझे बहरा बना दो, तुम्हारी शरण में हमेशा पड़ा रहूँ अन्य विषयो में ना मन जाए, कुडल संगम देवा यह प्रार्थना करते हैं कहते हैं –मेरा ईश्वर नादप्रिय नहीं है वेदप्रिय नहीं है, भक्ति प्रिय है–

"श्रादप्रियनल्ला, वेदप्रियनल्ला, भक्तिप्रिय
नम्म कूडल संगम देवा श्"

कहते हैं–

"श्सासवेपष्टु सुखक्के सागरदष्टु दुख नोडा तन्नन्निक्कि निधानव साधितिहनेंदेडे भिन्नाण तपिप्तु गुहेश्वरा श्"

अल्लमप्रभु कहते हैं–

"What does it profit a man if he gain the whole world and lose his soul " छोटी सी खुशी के लिए बहुत बड़ा दुख झेलना पड़ता है इस संसार में संसार को छोड़ने के लिए

भगवान से प्रार्थना क्यों न करें ?

हमारे ही हाथों बनाए संसार को हम ही छोड़ क्यों नहीं देते। पर भगवान ने ऐसा नहीं किया वह बहुत चालाक है उसने क्या किया तुम्हें याद करने के मन को संपत्ति बताकर देखने की आँखों को स्त्री दिखाकर, पूजा करने के हाथों में मिट्टी थमाकर इस प्रकार त्रिविद्याओ को तीन अलग रास्ते बताकर तुम इन सब से अलग हो गए।

मन को स्वाधीन करना तीव्र साधना के पश्चात् ही मुमकिन है।

– एल. एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, रमय्या कॉलेज ऑफ आर्ट्स साइंस एंड कॉमर्स, बेंगलुरू–54

❑❑❑

भारतीय भाषाएँ और वैदिक व्याकरण

डॉ. रेखा

भाषा शब्द संस्कृत के 'भाष्' धातु से बना है। जिसका अर्थ है, बोलना या कहना। स्वीट महोदय के अनुसार, "ध्वन्यात्मक शब्दों द्वारा विचारों को प्रकट करना ही भाषा है।"

ब्लॉक और ट्रैगर, "यादृच्छिक भाषा प्रतीकों का तंत्र है जिसके द्वारा एक सामाजिक समूह सहयोग करता है।" व्यक्ति और समाज के बीच व्यवहार में आने वाली इस परंपरा से अर्जित संपत्ति के अनेक रूप हैं। समाज सापेक्षता भाषा के लिए अनिवार्य है, ठीक वैसे ही जैसे व्यक्ति सापेक्षता।

इसकी प्रतीकात्मक गतिविधि के चार प्रमुख संयोजक हैं- एक वह व्यक्ति जो संबोधित करता है, दूसरा वह जिसे संबोधित किया जाता है, तीसरी संकेत वस्तु और चौथी प्रतीकात्मक संवाहक जो संकेत वस्तु की और प्रतिनिधि भंगिमा के साथ संकेत करता है।

भाषा का अर्थ-1. भाषा वह साधन है जिसके द्वारा हम अपने विचारों को व्यक्त कर सकते हैं और इसके लिए हम वाचिक ध्वनियों का प्रयोग करते हैं।

2. भाषा मुख से उच्चारित होने वाले शब्दों से वाक्य आदि का वह समूह जिसके द्वारा मन की बात बताई जाती है।

3. किसी भाषा की सभी ध्वनियों के प्रतिनिधि स्वन एक व्यवस्था में मिलकर एक संपूर्ण भाषा की अवधारणा बनाते हैं। अर्थात् व्यक्तनाद कि वह समष्टि जिसकी सहायता से किसी एक समाज या देश के लोग अपने मनोगत भाव तथा विचार एक दूसरे से प्रकट करते हैं।

4. मुख से उच्चारित होने वाले शब्दों और वाक्यों आदि का वह समूह जिसके द्वारा मन की बात बताई जाती है सामान्यतः भाषा को वैचारिक आदान-प्रदान का माध्यम कहा जा सकता है। भाषा अभ्यंतर अभिव्यक्ति का सर्वाधिक विश्वसनीय माध्यम है। यही नहीं हमारे आभ्यंतर के निर्माण, विकास, हमारी अस्मिता, सामाजिक, सांस्कृतिक पहचान का भी साधन है। भाषा के बिना मनुष्य सर्वथा अपूर्ण है और अपने इतिहास और परंपरा से विभिन्न है। इस समय सारे संसार में हजारों प्रकार की भाषाएँ बोली जाती हैं। विकास की प्रक्रिया में भाषा का दायरा भी बढ़ जाता है। यही नहीं एक समाज में एक जैसी भाषा बोलने वाले व्यक्तियों का बोलने का ढंग, उनके उच्चारण प्रक्रिया, शब्द भंडार, वाक्य विन्यास आदि अलग-अलग हो जाने से उनकी भाषा में पर्याप्त अंतर आ जाता है। इसी को शैली कह सकते हैं। जिस प्रकार भाषाएँ अलग-अलग हैं, उसी प्रकार इनकी लिपियाँ भी अलग-अलग हैं। प्रायः भाषा को लिखित रूप में व्यक्त करने के लिए लिपि की आवश्यकता पड़ती है। भाषा व लिपि भाव व्यक्तिकरण के अभिन्न पहलू हैं। एक भाषा कई लिपियों में लिखी जा सकती है और दो या अधिक भाषाओं की एक ही लिपि हो सकती है। जैसे पंजाबी- गुरुमुखी और शाहमुखी दोनों में लिखी जा सकती है। जबकि मराठी, हिंदी, संस्कृत, नेपाली आदि। सभी देवनागरी लिपि में लिखी जा सकती हैं। भारत की संस्कृति विश्व की विशिष्ट संस्कृतियों में से एक है। भारतवर्ष तो है ही विविधताओं में एकता का देश। उसी प्रकार विविधताओं में भाषा में भी विभिन्नता पाई जाती

है। लेकिन सरकारी कामकाज के लिए व्यवहार में लाए जाने वाली दो भाषाएँ - हिंदी और अंग्रेजी हैं। भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची के अंतर्गत 22 भाषाओं को मान्यता दी गई है। भारत में विभिन्न भाषा परिवार हैं, जिनमें हिंद आर्य भाषाएँ, संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश, हिंदी, उर्दू, पंजाबी, सिंधी, कश्मीरी, मैथिली, भोजपुरी, नेपाली, मराठी, डोगरी, राजस्थानी, कुरमाली, नागपुरी, गुजराती, बांग्लाओ, ओड़िया, असमी, खोरठा, आदि। दक्षिण भारत में तमिल, तेलुगु, मलयालम, कंनड आदि भाषाएँ आती हैं। सभी भाषाओं में प्रमुख भाषा है - हिंदी। यह भारत की राजभाषा है, यह हिंदुस्तानी भाषा का एक मानकीकृत रूप है। यह भाषा भारत में सबसे अधिक बोली व समझी जाती है। चीनी भाषा के बाद विश्व में सबसे अधिक बोली जाने वाली भाषा हिंदी ही है। विश्व आर्थिक मंच की गणना के अनुसार यह विश्व की 10 शक्तिशाली भाषाओं में से एक है। हिंदी और इसकी बोलियाँ संपूर्ण भारत के विभिन्न राज्यों में बोली जाती हैं। भारत और अन्य देशों में भी लोग हिंदी बोलते, पढ़ते और लिखते हैं। इनमें फिजी, मारीशस, गयाना, सूरीनाम, नेपाल और संयुक्त अरब अमीरात की जनता भी हिंदी बोलती है। फरवरी 2019 में अबूधाबी में हिंदी को न्यायालय की तीसरी भाषा के रूप में मान्यता मिली है। जो कि हमारे देश के लिए गौरव की बात है। भाषा की पहचान केवल यह नहीं है कि उसमें कविताओं और कहानियों का सृजन कितनी सफलता के साथ हुआ है बल्कि भाषा की व्यापकता संप्रेषणियत्ता का एक अनिवार्य प्रतिफल यह भी है। इसमें सामाजिक संदर्भो और नए प्रयोजनों को साकार करने की कितनी संभावना है।

भाषा के विभिन्न रूप पाए जाते हैं -

बोली - बोली हम सभी लोगों की बोलचाल की भाषा का वह मिश्रित रूप है। जिसकी भाषा में पारस्परिक भेद को अनुभव नहीं किया जाता है। विश्व में जब किसी जनसमूह का महत्व किसी भी कारण बढ़ जाता है तो उसकी बोलचाल की बोली भाषा कहीं जाने लगती है। अन्यथा वह मूल ही रहती है। स्पष्ट है कि भाषा की अपेक्षा बोली का क्षेत्र उसके बोलने वालों की संख्या और उसका महत्व कम होता है। जब कई बोलियों में पारस्परिक संपर्क होता है तो बोलचाल की भाषा का प्रसार होता है। आपस में मिलती-जुलती बोली या भाषाओं में हुई आपसी व्यवहार से बोलचाल की भाषा को विस्तार मिलता है। इसे सामान्य भाषा नाम से जाना जाता है।

मानक भाषा - भाषा के स्थिर और सुनिश्चित रूप को मानक या परिनिष्ठित भाषा कहते हैं। भाषा विज्ञान कोश के अनुसार, "किसी भाषा को परिनिष्ठित भाषा कहते हैं, जब वह अपनी साहित्यिक एवं सांस्कृतिक एकता स्थापित कर लेती है तथा भाषाओं को बोलने वाले भी उसे सर्वाधिक उपयुक्त समझने लगते हैं। मानक भाषा शिक्षित वर्ग की शिक्षा पत्राचार एवं व्यवहार की भाषा होती है। इसके व्याकरण तथा उच्चारण की प्रक्रिया लगभग निश्चित होती है। मानक भाषा को 'श्टकसाली भाषा' भी कहते हैं। इसी भाषा में ही पाठ्य पुस्तकों का प्रकाशन होता है। हिंदी, अंग्रेजी, फ्रेंच, संस्कृत मानक भाषाएँ हैं। किसी भाषा के मानक रूप का अर्थ है, उस भाषा का वह रूप जो उच्चारण, रूप रचना, वाक्य रचना, शब्द रचना, अर्थ, मुहावरे, लोकोक्तियाँ प्रयोग तथा लेखन आदि की दृष्टि से उस भाषा के सभी नहीं तो अधिकांश शिक्षित लोगों द्वारा शुद्ध माना जाता है। भारत अनेकता में एकता की खोज है अर्थात् भाषा का मानक रूप ही प्रतिष्ठित रूप माना जाता है।"

संपर्क भाषा - अनेक भाषाओं के अस्तित्व के बावजूद जिस विशिष्ट भाषा के माध्यम से व्यक्ति-व्यक्ति, राज्य-राज्य तथा देश-विदेश के बीच संपर्क स्थापित किया जाता है। उसे 'संपर्क भाषा' कहते हैं। आज भारत में संपर्क भाषा के तौर पर हिंदी प्रतिष्ठित होती जा रही है। जबकि अंतरराष्ट्रीय स्तर पर अंग्रेजी संपर्क भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो गई है। संपर्क भाषा के रूप में जिस भी किसी भाषा को देश की राष्ट्रभाषा या राजभाषा के पद पर आसीन किया जाता है, तब उस भाषा से कुछ अपेक्षाएँ भी रखी जाती हैं। यह तो जरूरी नहीं कि मातृभाषा के रूप में इसके बोलने वालों की संख्या अधिक हो पर द्वितीय भाषा के रूप में बोलने वाले बहुसंख्यक होते हैं।

राजभाषा - जिस भाषा में सरकार के कार्यों का निष्पादन होता है, उसे 'राजभाषा' कहते हैं। कुछ लोग राष्ट्रभाषा और राजभाषा में अंतर नहीं करते और दोनों को समान भी मानते हैं लेकिन दोनों के अर्थ भिन्न-भिन्न

है। राष्ट्रभाषा सारे देश के लोगों की संपर्क भाषा होती है जबकि राजभाषा केवल सरकार के कामकाज की भाषा है। भारत के संविधान के अनुसार हिंदी संघ सरकार की राजभाषा है। राज्य सरकार की अपनी-अपनी राज्य भाषाएँ हैं। राजभाषा जनता और सरकार के बीच एक सेतु का कार्य करती है। इसे भी स्वतंत्र राष्ट्र की उसकी अपनी स्थानीय राजभाषा उसके लिए राष्ट्रीय गौरव और स्वाभिमान का प्रतीक होती है। विश्व के अधिकांश देशों की अपनी स्थानीय भाषा राजभाषा है। आज हिंदी हमारी राजभाषा है।

राष्ट्रभाषा - देश के विभिन्न भाषा भाषियों में पारस्परिक विचार विनिमय की भाषा को 'राष्ट्रभाषा' कहते हैं। राष्ट्रभाषा को देश के अधिकतर नागरिक समझते हैं, पढ़ते हैं, बोलते हैं। किसी भी देश की राष्ट्रभाषा उस देश के नागरिकों के लिए गौरव, एकता, अखंडता और अस्मिता का प्रतीक होती है। महात्मा गांधी ने, राष्ट्रभाषा को 'राष्ट्र की आत्मा की संज्ञा दी है। एक भाषा कई देशों की राष्ट्रभाषा भी हो सकती है। संविधान में हिंदी को राष्ट्रभाषा का दर्जा तो नहीं दिया गया लेकिन इसकी व्यापकता को देखते हुए राष्ट्रभाषा का दर्जा दिया जाना चाहिए। भाषा की बात करें तो हिंदी हमारी मूलतः प्रमुख भाषाओं में से है। इसमें विकास क्रम पर कार्य करते हुए देखा जाए तो हिंदी की आदि जननी संस्कृत है। वही हमारे वैदिक व्याकरण का आधार है। क्योंकि हिंदी की जितनी भी व्याकरण समृद्ध हुई है उसके पीछे वैदिक व्याकरण का ही सहयोग रहा है। संस्कृत का सबसे प्राचीन वेद कालीन व्याकरण ही वैदिक व्याकरण कहलाता है। यह पाणिनी व्याकरण से कुछ भिन्न था। संस्कृत में लिखित वृहत साहित्य के मुख्यतः दो खंड हैं- वैदिक साहित्य और लौकिक साहित्य।

वैदिक साहित्य के मुख्यतः 5 विभाग हैं-

1. सहिताएँ जिसमें शब्दों का संग्रह निहित है।

2. ब्राह्मण ग्रंथ, 3. आरण्यक, 4. उपनिष्द

5. कल्पसूत्र, कल्पसूत्र तीन प्रकार के हैं -

क.) श्रौतसूत्र जो यज्ञ से संबंधित है।

ख.) गृहसूत्र जिनका गृह के विधानों से संबंध है।

ग.) धर्मसूत्र जो सामाजिक नियमों एवं व्यवहारों से संबंधित है।

यह तीन प्रकार के सूत्र कल्पसूत्र के अंतर्गत लिए जाते हैं। इसके अतिरिक्त सूत्र जो यज्ञ वेदी संबंधी रेखाणित रूपों का नियोजन करते हैं और इस कारण कभी-कभी कल्पसूत्रों के ही भीतर गिने जाते हैं। कल्पसूत्र के अतिरिक्त कुछ और भी ग्रंथ हैं जिनका संबंध ध्वनि, विज्ञान, व्याकरण, छंद और नक्षत्र विद्या से है। यह ग्रंथ वेदंगों से परिगणित होते हैं। यह ग्रंथ भी सूत्र शैली में ही मिलते हैं। सूत्र का शाब्दिक अर्थ है- धागा या रस्सी। जिस प्रकार धागा वस्तुओं को आपस में जोड़कर एक विशिष्ट रूप प्रदान करता है। उसी प्रकार सूत्र भी विचारों को सम्यक रूप से जोड़ते हैं। जैसे पतंजलि का योगसूत्र और पाणिनि का अष्टाध्यायी आदि। इसमें पारिभाषिक, तकनीकी शब्दों का विस्तार किया जाता है। ताकि गूढ़ से गूढ़ बात भी संक्षेप में स्पष्टता से कहीं जा सके। प्राचीन समय में अधिकांश ग्रंथ कंठस्थ किए जाने के ध्येय से रचे जाते थे। अतः उनका संक्षिप्त होना उपयोगी था। संक्षेप में उनका अर्थ समझना कठिन ना हो इसलिए समाधान के रूप में अनेक सूत्रों के भाषा की परंपरा भी प्रारंभ हुई। भाषा ही सूत्रों की व्याख्या करती थी।

लौकिक संस्कृत - साहित्य का वैदिक साहित्य से अनेक प्रकार का भेद पाया जाता है। वैदिक साहित्य शुद्धतः धार्मिक है तथा इसमें सभी अलौकिक तत्वों का बीज समाहित है। लौकिक संस्कृत साहित्य प्रधान रूप से धार्मिक, धर्मनिरपेक्ष अथवा धर्म में इसे लोक परलोक से संबंधित कहा जा सकता है। इस साहित्य में महाकाव्य रामायण, महाभारत, पुराण एवं अन्य काव्य जिनमें गद्य काव्य सम्मिलित है। नाटक, अलंकार शास्त्र, दर्शन, सूत्र विधि अथवा नियमकला, वास्तुशास्त्र, औषधि, आयुर्वेद, गणित, मशीन तथा उद्योग संबंधी तथा अनेक ग्रंथों और विभिन्न विधाओं की शाखाएँ प्राप्त होती हैं। लौकिक साहित्य की भाषा तथा वैदिक साहित्य की भाषा में भी अंतर पाया जाता है। दोनों के शब्द रूप तथा धातु रूप अनेक प्रकार से भिन्न है। वैदिक संस्कृत के रूप केवल भिन्न ही नहीं हैं अपितु अनेक भी हैं।

वैदिक व लौकिक साहित्य में कुछ विशेषताएँ हैं-

क.- शब्द रूप की दृष्टि से लौकिक संस्कृत में केवल ऐसे रूप बनते हैं जैसे देवः प्रथम विभक्ति बहुवचन जबकि वैदिक संस्कृत में इनमें रूप देवास है।

प्रथम तथा द्वितीय विभक्ति बहुवचन में विश्वानी रूप वैदिक साहित्य में विश्वा भी बन जाता है।

ख. – वैदिक तथा लौकिक संस्कृत में क्रिया रूप और धातु रूप में भी विशेष अंतर है। वैदिक संस्कृत इस विषय में कुछ अधिक समृद्ध है तथा उसमें कुछ अन्य रूपों की उपलब्धि होती है। जबकि लौकिक संस्कृत में क्रिया पदों की अवस्था बतलाने वाले ऐसे दो ही लकार हैं लोट् और विधिलिं जोकि लट् प्रकृति अर्थात् वर्तमान काल की धातु से बनते हैं। उदाहरण पठ् से पठतु और पठेत् यह दोनों बनते हैं। वैदिक संस्कृत में क्रिया पदों की अवस्था को द्योतित करने वाले दो अन्य लकार है– लेट लकार एवं निषेधात्मक लुंलकार। इन चारों अवस्थाओं के द्योतक लकार वैदिक संस्कृत में केवल लट प्रकृति से ही नहीं बनते किंतु लिटप्रकृति और लुं प्रकृति से भी बनते हैं। इस प्रकार वैदिक संस्कृत में धातु रूप अत्यधिक मात्रा में है। इसके अतिरिक्त लिं प्रत्यय संबंधी भेद वैदिक संस्कृत में पाए जाते हैं।

ग. – लौकिक संस्कृत आगे चलकर अधिकाधिक कृत्रिम अथवा सुबद्ध होती गई है और इसके उदाहरण हमें सुबंधु और बाणभट्ट के गद्यकाव्य में प्रयुक्त भयावह समासो में मिलते हैं।

घ. – कुछ वैदिक शब्द लौकिक संस्कृत में अप्राप्य हैं और कुछ नए शब्दों का उद्भव भी हो गया है। उदाहरणत: वैदिक शब्द 'अपस्न' का कार्य के अर्थ में प्रयोग लौकिक संस्कृत में लुप्त हो गया है। लौकिक संस्कृत में प्रयुक्त: 'परिवार' शब्द वैदिक संस्कृत में अनुपलब्ध है। यह वैदिक और लौकिक संस्कृत की अपनी विशेषता है।

भाषा परिवर्तन के अतिरिक्त दोनों साहित्य में कुछ और भिन्नताएँ प्राप्त हुई है–

1. वैदिक साहित्य प्रधानता है धार्मिक है जबकि लौकिक संस्कृत अपने वर्ण्य विषय की दृष्टि से धर्म के साथ–साथ लौकिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से संबंध है।

2. दोनों की आत्मा यद्यपि अभिन्न है तथापि अभिन्नता में भी भिन्नता के दर्शन होते हैं। वैदिक वांग्मय मुख्यत: जैसा कि ऋग्वेद तथा अथर्ववेद से हमें प्राप्त होता है, आशावादी है जबकि लौकिक संस्कृत साहित्य निराशावादी है, इसकी झलक बौद्ध के सर्व दुख में भी है।

3. वैदिक धर्म भी प्रवृत्ति काल में अव्यक्त रूप से विशिष्ट परिवर्तित हुआ दिखाई देता है। यहाँ तक कि वैदिक युग के प्रधान देवता जैसे इंद्र, अग्नि, वरुण को लौकिक संस्कृत में अपेक्षाकृत विशिष्टता प्राप्त नहीं हुई तो ब्रह्मा, विष्णु और शिव इन तीनों को वेदों में केवल गौण स्थान ही प्राप्त था, परवर्ती काल में इन्हें एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया। इस काल में कुछ नए देवी–देवताओं गणेश, कुबेर, लक्ष्मी और दुर्गा इत्यादि का वैदिक मूल से विकास हुआ।

4. परवर्ती कवियों मे अत्युक्ति का आश्रय ग्रहण करने की ओर अधिक झुकाव है, जैसे श्रीहर्ष, माघ आदि में जबकि पूर्ववर्ती कवियों जैसे कालिदास, भास, अश्वघोष में अत्युक्ति का अभाव है। वैदिक में भी अत्युक्ति का अभाव है।

5. वैदिक युग में भी छंदबद्ध पदों का अधिक्य मिलता है। लौकिक संस्कृत काल में छंदबद्ध रचना रूपों की ओर इतना झुकाव है कि वेदग्रंथ, चरक संहिता और सुश्रुत संहिता भी पद्य में लिखे गए हैं। आश्चर्य की बात तो यह है कि कोषों की रचनाएँ भी छंदों में ही हुई है।

ध्वनिशास्त्र ऋग्वेद वैदिक भाषा में जो उपमधमानिय कहलाता था। वैदिक में सुर का बड़ा महत्व था जो कभी भी शब्द का अर्थ बदल देता था और पाणिनी से पहले तक सुरक्षित था। आजकल, सुरभेद केवल पारंपरिक वैदिक में पाया जाता है, बजाय इसके संस्कृत एक राग भेदी भाषा है। प्लुत् स्वर या त्रैमासिक स्वर वैदिक में ध्वन्यात्मक थे पर संस्कृत में लुप्त हो गए। वैदिक में प्राय संधि के दौरान दो स्वर बिना विकार के उच्चरित होते हैं।

जिस प्रकार वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत में अंतर था, उसी प्रकार हिंदी का सफर भी लंबा रहा। हिंदी हमारी संस्कृत से ही निकली थी। जिस प्रकार पहले भी जिक्र हुआ है कि हिंदी की आदि जननी संस्कृत थी तो संस्कृत से परिवर्तित होते हुए– संस्कृत–पाली– प्राकृत– अपभ्रंश और अपभ्रंश से हिंदी का विकास हुआ। उसमें भी हिंदी शौरसेनी अपभ्रंश के अंतर्गत आती है। अपभ्रंश में केवल आठ स्वर थे आदिकालीन हिंदी में दो नए स्वर 'ऐ' और 'औ' और विकसित हो गए। जो संयुक्त स्वर थे तथा इनका उच्चारण क्रमश: अ: और अं था। अपभ्रंश में स्पर्श

व्यंजन थे किंतु हिंदी में स्पर्श संघर्षी हो गए। न, ल, स द अपभ्रंश में दंत ध्वनियाँ थी। जबकि हिंदी में यह वर्तय ध्वनियाँ हो गई। अपभ्रंश में प्रयुक्त तद्भव शब्दों को हिंदी ने ग्रहण कर लिया। अपभ्रंश की ध्वनियाँ भी हिंदी में प्रचलित हुई और कुछ नई ध्वनियों का विकास भी हिंदी में अतिरिक्त रूप से हुआ जैसे ड और ढ़ है। भाषा की प्रवृत्ति कठिनता से सरलता की ओर रहती है। संस्कृत में तीन वचन तीन लिंग थे, जबकि हिंदी में दो वचन और दो लिंग ही रह गए। संस्कृत में जहाँ 24 रूप बनते थे वहाँ हिंदी में केवल दो रूप रह गए मूल रूप और विकारी रूप। अपभ्रंश काल की साहित्यिक भाषा थी और गुजरात से लेकर बंगाल और शूरसेन प्रदेश से लेकर बरार तक इसका एक छत्र साम्राज्य था। हिंदी ने अपनी सारी प्रवृत्तियों को अपनाया संस्कृत और पाली, प्राकृत जहाँ सहयोगात्मक भाषाएँ थीं, वही अपभ्रंश भाषा वियोगात्मक थी। संज्ञा सर्वनाम के कारक रूपों के लिए अपभ्रंश में कारक चिह्न अलग से लगने लगे। यही प्रवृत्ति हिंदी ने भी ग्रहण की। इसमें भी नपुंसकलिंग हिंदी की तरह नहीं है। काव्य में प्रयुक्त भाषा को देश भाषा कहा जाने लगा था और यही हमारी पुरानी हिंदी का स्वरूप था। जो आगे चलकर प्रचलित हुआ और वर्तमान में हिंदी सर्वश्रेष्ठ संपर्क भाषा, मानक भाषा और राजभाषा के रूप में अपनी स्थिति स्पष्ट कर चुकी है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि हमारी वैदिक व्याकरण का महत्व नहीं रहा क्योंकि हमने वैदिक व्याकरण में संशोधन करके ही उसे अपनाया है और उसी रूप में अपनाया है। भले ही अपनी सुविधा के अनुसार उसमें थोड़ा बहुत परिवर्तन अवश्य किया गया हो।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि वैदिक व्याकरण हमारी भाषा का मूल रूप है और हमारी भाषा इसी से विकसित हो रही है और पुष्पित और पल्लवित भी हो रही है। जो आम जनमानस के हृदय को एक फुलवारी की तरह महका रही है।

– सेक्टर 3, मकान नं. 2340, रोहतक, हरियाणा

❑❑❑

भारतीय भाषाओं में वैदिक ज्ञान परंपरा : संस्कृत भाषा के विशेष संदर्भ में

डॉ. विदुषी शर्मा

भारतीय भाषाओं में वैदिक ज्ञान परंपरा: संस्कृत भाषा के विशेष संदर्भ में उक्त विषय अपने आप में बहुत ही महत्वपूर्ण विषय तथा भारतीय संस्कृति का न केवल प्रचारक ही है अपितु यह उसकी महिमा का गुणगान करने का सर्वश्रेष्ठ साधन भी माना जा सकता है। संस्कृत भाषा सभी भाषाओं की जननी है। यह देवों की भाषा है जिसके अंदर 'संस्कार' और 'संस्कृति' दोनों ही निहित हों, वह संस्कृत देवभाषा, कैसे अहितकर हो सकती है। आज पूरा विश्व संस्कृत की उपयोगिता, उसकी उपादेयता को स्वीकार करने लग गया है

यदि हम यह कहें कि भारतीय ज्ञान परंपरा को समझने के लिए संस्कृत भाषा का ज्ञान अवश्यंभावी है या बिना संस्कृत भाषा के वैदिक ज्ञान की बात करना ही अप्रासंगिक होगा तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है क्योंकि वैदिक ज्ञान परंपरा की आधारभूत भाषा संस्कृत ही है।

प्रस्तुत विषय बहुत ही वृहद है जिसे सीमित शब्दों में समेट पाना बहुत ही दुष्कर कार्य है। फिर भी हम अपना यथोचित प्रयास करते हैं।

भारत की धरती को ऋषि, मुनि, सिद्ध और देवताओं की भूमि के नाम से पुकारा जाता है। यह कई तरह के विलक्षण ज्ञान व चमत्कारों से अटी पड़ी है। सनातन धर्म वेदों को मानता है। प्राचीन ऋषि-मुनियों ने घोर तप, कर्म, उपासना, संयम के जरिए वेदों में छिपे इस गूढ़ ज्ञान-विज्ञान को ही जानकर हजारों साल पहले कुदरत से जुड़े कई रहस्य उजागर करने के साथ कई आविष्कार किए व युक्तियाँ बताई। ऐसे विलक्षण ज्ञान के आगे आधुनिक विज्ञान भी नतमस्तक होता है।

कई ऋषि-मुनियों ने तो वेदों की मंत्र-शक्ति को कठोर योग व तपोबल से साधकर ऐसे अद्‌भुत कारनामों को अंजाम दिया कि बड़े-बड़े राजवंश व महाबली राजाओं को भी झुकना पड़ा। हमारा वैदिक ज्ञान उन्हीं की बदौलत आज इतने ज्ञान, वैज्ञानिक और तकनीकी शक्तियों से भरपूर है कि पूरे विश्व में उसका कोई सानी नहीं है। इस संसार में जितने भी विषय, उपविषय हैं वह सभी वेदों से संबंधित हैं। यदि हम कहें कि 'वेदों में क्या है' तो उसका उत्तर होगा कि 'वेदों में क्या नहीं है'। भारतीय संस्कृति, वैदिक संस्कृति हमारे चार वेदों पर आधारित है। वेदों में समस्त ज्ञान-विज्ञान मूलरूप से विद्‌यमान है। जिसे समझने और समझाने के लिए, उसका मानव हितार्थ उपयोग करने के लिए अनेकों ऋषियों-महर्षियों और विद्‌वानों देवों ने अपना-अपना योगदान दिया है। वेदों पर अनुसंधान और मनुष्यों में उसके विज्ञान का प्रसार-प्रचार का कार्य महर्षि ब्रह्‌मा से लेकर महर्षि दयानंद तक चला है। इन सभी ने समय-समय पर ने वेदों के लिए अपने व्याख्यान दिए हैं जिससे कि वेदों का रहस्य सभी मानव जाति के लिए बोधगम्य हो। इनमें वेदों के व्याख्यान ग्रंथ ब्राह्‌म ग्रंथ वेदों के साक्षात् व्याख्यान ग्रंथ होने के कारण वेदों के सर्वाधिक निकट और वेदों की विद्‌या के प्रकाशक हैं। इन ग्रंथों के अध्ययन के बिना वर्तमान में वेद विद्‌या को समझना असाध्य कार्य है।

वेद शब्द संस्कृत भाषा के 'विद्' धातु से बना है। इस तरह वेद का शाब्दिक अर्थ 'ज्ञान' है। इसी धातु से 'विदित' (जाना हुआ), 'विद्या' (ज्ञान), 'विद्वान' (ज्ञानी) जैसे शब्द आए हैं।

आज 'चतुर्वेद' के रूप में ज्ञात इन ग्रंथों का विवरण इस प्रकार है –

ऋग्वेद – सबसे प्राचीन तथा प्रथम वेद जिसमें मंत्रों की संख्या 10555 है। इसका मूल विषय ज्ञान है। इसमें विभिन्न देवताओं का वर्णन है तथा ईश्वर की स्तुति आदि सम्मिलित है।

सामवेद – इस वेद का प्रमुख विषय उपासना है। संगीत में गाने के लिए इसमें 1975 संगीतमय मंत्र उपस्थित है।

यजुर्वेद – इसमें कार्य (क्रिया) व यज्ञ (समर्पण) की प्रकिया के लिए 3750 गद्यात्मक मंत्र हैं।

अथर्ववेद – इसमें गुण धर्म, आरोग्य एवं यज्ञ के लिए 7260 कवितामयी मंत्र हैं।

वेदों को अपौरुषेय (जिसे कोई व्यक्ति न कर सकता हो, यानि ईश्वर कृत) माना जाता है। यह ज्ञान विराटपुरुष से व कारणब्रह्म से श्रुति परंपरा के माध्यम से सृष्टिकर्ता ब्रह्माजी ने प्राप्त किया हुआ माना जाता है। इन्हें श्रुति भी कहते हैं जिसका अर्थ है 'सुना हुआ ज्ञान'। अन्य आर्य ग्रंथों को स्मृति कहते हैं, यानि वेदज्ञ मनुष्यों की वेदानुगत बुद्धि या स्मृति पर आधारित ग्रंथ। वेद के समग्र भाग को मंत्र संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद के रूप में भी जाना जाता है। इनमें प्रयुक्त भाषा वैदिक संस्कृत कहलाती है जो लौकिक संस्कृत से कुछ अलग है। ऐतिहासिक रूप से प्राचीन भारत और हिंद–आर्य जाति के बारे में वेदों को एक अच्छा संदर्भ स्रोत माना जाता है। संस्कृत भाषा के प्राचीन रूप को लेकर भी इनका साहित्यिक महत्व बना हुआ है।

वेदों को समझना प्राचीन काल में भारतीय और बाद में विश्वभर में एक वार्ता का विषय रहा है। इसको पढ़ाने के लिए छह उपांगों की व्यवस्था थी। शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण, छंद और ज्योतिष के अध्ययन के बाद ही प्राचीन काल में वेदाध्ययन पूर्ण माना जाता था। प्राचीन काल के ब्रह्मा, वशिष्ठ, शक्ति, पराशर, वेदव्यास, जैमिनी, याज्ञवल्क्य, कात्यायन इत्यादि ऋषियों को वेदों के अच्छे ज्ञाता माना जाता था।

इन चारों वेदों में इस संसार के सभी विषय समाहित है कोई भी ऐसा विषय नहीं है जो इन वेदों में उपलब्ध ना हो। समय बीतने के साथ–साथ हमारे ऋषि–मुनियों ने विभिन्न प्रकार की शक्तियों के द्वारा सभी विषयों पर अपने ज्ञान, चैतन्य शक्ति, वैदुष्य, समर्पण, तपोबल तथा अपनी विलक्षण मेधा का प्रयोग करके संसार को अपने ज्ञान की एक दिशा प्रदान की। यही ज्ञान वैदिक ज्ञान कहलाता है। इन ऋषि–मुनियों द्वारा लगभग प्रत्येक विषय पर जो भी ज्ञान अनुभव विभिन्न विषयों पर जैसे तकनीकी शास्त्र, चिकित्सा शास्त्र, योग शास्त्र, दर्शनशास्त्र, राजनीती शास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, विज्ञान, भूगर्भ विज्ञान, भौतिकी, रसायन विज्ञान, गणित, ज्योतिष विज्ञान, खगोल विज्ञान, किम बहुना सभी विषयों पर अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय देते हुए उन्होंने नियम, उपनियम व सिद्धांतों का प्रतिपादन किया जिन का अध्ययन विदेशी विद्वानों द्वारा अधिक गहनता से किया गया तथा उन्होंने इस ज्ञान को दुनिया तक अपने नाम से पहुँचाया जबकि सत्य यह है कि उनसे हजारों वर्ष पहले हमारे पास सभी प्रकार के ज्ञान–विज्ञान के साधन उपलब्ध थे जिनका प्रमाण हमारे शास्त्रों में मिलता है।

दुनिया में जितनी भी खोजे हैं वो हमारे ऋषि–मुनियों ने ध्यान की गहराई में जाकर खोजी हैं जिनकी आज के वैज्ञानिक कल्पना भी नहीं कर सकते हैं।

"नमन्ति फलिनो वृक्षाः नमन्ति गुणिनो जनाः।
शुष्काष्ठश्च मूर्खश्च न नमन्ति कदाचन"।।

(सुभाषितानि)

"जिस प्रकार से फलों से लदी हुई वृक्ष की डाल झुक जाती है उसी प्रकार से गुणीजन सदैव विनम्र होते हैं किंतु मूर्ख उस सूखी लकड़ी के समान होता है जो कभी नहीं झुकता"।

"नास्ति विद्यासमं चक्षुः नास्ति सत्यसमं तपः।
नास्ति रागसमं दुःख नास्ति त्यागसमं सुखम्"।।

(सुभाषितरत्नभंडागारम पृष्ठ 167, श्लोक 624)

"विद्या के समान कोई चक्षु (आँख) नहीं है, सत्य के समान कोई तप नहीं है, राग (वासना, कामना) के समान कोई दुख नहीं है और त्याग के समान कोई सुख नहीं है"।

"हर्तुर्याति न गोचरं किमपि शं पुष्णाति यत्सर्वदा
हयर्थिभ्यः प्रतिपाद्यमानमनिशं प्राप्नोति वृद्धि पराम्।
कल्पान्तेष्वपि न प्रयाति निधनं विद्याख्यमन्तर्धन
येषां तान्प्रति मानमुज्झत नृपाः कस्तैः सह स्पर्धते"।।
(भतृभहरि, नीतिशतकम, 16.)

"ज्ञान अद्भुत धन है, ये आपको एक ऐसी अद्भुत खुशी देती है, जो कभी समाप्त नहीं होती। जब कोई आपसे ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा लेकर आता है और आप उसकी मदद करते हैं, तो आपका ज्ञान कई गुना बढ़ जाता है। शत्रु और आपको लूटने वाले भी से छीन नहीं पाएँगे यहाँ तक कि ये इस दुनिया के समाप्त हो जाने पर भी खत्म नहीं होगा"।

वैदिक ज्ञान परंपरा और संस्कृत के घनिष्ठ संबंध को प्रमाण सहित प्रस्तुत करने के लिए हम निम्न कुछ उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं जो इस बात का साक्ष्य हैं कि संस्कृत भाषा और वैदिक ज्ञान परंपरा अपने आप में सार्वकालिक 'TIMELESS', कितने महत्वपूर्ण, कितने महान हैं।

भास्कराचार्य

भास्कराचार्य या भाष्कर द्वितीय (1114-1185) प्राचीन भारत के एक प्रसिद्ध गणितज्ञ एवं ज्योतिषी थे। इनके द्वारा रचित मुख्य ग्रंथ 'सिद्धांत शिरोमणि' है।

इस ग्रंथ के चार भाग हैं-

1. लीलावती। 2. बीजगणित।
3 ग्रहगणित। 4. गोलाध्याय।

ये चार भाग क्रमशः अंकगणित, बीजगणित, ग्रहों की गति से संबंधित गणित तथा गोले से संबंधित हैं। आधुनिक युग में धरती की गुरुत्वाकषर्ण शक्ति (पदार्थों को अपनी ओर खींचने की शक्ति) की खोज का श्रेय न्यूटन को दिया जाता है। हमारे सभी पाठ्यक्रमो में भी यही पढ़ाया जा रहा है। किंतु बहुत कम लोग जानते हैं कि गुरुत्वाकषर्ण का रहस्य न्यूटन से भी कई सदियों पहले भास्कराचार्य जी ने उजागर किया गया था ।

भास्कराचार्य जी ने अपने 'सिद्धांतशिरोमणि' नामक ग्रंथ में पृथ्वी के गुरुत्वाकषर्ण के बारे में लिखा है कि "पृथ्वी आकाशीय पदार्थों को विशिष्ट शक्ति से अपनी ओर खींचती है। इस वजह से आसमानी पदार्थ पृथ्वी पर गिरता है"।

न्यूटन से 500 वर्ष पूर्व भास्कराचार्य को गुरुत्वाकषर्ण का भी समुचित ज्ञान था।

इसका प्रमाण है

गोलाध्याय के भुवनकोश प्रकरण में वे लिखते हैं-

"मरुच्चलो भूरचला स्वभावतो यतो विचित्रा वत वस्तुशक्तयः",

अर्थात् पृथ्वी अचल यानि निराधार है।

वे आगे लिखते हैं -

"आकृष्टिशक्तिश्च मही तया यत् खस्थं गुरु स्वाभिमुखं स्वशक्त्या।

आकृष्यते तत्पततीव भाति समेसमन्तात् क्व पतत्वियं खे"।।

अर्थात्, पृथ्वी में आकर्षण - शक्ति है। पृथ्वी अपनी आकर्षण शक्ति से भारी पदार्थों को अपनी ओर खींचती है। आकर्षण के कारण यह गिरती-सी लगती है, मगर जब यह चारों ओर का आकाश निराधार है, तो फिर यह पृथ्वी क्यों नहीं निराधार हो सकती।

यानी उन्होंने ईश्वरीय शक्ति को सबसे अधिक महत्वपूर्ण मानते हुए यह बात कही होगी।

'लीलावती' के बारे में यह जन श्रुति है कि लीलावती भास्कराचार्य जी की विदुषी पुत्री थी। परंतु परिस्थितयों वश वह अल्पायु में ही चल बसी। इसीलिए उनकी स्मृति में ही भास्कराचार्य जी ने अपने ग्रंथ के प्रथम भाग का नाम 'लीलावती' रखा था द्वितीय भाग बीजगणित है। इसके बारे में कुछ विशेष वर्णन निम्न प्रकार से है।

बीजगणित

बीजगणित, भास्कर द्वितीय की रचना सिद्धांत शिरोमणि का द्वितीय भाग है। इसमें बीजगणित (algebra) की चर्चा है। इस ग्रंथ में भास्कराचार्य ने अनिर्धार्य द्विघात समीकरणों के हल की चक्रवाल विधि दी है। यह विधि जयदेव का भी विधि का भी परिष्कृत रूप है। जयदेव ने ब्रह्मगुप्त द्वारा दी गई अनिर्धार्य द्विघात समीकरणों के हल की विधी का सामान्यीकरण किया था। यह विश्व की पहली पुस्तक है जिसमें स्पष्ट उल्लेख है कि धनात्मक संख्याओं के दो वर्गमूल होते हैं।

उन्होंने 'करणकौतूहल' नामक एक दूसरे ग्रंथ की भी रचना की थी। ये अपने समय के सुप्रसिद्ध गणितज्ञ

थे। कथित रूप से यह उज्जैन की वेधशाला के अध्यक्ष भी थे। उन्हें मध्यकालीन भारत का सर्वश्रेष्ठ गणितज्ञ माना जाता है। भास्कराचार्य के जीवन के बारे में विस्तृत जानकारी नहीं मिलती है। कुछ-कुछ जानकारी उनके श्लोकों से मिलती हैं। निम्नलिखित श्लोक के अनुसार भास्कराचार्य का जन्म विज्जलविड नामक गाँव में हुआ था जो सहयाद्रि पहाड़ियों में स्थित है। इस श्लोक के अनुसार भास्कराचार्य शांडिल्य गोत्र के थे और सहयाद्रि क्षेत्र के विज्जलविड नामक स्थान के निवासी थे। लेकिन विद्वान इस विज्जलविड ग्राम की भौगोलिक स्थिति का प्रामाणिक निर्धारण नहीं कर पाए हैं।

फिर भी उनका एक ही ग्रंथ सिद्धांत शिरोमणि ही एक ऐसी अमूल्य धरोहर है जिससे उनका नाम युगों-युगों तक अमर हो जाएगा।

इसी के साथ एक अन्य प्राप्य साक्ष्य के बारे में हम बात करना चाहेंगे वो है-

पुणे में स्थित प्रसिद्ध गणितज्ञ आर्यभट्ट की मूर्ति। (476-550) आर्यभट्ट जो प्रसिद्ध गणितज्ञ माने जाते हैं। उनके अनुसार "गणित ऐसी विद्याओं का समूह है जो संख्याओं, मात्राओं, परिमाणों, रूपों और उनके आपसी रिश्तों, गुण, स्वभाव इत्यादि का अध्ययन करती हैं"।

गणित एक अमूर्त या निराकार (abstract) और निगमानात्मक प्रणाली है। गणित की कई शाखाएँ हैं- अंकगणित, रेखागणित, त्रिकोणमिति, सांख्यिकी, बीजगणित, कलन, इत्यादि। गणित में अभ्यस्त व्यक्ति या खोज करने वाले वैज्ञानिक को गणितज्ञ कहते हैं। बीसवीं शताब्दी के प्रख्यात ब्रिटिश गणितज्ञ और दार्शनिक बर्टेड रसेल के अनुसार "गणित को एक ऐसे विषय के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसमें हम जानते ही नहीं कि हम क्या कह रहे हैं, न ही हमें यह पता होता है कि जो हम कह रहे हैं वह सत्य भी है या नहीं।"

गणित कुछ अमूर्त धारणाओं एवं नियमों का संकलन मात्र ही नहीं है, बल्कि दैनंदिन जीवन का मूलाधार है। यदि हम अपने दैनिक जीवन की बात करें तो हम यह पाते हैं कि गणित का प्रयोग हम सभी अनादिकाल से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से करते ही चले आ रहे हैं। हमारी दिनचर्या बिना गणित के संभव ही नहीं हो सकती। या यूँ कहें कि पूरा जीवन ही एक गणितीय समीकरण के समान है जिसे हम सभी को अवश्यमेव हल करना ही पड़ता है तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी जैसे-

* जीवन 'गणित' है।
* सांसें 'घटती' हैं।
* अलग-अलग "कोष्ठकों' में
* बंद हम
* बुनते रहते हें "समीकरण"।
* लगाते रहते हैं "गुणा"- "भाग"। जबकि*
* अंतिम सत्य "शून्य है"।। केवल "शून्य"।

आर्यभट्ट ने बीजगणित के बारे में बहुत विस्तृत वर्णन किया है। बीजगणित गणित की वह शाखा है जिसमें संख्याओं के स्थान पर चिह्नों का प्रयोग किया जाता है। बीजगणित चर तथा अचर राशियों के समीकरण को हल करने तथा चर राशियों के मान निकालने पर आधारित है। बीजगणित के विकास के फलस्वरूप निर्देशांक ज्यामिति व कैलकुलस का विकास हुआ जिससे गणित की उपयोगिता बहुत बढ़ गई। इससे विज्ञान और तकनीकी के विकास को गति मिली।

महान गणितज्ञ भास्कराचार्य द्वितीय ने कहा है- मंदबुद्धि के व्यक्ति गणित (अंकगणित) की सहायता से जो प्रश्न हल नहीं कर पाते हैं, वे प्रश्न अव्यक्त गणित (बीजगणित) की सहायता से हल कर सकते हैं। दूसरे शब्दों में, बीजगणित से अंकगणित की कठिन समस्याओं का हल सरल हो जाता है। बीजगणित से साधारणतः तात्पर्य उस विज्ञान से होता है, जिसमें संख्याओं को अक्षरों द्वारा निरूपित किया जाता है। परंतु सक्रिया चिह्न वही रहते हैं, जिनका प्रयोग अंकगणित में होता है। मान ले कि हमें लिखना है कि किसी आयत का क्षेत्रफल उसकी लंबाई तथा चौड़ाई के गुणनफल के समान होता है तो हम इस तथ्य को निम्न प्रकार निरूपित करेंगे- बीजगणित के आधुनिक संकेतवाद का विकास कुछ शताब्दी पूर्व ही प्रारंभ हुआ है; परंतु समीकरणों के साधन की समस्या बहुत पुरानी है। ईसा से 2000 वर्ष पूर्व लोग अटकल लगाकर समीकरणों को हल करते थे। ईसा से 300 वर्ष पूर्व तक हमारे पूर्वज समीकरणों को शब्दों में लिखने लगे थे और ज्यामिति विधि द्वारा उनके हल ज्ञात कर लेते थे।

गणित के पश्चात् अब ज्योतिष शास्त्र की बात करते हैं। इस विषय में आचार्य लगध का 'वेदांग

ज्योतिष' एक प्राचीन ज्योतिष ग्रंथ है इसका काल 1350 ई. पू. माना जाता है। अतः यह संसार का सर्वप्राचीन ज्योतिष ग्रंथ माना जा सकता है। यह ज्योतिष का आधार ग्रंथ है।

वेदांगज्योतिष कालविज्ञापक शास्त्र है। माना जाता है कि ठीक तिथी नक्षत्र पर किए गए यज्ञादि कार्य फल देते हैं अन्यथा नहीं। कहा गया है कि-

"वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालानुपूर्वा वेद स वेद यज्ञान्"।।

तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं जो ज्योतिषं विहिताश्च यज्ञाः।

(आचर्यज्यौतिषम् 36, याजुष्ज्योतिषम् 3)

चारों वेदों के पृथक्-पृथक् ज्योतिषशास्त्र थे। उनमें से सामवेद का ज्यौतिषशास्त्र अप्राप्य है, शेष तीन वेदों के ज्यौतिषशास्त्र अप्राप्य है, शेष तीन वेदों के ज्यौतिष्शास्त्र प्राप्य हैं।

ये हैं...

1. ऋग्वेद का ज्यौतिषशास्त्र - आर्चज्योतिषम् है। इसमें 36 पद्य हैं।

2. यजुर्वेद का ज्यौतिषशास्त्र - याजुषज्योतिषम् है। इसमें 44 पद्य हैं।

3. अथर्ववेद ज्यौतिषशास्त्र - आथर्वणज्योतिषम् है। इसमें 163 पद्य हैं।

इनमें ऋक् और यजुः ज्योतिष के प्रणेता लगध नामक आचार्य हैं।

इनके बारे में और अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं हो पाई है। परंतु यह सत्य है कि इन्होंने ज्योतिष विज्ञान को एक आधार प्रदान किया तथा आने वाले ज्योतिषाचार्यों को एक दिशा, एक अभिप्रेरणा और अन्वेषण के लिए अनेकानेक विषय प्रदान किए।

ज्योतिष का मुख्य प्रयोजन संस्कार एवं यज्ञों के लिए मुहूर्त निर्धारण करना है एवं यज्ञस्थली, मंडप आदि का नाम बतलाना है। इस समय लगधाचार्य के वेदांग ज्योतिष के अतिरिक्त सामान्य ज्योतिष के अनेक ग्रंथ है। नारद, पराशर, वसिष्ठ आदि ऋषियों के ग्रंथों के अतिरिक्त वाराहमिहिर आर्यभट्ट, ब्राह्मगुप्त, भास्कराचार्य के ज्योतिष ग्रंथ प्रख्यात हैं।

इसके अतिरिक्त हम अपने ऋषि-मुनियों के बारे में यदि विस्तृत जानकारी प्राप्त करना चाहेंगे तो उसके लिए एक जीवन भी कम है। इसलिए आगे हम प्रमुख ऋषि-मुनियों तथा उनकी खोजों के बारे में संक्षिप्त वर्णन कर रहे हैं ताकि उनके बारे में हमें जानकारी प्राप्त हो सके वरना तो यह सभी नाम ऐसे हैं जिन पर एक जीवन लगाकर भी यदि अनुसंधान किया जाए तो वह भी कम है। और हम कलयुगी मानव ना तो इतने सक्षम हैं और ना ही हम में इतनी बुद्धि, बल, चातुर्य और धैर्य है। इसीलिए करबद्ध निवेदन के साथ केवल हम उन प्रमुख ऋषियों के नाम और उनकी खोजों के बारे में संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं क्योंकि 'वैदिक ज्ञान' के विषय में यदि इनका समावेशन न किया जाए तो विषय के साथ न्याय नहीं होगा, ऐसा मेरा मानना है। बाकी उपरोक्त तो हम अपने वैदिक ज्ञान के कुछ प्रमाण तो देख ही चुके हैं।

जिस प्रकार पूरे बोरे में से केवल कुछ अंश अनाज देखकर उसकी किस्म का पता लगाया जा सकता है उसी प्रकार हमने इन कुछ उदाहरणों को प्रस्तुत करके ही अपने भारतीय वैदिक ज्ञान की महानता, उसकी सार्वभौमिकता, उसकी मौलिकता आदि का साक्ष्य प्रमाण सहित प्रस्तुत कर दिया है।

अन्य कुछ महत्वपूर्ण विषय तथा उनके अन्वेषक.....

1. आचार्य कणाद - कणाद परमाणु की अवधारणा के जनक माने जाते हैं। आधुनिक दौर में अणु वैज्ञानिक जॉन डॉल्टन से भी हजारों साल पहले महर्षि कणाद ने यह रहस्य उजागर किया कि

'प्रत्येक द्रव्य परमाणु हैं'।

उनके अनासक्त जीवन के बारे में यह रोचक मान्यता भी है कि किसी काम से बाहर जाते तो घर लौटते वक्त रास्तों में पड़ी चीज़ों या अन्न के कणों को बटोरकर अपना जीवनयापन करते थे। इसलिए उनका नाम 'कणाद' भी प्रसिद्ध हुआ।

2. ऋषि विश्वामित्र - ऋषि बनने से पहले विश्वामित्र क्षत्रिय थे। ऋषि वशिष्ठ से कामधेनु गाय को पाने के लिए हुए युद्ध में मिली हार के बाद तपस्वी हो गए। विश्वामित्र ने भगवान शिव से अस्त्र विद्या पाई। इसी कड़ी में माना जाता है कि आज के युग में प्रचलित 'प्रक्षेपास्त्र' या मिसाइल प्रणाली हजारों साल पहले विश्वामित्र ने ही खोजी थी।

ऋषि विश्वामित्र ही ब्रह्म गायत्री मंत्र के दृष्टा माने जाते हैं। विश्वामित्र का अप्सरा मेनका पर मोहित होकर तपस्या भंग होना भी प्रसिद्ध है। शरीर सहित त्रिशंकु को स्वर्ग भेजने का चमत्कार भी विश्वामित्र ने तपोबल से कर दिखाया था।

3. ऋषि भारद्वाज – आधुनिक विज्ञान के मुताबिक 'राइट बंधुओं' ने वायुयान का आविष्कार किया। वहीं हिंदू धर्म की मान्यताओं के मुताबिक कई सदियों पहले ही ऋषि भारद्वाज ने विमानशास्त्र के जरिए वायुमान को गायब करने के असाधारण विचार से लेकर, एक ग्रह से दूसरे ग्रह व एक दुनिया से दूसरी दुनिया में ले जाने के रहस्य उजागर किए। इस तरह ऋषि भारद्वाज को वायुयान का आविष्कारक भी माना जाता है।

रामायण में प्रयुक्त 'पुष्पक विमान' भी इसका एक जीता जागता प्रमाण है। कहा जाता है कि पुष्पक विमान तीन मंजिला विमान था और यहाँ जितने लोग उपस्थित हो, इसमें उतना ही स्थान बनाया जा सकता था यानी Adjustable जितनी आवश्यकता हो उतना ही इस विमान को छोटा या बड़ा किया जा सकता था। यह मन की गति से चलता था। इसके साक्ष्य पाए गए हैं।

4. गर्गमुनि – गर्ग मुनि नक्षत्रों के खोजकर्ता माने जाते हैं। यानि सितारों की दुनिया के जानकार।

ये गर्गमुनि ही थे, जिन्होंने श्रीकृष्ण एवं अर्जुन के बारे में नक्षत्र विज्ञान के आधार पर जो कुछ भी बताया, वह पूरी तरह सही साबित हुआ। कौरव-पांडवों के बीच महाभारत युद्ध विनाशक रहा। इसके पीछे वजह यह थी कि युद्ध के पहले पक्ष में तिथि क्षय होने के तेरहवें दिन अमावस थी। इसके दूसरे पक्ष में भी तिथि क्षय थी। पूर्णिमा चौदहवें दिन आ गई और उसी दिन चंद्रग्रहण था। तिथि-नक्षत्रों की यही स्थिति व नतीजे गर्ग मुनि जी ने पहले बता दिए थे।

5. महर्षि सुश्रुत – ये शल्यचिकित्सा विज्ञान यानी सर्जरी के जनक व दुनिया के पहले शल्यचिकित्सक (सर्जन) माने जाते हैं। वे शल्यकर्म या आपरेशन में दक्ष थे। महर्षि सुश्रुत द्वारा लिखी गई 'सुश्रुतसंहिता' ग्रंथ में शल्य चिकित्सा के बारे में कई अहम् ज्ञान को विस्तार से बताया है। इनमें सुई, चाकू व चिमटे जैसे तकरीबन 125 से भी ज्यादा शल्यचिकित्सा में जरूरी औजारों के नाम और 300 तरह की शल्यक्रियाओं व उसके पहले की जाने वाली तैयारियों, जैसे उपकरण उबालना आदि के बारे में पूरी जानकारी बताई गई है।

जबकि आधुनिक विज्ञान ने शल्य क्रिया की खोज तकरीबन चार सदी पहले ही की है। माना जाता है कि महर्षि सुश्रुत मोतियाबिंद, पथरी, हड्डी टूटना जैसे पीड़ाओं के उपचार के लिए शल्यकर्म यानी आपरेशन करने में माहिर थे। यही नहीं वे त्वचा बदलने की शल्यचिकित्सा भी करते थे जिसे आजकल प्लास्टिक सर्जरी कहा जाता है।

6. आचार्य चरक – 'चरकसंहिता' जैसा महत्वपूर्ण आयुर्वेद ग्रंथ रचने वाले आचार्य चरक आयुर्वेद विशेषज्ञ व 'त्वचा चिकित्सक' भी बताए गए हैं। आचार्य चरक ने शरीरविज्ञान, गर्भविज्ञान, औषधि विज्ञान के बारे में गहन खोज की। आज के दौर में सबसे ज्यादा होने वाली बीमारियों जैसे डायबिटीज, हृदय रोग व क्षय रोग के निदान व उपचार की जानकारी बरसों पहले ही उजागर कर दी। वर्तमान में भी आयुर्वेद पर आधारित शिक्षा एवम् उपचार इन्हीं ग्रंथों पर आधारित है। विश्व प्रसिद्ध बाबा रामदेव जी द्वारा स्थापित 'पतंजलि' की लगभग सभी दवाइयाँ इन्हीं सूत्रों पर आधारित हैं।

7. पतंजलि – आधुनिक दौर में जानलेवा बीमारियों में एक कैंसर या कर्करोग का आज उपचार संभव है। किंतु कई सदियों पहले ही ऋषि पतंजलि ने कैंसर को भी रोकने वाला 'योगशास्त्र' रचकर बताया कि योग से कैंसर का भी उपचार संभव है। आज बाबा रामदेव ने पतंजलि को एक नया स्थान प्रदान किया तथा आज पूर्ण विश्व योग के बारे में जान गया है।

21 जून को विश्व योग दिवस इस बात का साक्ष्य है।

8. बौद्धयन – भारतीय त्रिकोणमितिज के रूप में जाने जाते हैं। कई सदियों पहले ही तरह-तरह के आकार-प्रकार की यज्ञवेदियाँ बनाने की त्रिकोणमितिय रचना-पद्धति बौद्धयन ने खोजी। दो समकोण समभुज चौकोन के क्षेत्रफलों का योग करने पर जो संख्या आएगी, उतने क्षेत्रफल का 'समकोण' समभुज चौकोन बनाना और उस आकृति का उसके क्षेत्रफल के समान के वृत्त में बदलना, इस तरह के कई मुश्किल सवालों

का जवाब बौद्धयन ने आसान बनाया।

9. महर्षि दधीचि – महातपोबलि और शिव भक्त ऋषि थे। संसार के लिए कल्याण व त्याग की भावना रख वृत्तासुर का नाश करने के लिए अपनी अस्थियों को वज्र नामक शस्त्र बनाने के लिए दान कर महर्षि दधीचि पूजनीय व स्मरणीय हैं।

10. कपल मुनि – भगवान विष्णु के 24 अवतारों में से एक अवतार माने जाते हैं। इनके पिता कर्दम ऋषि थे। इनकी माता देवहूती ने विष्णु के समान पुत्र की चाहत की। इसलिए भगवान विष्णु खुद उनके गर्भ से पैदा हुए। कपिल मुनि 'सांख्य दर्शन' के प्रवर्तक माने जाते हैं। इससे जुड़ा प्रसंग है कि जब उनके पिता कर्दम सन्यासी बन जंगल में जाने लगे तो देवहूती ने खुद अकेले रह जाने की स्थिति पर दुख जताया। इसपर ऋषि कर्दम देवहूती को इस बारे में पुत्र से ज्ञान मिलने की बात कही। वक्त आने पर कपिल मुनि ने जो ज्ञान माता को दिया, वही 'सांख्य दर्शन' कहलाता है।

11. शौनक ऋषि– वैदिक आचार्य और ऋषि शौनक ने गुरु–शिष्य परंपरा व संस्कारों को इतना फैलाया कि उन्हें दस हजार शिष्यों वाले गुरुकुल का कुलपति होने का गौरव मिला। शिष्यों की यह तादाद कई आधुनिक विश्वविद्यालयों की तुलना में भी कहीं ज्यादा थी।

12. महर्षि पाणिनी– ये बहुत ही विद्वान वैयाकरणिक विद्वान थे। आज भी इनके द्वारा प्रदान किए गए व्याकरण संबंधी नियम व सूत्र प्रसिद्ध है तथा उनपर निरंतर अन्वेषण कार्य होता रहता है।

13. महर्षि वेदव्यास – ये बहुत से ग्रंथों के प्रणेता माने जाते हैं। कुशाग्र बुद्धि, प्रत्युत्तपन्नमती तथा बहुत सी कलाओं में निपुण महर्षि वेदव्यास जी को भगवान की संज्ञा दी जाती है। उनके द्वारा रचित महाभारत, श्रीमद्भागवद्गीता भी महाभारत का ही एक भाग कहा जा सकता है ऐसे ग्रंथ हैं जिनकी तुलना विश्व में कहीं भी नहीं की जा सकती। आज भी किसी वक्ता को जब मंच प्रदान किया जाता है तो उसे व्यासपीठ कहा जाता है।

वैदिक ज्ञान के विषय के और अधिक गहन अध्ययन के लिए 'वेदांग' की जानकारी भी अनिवार्य है। वस्तुतः ये विषय बहुत ही वृहद है फिर भी हम इसे यथोचित संक्षिप्त करने का प्रयास करेंगे कि इसकी मूल भावना का भी क्षय न हो।

वेदांग

वेदों के अर्थ को अच्छी तरह समझने में वेदांग काफी सहायक होते हैं। वेदांग शब्द से अभिप्राय है– "जिसके द्वारा किसी वस्तु के स्वरूप को समझने में सहायता मिले"।

वेदांगो की कुल संख्या 6 है, जो इस प्रकार है–

शिक्षा – वैदिक वाक्यों के स्पष्ट उच्चारण हेतु इसका निर्माण हुआ। वैदिक शिक्षा संबंधी प्राचीनतम साहित्य 'प्रातिशाख्य' है।

कल्प – वैदिक कर्मकांडों को संपन्न करवाने के लिए निश्चित किए गए विधि नियमों का प्रतिपादन 'कल्पसूत्र' में किया गया है।

व्याकरण – इसके अंतर्गत समासों एवं संधि आदि के नियम, नामों एवं धातुओं की रचना, उपसर्ग एवं प्रत्यय के प्रयोग आदि के नियम बताए गए हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी प्रसिद्ध व्याकरण ग्रंथ है।

निरुक्त – शब्दों की व्युत्पति एवं निर्वचन बतलाने वाले शास्त्र 'निरुक्त' कहलातें है। क्लिष्ट वैदिक शब्दों के संकलन 'निघण्टु' की व्याख्या हेतु यास्क ने 'निरुक्त' की रचना की थी, जो भाषा शास्त्र का प्रथम ग्रंथ माना जाता है।

छंद – वैदिक साहित्य में मुख्य रूप से गायत्री, त्रिष्टुप, जगती, वृहती आदि छंदों का प्रयोग किया गया है। पिंगल का छंदशास्त्र प्रसिद्ध है।

ज्योतिष – इसमें ज्योतिष शास्त्र के विकास को दिखाया गया है। इसके प्राचीनतम आचार्य 'लगध मुनि' है। वेद पुरुष के 6 अंग माने गए हैं– कल्प, शिक्षा, छंद, व्याकरण, निरुक्त तथा ज्योतिष। मुण्डकोपनिषद में आता है–

'तस्मै स हो वाच। द्वै विद्ये वेदितब्ये इति ह स्म यद्ब्रह्म विद्यौ वदंति परा चैवोपरा च।।

तत्रापरा ऋग्वेदों यजुर्वेदः सामवेदोऽर्थ वेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छंदोज्योतिषमिति। अथ परा यथा तदक्षरधिगम्यते

"अर्थात् मनुष्य को जानने योग्य दो विद्याएँ हैं– परा और अपरा। उनमें चारों वेदों के शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद, ज्योतिष– ये सब 'अपरा' विद्या

हैं तथा जिससे वह अविनाशी परब्रह्म तत्व से जाना जाता है, वही 'परा' विद्या है।"

इन छह को इस प्रकार बताया गया है- ज्योतिष वेद के दो नेत्र हैं, निरुक्त 'कान' है, शिक्षा 'नाक', व्याकरण 'मुख' तथा कल्प 'दोनों हाथ' और छंद 'दोनों पाँव' हैं-

शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य, हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते मुखं व्याकरणं स्मृतम्।

निरुक्त श्रौतमुच्यते, छंदः पादौतु वेदस्य ज्योतिषामयनं चक्षुः।।

वैदिक मंत्रों के स्वर, अक्षर, मात्रा एवं उच्चारण की विवेचना 'शिक्षा' होती है। शिक्षा ग्रंथ जो उपलब्ध है- पाणिनीय शिक्षा (ऋग्वेद), व्यास शिक्षा (कृष्ण यजुर्वेद), याज्ञचल्क्य आदि 25 शिक्षाग्रंथ (शुक्ल यजेर्वेद) गौतमी, नारदीय, लोमशी शिक्षा (सामवेद) तथा माण्डुकी शिक्षा (अथर्ववेद)।

भाषा नियमों का स्थिरीकरण 'व्याकरण' का कार्य है। शाकटायन व्याकरण सूत्र तथा पाणिनीय व्याकरण यजुर्वेद से संबंध माने जाते हैं। इनके अतिरिक्त सारस्वत व्याकरण, प्राकृत प्रकाश प्राकृत व्याकरण, कामधेनु व्याकरण, हेमचंद्र व्याकरण आदि अनेक व्याकरण शास्त्र के ग्रंथ भी हैं। सभी पर अनेक भाष्य एवं टीकाएँ लिखी गई हैं। अनेक व्याकरण-ग्रंथ लुप्त हो गए हैं।

वेदों की व्याख्या पद्धति बताना 'निरुक्त' का कार्य है। इसके अनेक ग्रंथ लुप्त हैं। निरुक्त को वेदों का विश्वकोश कहा गया है। अब यास्क का निरुक्त ग्रंथ उपलब्ध है, जिस पर अनेक भाष्य रचनाएँ हुई हैं। 'छंद' के कुछ ग्रंथ ही मिलते हैं, जिसमें वैदिक छंदों पर गार्ग्यप्रोक्त उपनिदान-सूत्र (सामवेदीय), पिंगल नाग प्रोक्त छंदः सूत्र (छंदोविचित) वेकंट माधव कड़डत छंदोऽनुक्रमणी, जयदेव कृत छंदसूत्र के अतिरिक्त लौकिक छंदों पर छंदशास्त्र (हलायुध वृत्ति), छंदोमञ्जरी, वृत्त रतनाकर, श्रुतबोध आदि हैं।

जब ब्राह्मण-ग्रंथों में यज्ञ-यागादि की कर्मकांडीय व्याख्या में व्यवहारगत कठिनाइयाँ आईं, तब कल्पसूत्रों की 'प्रतिशिखा' में रचना हुई। ऋग्वेद के प्रातिशाख्य वर्गद्वय वृत्ति में कहा गया है-

'कल्पौ वेद विहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पनाशास्त्रम्।'

'अर्थात् 'कल्प' वेद प्रतिपादित कर्मों का भली-प्रकार विचार प्रस्तुत करने वाला शास्त्र है। कल्प में यज्ञों की विधियों का वर्णन होता है।'

संस्कृत भाषा का वेद विहितानां कर्मणामानुपूव्यैण कल्पनाशास्त्रम्।'

'अर्थात् 'कल्प' वेद प्रतिपादित कर्मों का भली-प्रकार प्रस्तु करने वाला शास हैं। कल्प में यज्ञों की विधियों का वर्णन होता है।'

संस्कृत भाषा का वैविध्य एवं महत्ता

हम सभी जानते है कि संस्कृत विश्व की प्राचीनतम भाषा है। इसके वैविध्य के कुछ उदाहरण प्रस्तुत है... यह है दक्षिण भारत का एक विलक्षण ग्रंथ। क्या ऐसा संभव है कि जब आप किताब को सीधा पढ़े तो राम कथा के रूप में पढ़ी जीत है और जब उसी किताब में लिखे शब्दों को उल्टा करके पढ़े तो कृष्ण कथा के रूप में होती है।

ऐसा दुर्लभ कार्य कांचीपुरम के 17वीं सदी के कवि "वेंकटाध्वरि" ने "राघवयादवीयम्" नामक ग्रंथ की रचना करके सिद्ध कर दिया है। इस ग्रंथ को 'अनुलोम-विलोम काव्य' भी कहा जाता है। पूरे ग्रंथ में केवल 30 श्लोक हैं। इन श्लोकों को सीधे-सीधे पढ़ते जाएँ, तो रामकथा बनती है और विपरीत (उल्टा) क्रम में पढ़ने पर कृष्णकथा। इस प्रकार हैं तो केवल 30 श्लोक, लेकिन कृष्णकथा (उल्टे यानी विलोम) के भी 30 श्लोक जोड़ लिए जाएँ तो बनते हैं 60 श्लोक।

पुस्तक के नाम से भी यह प्रदर्शित होता है, राघव (राम) + यादव (कृष्ण) के चरित्र को बताने वाली गाथा है। "राघवयादवीयम।"

उदाहरण के तौर पर पुस्तक का पहला श्लोक है:

"वंदेऽह देवं तं श्रीतं रन्तारं कालं भासा यः।
रामो रामाधीराप्यागो लीलामारायोध्ये वासे ।।1।।"

अर्थात्

मैं उन भगवान श्रीराम के चरणों में प्रमाण करता हूँ जिनके हृदय में सीता जी रहती है तथा जिन्होंने अपनी पत्नी सीता के लिए सहयाद्री की पहाड़ियों से होते हुए लंका जाकर रावण का वध किया तथा वनवास पूरा कर अयोध्या वापिस लौटे।

अब इस श्लोक का विलोमम्: इस प्रकार है-

"सेवाध्येयो रामालाली गोप्याराधी भारामोराः।

यस्साभालंकारं तारं तं श्रीतं वन्देऽहं देवम"।।1।।

अर्थात्

मैं रूक्मिणी तथा गोपियों के पूज्य भगवान श्रीकृष्ण के चरणों में प्रणाम करता हूँ, जो सदा ही माँ लक्ष्मी के साथ विराजमान है तथा जिनकी शोभा समस्त जवाहरातों की शोभा हर लेती है। इस प्रकार इसमें कुल 60 श्लोक हैं। 30 श्लोक और 30 विलोम। यह ग्रंथ विश्व का अनूठा ग्रंथ है।

कुछ और साक्ष्य .....

– अक्षरों की क्रमबद्धता से बनती रोचक काव्य पंक्ति।

* अंग्रेजी में THE QUICK BROWN FOX JUMPS OVER A LAZY DOG.* ऐसा प्रसिद्ध वाक्य है। अंग्रेजी अल्फाबेट के सभी अक्षर उसमें समाहित है। किंतु कुछ कमी भी है...

1. अंग्रेजी अक्षर 26 हैं। और यहाँ 33 अक्षरों का उपयोग करना पड़ा है। चार O है और A तथा R दो-दो है।

2. अक्षरों का ABCD... यह स्थापित क्रम नहीं दिख रहा। सब अस्तव्यस्त हैं।

सामर्थ्य की दृष्टि से संस्कृत बहुत ही उच्चतम श्रेणी की है...

1. यह अधोलिखित पद्य और उनके भावार्थ से पता चलता है।

क. खगौघाङचिच्छौजा झाञ्ञोऽटौठीडडण्ढणः।

* तथोदधीन् पफर्बाभीर्मयोऽरिल्वाशिषां संहः।।

अर्थात्– पक्षियों का प्रेम, शुद्ध बुद्धि का, दूसरे का बल अपहरण करने में पारंगत, शत्रु। संहारको में अग्रणी, मनसे निश्चल तथा निडर और महासागर का सर्जन करता कौन? राजा मय जिसको शत्रुओ के भी आशीर्वाद मिले हैं।"

आप देख सकते हैं कि संस्कृत वर्णमाला के सभी 33 व्यंजन इस पद्य में आ जाते हैं इतना ही नहीं, उनका क्रम भी योग्य है।

एक ही वर्ण अपने आप में पूर्ण आपने कभी ऐसा सुना या देखा है कि केवल एक वर्ण का उपयोग करके एक पूर्ण पद्य सार्थक की रचना हो पाए परंतु असाध्य कार्य को साध्य किया संस्कृत भाषा की सहायता से महाकवि 'माघ' ने जिनके बारे में कहा जाता है...

"उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।

दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः"।।

एक ही अक्षरों का अद्भूत अर्थ विस्तार...

माघ कवि ने शिशुपालवधम् महाकाव्य में केवल 'भ' और 'र' दो ही अक्षरों से एक श्लोक बनाया है।

भूरिभिर्भारिभिर्भीराभूभारैरभिरेभिरे।

भेरीरेभिभिरभ्राभैरूभीरूभिरिभैरिभाः।।

अर्थात्– धरा को भी वजन लगे ऐसा वजनदार, वाद्य यंत्र जैसा आवाज निकालने वाले और मेघ जैसा काला निडर हाथी ने अपने दुश्मन हाथी पर हमला किया।"

महाकवि माघ ने तो 2 वर्णों का आश्रय लिया। परंतु महाकवि 'भारवि' तो उनसे भी आगे निकल गए और केवल एक वर्ण का प्रयोग करके श्लोक की रचना कर दी। उनका कौशल्य, वैदुष्य निम्न श्लोक के द्वारा प्रस्तुत है...

किरातार्जुनीयम् काव्य संग्रह में केवल 'न' व्यंजन से अद्भूत श्लोक बनाया है और महाकवि 'भारवि' जी ने थोड़े में बहुत कहा है...

न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नाना ननना ननु।

नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेना नन्ननन्नुनुत्।।

अर्थात् – जो मनुष्य युद्ध में अपने दुर्बल से मनुष्य के हाथों घायल हुआ है वह सच्चा मनुष्य नहीं है। ऐसे ही अपने से दुर्बल को घायल करता है वो भी मनुष्य नहीं है। घायल मनुष्य का स्वामी यदि घायल न हुआ हो तो ऐसे मनुष्य को घायल नहीं कहते और घायल मनुष्य को घायल करें वो भी मनुष्य नहीं है। ऐसे अनेक मधुर उदाहरण हमारे अन्यान्य पुरातन संस्कृत साहित्य के ग्रंथों में ही देखने को मिलते है। संस्कृत भाषा में विभिन्न विषयों का बाहुल्य तथा उनकी महत्ता समाहित है।

हमारे भारतीय संस्कृत साहित्य में धर्म है, आस्था है, विश्वास है, नीति है, ज्ञान है, मूल्य है, भक्ति है, वैराग्य है, ज्ञान है, त्याग है, काम है, शृंगार है, प्रकृति प्रेम है, जीव प्रेम है, प्रकृति तथा पर्यावरण रक्षण है, सौंदर्य है किंबहुना ऐसा कोई भी विषय नहीं है जो हमारे संस्कृत साहित्य की शोभा न बढ़ाता हो। मानव जीवन पंचभूतों से मिलकर बना है पृथ्वी, आकाश, जल, अग्नि, वायु। इन सबका वर्णन, सांमजस्य, सुरक्षा, पोषण,

संवर्धन आदि सब कुछ हमारे ग्रंथों में मिलता है। विश्व की सबसे पुरानी कैलेंडर परंपरा भी हमारी है। सप्ताह के 7 दिनों का प्रयोग को पूरा संसार करता है, वह भारत की ही देन है।

वास्तव में हमारे भारत के उच्च संस्थानों में जितने भी आदर्श वाक्य है Moto वह सब हमारे ऐतिहासिक ग्रंथों में से ही उद्धृत हैं तथा सभी संस्कृत भाषा में ही हैं जैसे-

1. भारत सरकार - सत्यमेव जयते।
2. लोकसभा - धर्म चक्र प्रवर्तनाय।
3. उच्चतम न्यायालय - यतो धर्मस्ततो जय:।
4. थल सेना - सेवा अस्माकं धर्म:
5. जल सेना - श नो वरुण : ।
6. वायु सेना - नभ: स्पर्श दीप्तम।
7. श्रम मंत्रालय - श्रम एव जयते।
8. NCERT - विद्या अमृतमशनुते। आदि।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय राजतंत्र, शिक्षा तंत्र, सैन्य तंत्र, न्याय तंत्र आदि सभी के आदर्श वाक्य हमारे स्वर्णिम संस्कृत, संस्कृति की विषय वस्तु पर आधारित है। यानी समग्रता से पूरा भारत ही हमारे गौरवपूर्ण इतिहास के विभिन्न विषयों पर आधारित है तथा उससे अटूट बंधन में आबद्ध है।

कर्म की प्रधानता का संदेश भगवान श्री कृष्ण द्वारा श्रीमद्भागवत गीता में प्रदान किया गया है जो मानव जाति के कल्याण के लिए सर्वोत्तम है।

"कर्मण्एवाधिकारस्ते मां फलेषु कदाचन"।

यह एक ऐसा संदेश है जो सर्वकालिक है। टाइमलेस है। यानी कर्म किसी भी जीव के लिए कभी अहितकर हो ही नहीं सकता। वास्तव में हमारे साहित्य में जितनी भी उक्तियाँ, जितने भी संदेश, जो प्रदान किए गए हैं वह किसी भी परिस्थिति में गलत हो ही नहीं सकते। वह प्रत्येक प्राणी मात्र के लिए सदैव, हर परिस्थिति में हितकारी ही सिद्ध होंगे। जैसे--

1. सत्यमेव जयते।
2. अति सर्वत्र वर्जयेत।
3. असतो मा सद्गमय।
4. बुद्धिर्यस्य बलम् तस्य।
5. विनाश काले विपरीत बुद्धि।
6. जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।

हमारे ऋषि-मुनियों ने ऐसे साहित्य, ऐसे धर्म ऐसी नीतियों, ऐसे मूल्यों की रचना की है जो न केवल पूरी पृथ्वी के प्राणी मात्र जिनमें तीनों प्रकार के जीव थलचर, जलचर, नभचर भी मौजूद है अपितु पेड़-पौधों के लिए भी सदैव श्रेयस्कर ही रहेंगे। जैसे....

"मुंडे-मुंडे मतिर्भिन्ना*
कुंडे-कुंडे नवं पय:।
जातौ-जातौ नवाचारा:
नवा-वाणी मुखे-मुखे"।।

जितने मनुष्य हैं उतने विचार हैं, एक ही स्थान के अलग-अलग कुओं के पानी का स्वाद अलग-अलग होता है। एक ही संस्कार के लिए अलग-अलग जातियों में अलग-अलग रिवाज होता है तथा एक ही घटना का वर्णन हर व्यक्ति अपने ढंग से अलग-अलग करता है।

"नीतिज्ञा:, नियतिज्ञा:, वेदज्ञा:, शास्त्रज्ञा:, ब्रहमज्ञा: अपि सुलभा: भवंति। परंतु ये निज-अज्ञान-विषये सचेतना: ज्ञानिन: ते विरला: भवन्ति, दुर्लभा: भवन्ति। शुभ समाचार ..... पृथ्वी सत्येन तपते रवि:।

सत्येन वायवो वांति सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्सत्येन धार्यते पृथ्वी सत्येन तपते रवि:।

सत्येन वायवो वांति सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्नीतिज्ञा नियतिजा वेदज्ञा अपि भवन्ति शास्त्रज्ञा:।

ब्रह्मज्ञा अपि लभ्या स्वाज्ञानज्ञानिनो विरला:"।।

(वैराग्यशतकम्, 26)

"नीति, भाग्य, वेद-शास्त्र यहाँ तक कि ब्रह्मज्ञान को भी जानने वाले बहुत मिलेंगे पर अपने अज्ञान को जानने वाले बहुत विरले ही मिलते हैं"।

बस इससे अधिक और क्या कहा जा सकता है? क्या संस्कृत की महानता, उसकी उपादेयता, उसकी विलक्षणता उसकी सर्वकालिकता TIMELESSNESS के लिए क्या इतने प्रमाण काफी नहीं है?

निष्कर्ष

इस प्रकार उपरोक्त वर्णन से हमने इस महत्वपूर्ण विषय को सीमित करने का प्रयत्न किया है। इसे अपने आप में भारतीय सभ्यता, भारतीय संस्कृति का प्रणेता कहा जा सकता है। इतने वृहद और इतने महत्वपूर्ण विषय का चुनाव तथा उसे शब्द सीमा से बांधना अपने आप में ही एक बहुत बड़ी चुनौती है। मैं इस कार्य को सफलतापूर्वक करने में कितनी सफल हुई हूँ इसका

परिणाम तो भविष्य पर निर्भर करता है। प्रयास मनुष्य का कर्म है और परिणाम ईश्वर का, तो मैंने अपना मानवोचित कर्म निभाया है।

मैं पुनः करबध्द क्षमा प्रार्थी हूँ कि मैंने उक्त विषय का चयन किया और उस पर कुछ लिखने का बीड़ा उठाया। मैं अपने आप को इसके योग्य नहीं समझती हूँ कि मैं उन महान ऋषि-मुनियों, वेद वेदांग और संस्कृत भाषा के बारे में कुछ भी कह पाऊँ। फिर भी एक सूक्ष्म प्रयास है क्योंकि "पूर्णता केवल ईश्वर में विद्यमान है"।

त्रुटियाँ इस बात का प्रमाण है कि हम निरंतर प्रयत्नशील हैं। इसी के साथ ईश्वर से यही प्रार्थना है कि भारतवर्ष पुनः जगतगुरु के आसन पर विराजमान हो क्योंकि इसका सच्चा अधिकारी यही है।

इति शुभमस्तु।

जयतु संस्कृतम्, जयतु भारतम्।

– एल-108, ऋषि नगर, रानी बाग, दिल्ली-110034

❑❑❑

कश्मीर की वैदिक परंपरा एवं भाषा

डॉ. प्रियंजन

कश्मीर भारत का सबसे प्राचीन राज्य रहा है। जम्मू और कश्मीर का उल्लेख महाभारत में भी मिलता है। इस संपूर्ण क्षेत्र पर सबसे पहले जंबद्वीप के राजा अग्निघ्र का राज था। बाद में यहाँ पर सतयुग में कश्यप ऋषि का राज हो गया। हालांकि पौराणिक मत के अनुसार माना जाता है कि कश्यप ऋषि के नाम पर ही कश्यप सागर (कैस्पियन सागर) और कश्मीर का प्राचीन नाम था। शोधकर्ताओं के अनुसार कैस्पियन सागर से लेकर कश्मीर तक ऋषि कश्यप के कुल के लोगों का राज हुआ करता था। कश्यप ऋषि का इतिहास प्राचीन माना जाता है। कैलाश पर्वत के आसपास भगवान शिव के गणों की सत्ता थी। उक्त इलाके में ही दक्ष राजा का साम्राज्य भी था। कहते हैं कि कश्यप ऋषि कश्मीर के पहले राजा थे। कश्मीर को उन्होंने अपने सपनों का राज्य बनाया। उनकी एक पत्नी कद्रू के गर्भ से नागों की उत्पत्ति हुई जिनमें प्रमुख 8 नाग थे- अनंत (शेष), वासुकि, तक्षक, कर्कोटक, पद्म, महापद्म, शंख और कुलिक। इन्हीं से नागवंश की स्थापना हुई। आज भी कश्मीर में इन नागों के नाम पर ही स्थानों के नाम हैं। कश्मीर का अनंतनाग नागवंशियों की राजधानी थी। राजतरंगिणी तथा नीलम पुराण की कथाओं के अनुसार कश्मीर की घाटी कभी बहुत बड़ी झील हुआ करती थी। कश्यप ऋषि ने यहाँ से पानी निकाल लिया और इसे मनोरम प्राकृतिक स्थल में बदल दिया। इस तरह कश्मीर की घाटी अस्तित्व में आई। हालांकि भूगर्भशास्त्रियों के अनुसार खदियानयार, बारामूला में पहाड़ों के धसने से झील का पानी बहकर निकल गया और इस तरह कश्मीर में रहने लायक स्थान बने। राजतरंगिणी 1184 ईसा पूर्व के राजा गोनंद से लेकर राजा विजय सिन्हा (1129 ईसवी) तक के कश्मीर के प्राचीन राजवंशों और राजाओं का प्रामाणिक दस्तावेज है। जम्मू और कश्मीर की संस्कृति और मध्यकालीन युग की समृद्ध संस्कृतिकला और वास्तुकला को दर्शाती है।

कश्मीर भारत में एकमात्र राज्य है जहाँ अतीत में सबसे लंबे समय तक न सिर्फ पठन-पाठन बल्कि संपर्क भाषा के रूप में भी संस्कृत का इस्तेमाल हुआ। इंग्लैंड के भाषाशास्त्री जॉर्ज ग्रियर्सन पिछली सदी की शुरुआत में एक दस्तावेज में लिखते हैं, "बीते दो हजार सालों के दौरान कश्मीर संस्कृत के पठन-पाठन का सबसे महत्वपूर्ण केंद्र रहा है। यहाँ संस्कृत में दार्शनिक विमर्श से लेकर शृंगार कथाओं तक की रचना हुई।"

सम्राट् अशोक (300 से 200 ईसा पूर्व) के समय कश्मीर घाटी में बौद्ध धर्म का प्रसार हुआ। उस समय इस क्षेत्र में संस्कृत की महत्ता इसी बात से समझी जा सकती है कि तब जहाँ पूरे भारत में बौद्ध धर्म की मूल बातें पाली में लिखी गईं, वहीं कश्मीर में इसकी शिक्षाएँ पहली बार संस्कृत में दर्ज हुईं। मध्य एशिया तक संस्कृत का प्रसार कश्मीरी विद्वानों ने ही किया था। उस समय न सिर्फ पूरे भारत से छात्र यहाँ संस्कृत पढ़ने आते थे बल्कि एशिया के दूसरे देशों के विद्वानों के लिए भी यह संस्कृत अध्ययन का बड़ा केंद्र था। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने कश्मीर में रहकर संस्कृत के माध्यम से बौद्ध धर्म का अध्ययन किया था। संस्कृत व्याकरण के नियम बनाने वाले पाणिनि के

बारे में ज्यादातर विद्वानों की राय है कि उनका जन्म ईसा से चौथी सदी पूर्व पाकिस्तान के खैबर पख्तून्ख्वा में हुआ था। लेकिन इतिहासकारों का एक वर्ग कहता है कि वे दक्षिणी कश्मीर के गोद्रा गाँव में जन्मे थे। यही कारण रहा होगा कि पाणिनि की अष्टाध्यायी (संस्कृत व्याकरण का प्राचीन ग्रंथ) पर सबसे ज्यादा टीका कश्मीर के विद्वानों ने ही लिखा है।

कश्मीर में संस्कृत का 12वीं से 13वीं शताब्दी तक काफी प्रभाव रहा। कल्हण का प्रसिद्ध 'राजतरंगिणी' ग्रंथ इसी समय की रचना है। प्राचीन भारतीय भाषाओं के अध्येता जॉर्ज बुहेलर (1837 से 1898) का एक दस्तावेज बताता है कि उन्होंने 1875 में कश्मीर की यात्रा की थी और तब उनकी 25 से ज्यादा संस्कृत बोलने वाले पंडितों से मुलाकात हुई और ऐसे दसियों सरकारी अधिकारी भी थे जो उस वक्त संस्कृत बखूबी समझ लेते थे।

'वसुधैव कुटुंबकम्' यानी संपूर्ण पृथ्वी एक परिवार है बैर-भाव और अपना-पराया भूलकर सब को अपना बताने वाला यह कथन बारह सौ सालों से ज्यादा पुराना है। इसके लेखक हैं कवि उद्भट। जिस भूमि पर इस उदार भावना को श्लोकबद्ध किया गया, वह भूमि है माता शारदा का निवास स्थान कश्मीर ही है। उद्भट कश्मीर में हुए महान संस्कृत कवि थे। वे उद्भट भट्ट, भट्ट उद्भट, उद्भटाचार्य नाम से जाने जाते हैं। महाकवि कल्हण ने राजतरङ्गिणी में लिखा है - जयापीड विनयादित्य नाम के महान प्रतापी राजा ने 770 से 801 ईस्वी में 31 वर्षों तक कश्मीर के राज्यासन को अलंकृत किया। महाराज जयापीड स्वयं कवित्व-शक्ति से संपन्न थे, इस नाते उन्होंने बहुत से पंडितों को उपहार तथा दक्षिणा देकर अपनी सभा में प्रतिष्ठित किया। इन कवियों में भट्ट उद्भट, दामोदर गुप्त, मनोरथ, शङ्खदत्त, चटक, संधिमान, वामन और क्षीर नामक आठ कवि प्रधान थे। इन कवियों के शिरोमणि उद्भट कवि मधुर कविताओं से महाराज जयापीड को सुपरितोषित करके उनसे प्रतिदिन एक लाख दीनार प्राप्त करते थे। इससे उनके पांडित्य की महिमा, कवित्व-शक्ति और चित्त-चमत्कारी कविता निर्माण का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। उद्भट कवि ने कुमारसंभव - काव्यालङ्कारसंग्रह - भामहालङ्कारविवरण नामक तीन ग्रंथ लिखे। प्रतीहारेन्दुराज नामक विद्वान ने काव्यालङ्कार संग्रह की 'लघुवृत्ति' टीका लिखकर उद्भट द्वारा इन तीन ग्रंथों के प्रणयन की चर्चा की है।

अंग्रेज विद्वान वुलर ने 'काव्यालङ्कार संग्रह' पर 'कश्मीर रिपोर्ट' नामक पत्र में लिखा है - "उद्भट जयापीड राजा से प्रतिदिन एक लाख दीनार प्राप्त करते थे। पर उन्होंने कोई बड़ा संस्कृत ग्रंथ नहीं लिखा। उद्भट के द्वारा लिखे 'काव्यालङ्कार संग्रह' नामक अलङ्कार-ग्रंथ में जो उदाहरण हैं, वे उन्होंने स्वरचित 'कुमार संभव' नामक ग्रंथ से लिए थे।' उद्भट कवि कश्मीर के ही नहीं वरन् पूरी पंडित परंपरा के ऐसे प्रतिनिधि आज भी बने हुए हैं कि जिस विद्वान की पूरी प्रशंसा करनी हो, उसे लोग आज भी 'उद्भट' संज्ञा से विभूषित करते हैं। इतना ही नहीं, संस्कृत में आज भी श्रेष्ठ कविता और सूक्तियों को उद्भट कविता कहा जाता है। इसके साथ क्षेमेंद्र कश्मीरी महाकवि थे। वे संस्कृत के विद्वान तथा अप्रतिम प्रतिभासंपन्न कवि थे। क्षेमेंद्र ने अपने ग्रंथों के रचना काल का उल्लेख किया है, जिससे इनके आविर्भाव के समय का परिचय मिलता है। कश्मीर के नरेश अनंत (1028-1063 ई.) तथा उनके पुत्र और उत्तराधिकारी राजा कलश (1063-1089 ई.) के राज्य काल में क्षेमेंद्र का जीवन व्यतीत हुआ। क्षेमेंद्र के ग्रंथ 'समयमातृका' का रचना काल 1050 ई. तथा इनके अंतिम ग्रंथ 'दशावतारचरित' का निर्माण काल इनके ही लेखानुसार 1066 ई. है। क्षेमेंद्र के पूर्व पुरुष राज्य के अमात्य पद पर प्रतिष्ठित थे। फलतः इन्होंने अपने देश की राजनीति को बड़े निकट से देखा तथा परखा था। अपने युग के अशांत वातावरण से ये इतने असंतुष्ट और मर्माहत थे कि उसे सुधारने में, उसे पवित्र बनाने में तथा स्वार्थ के स्थान पर परार्थ की भावना दृढ़ करने में इन्होंने अपना जीवन लगा दिया तथा अपनी द्रुतगामिनी लेखनी को इसकी पूर्ति के निमित्त काव्य के नाना अंगों की रचना में लगाया। 'नर्ममाला' 'देशोपदेश' कृतियों में उस युग का वातावरण अपने पूर्ण वैभव के साथ हमारे सम्मुख प्रस्तुत होता है। क्षेमेंद्र विदग्धी कवि होने के अतिरिक्त जनसाधारण के भी कवि थे, जिनकी रचना का उद्देश्य विशुद्ध मनोरंजन के साथ-साथ जनता का चरित्र निर्माण करना भी था। 'कलाविलास', 'चतुर्वर्गसंग्रह', 'चारुचर्या', 'समयमातृका' आदि लघु काव्य इस दिशा में इनके सफल उद्योग के समर्थ प्रमाण हैं।

इसके अतरिक्त, कश्मीर में कुंतक अलंकार शास्त्र के एक मौलिक विचारक विद्वान थे। यद्यपि इनका काल निश्चित रूप से ज्ञात नहीं हैं, किंतु विभिन्न अलंकार ग्रंथों के अंतरसाक्ष्य के आधार पर ऐसा समझा जाता है कि कुंतक दसवीं शती के आसपास हुए। कुंतक अभिधावादी आचार्य थे, जिनकी दृष्टि में अभिधा शक्ति ही कवि के अभीष्ट अर्थ के द्योतन के लिए सर्वथा समर्थ होती है।

परंपरागत रूप से कश्मीर का साहित्य संस्कृत में था। कश्मीर के संस्कृत के प्रमुख साहित्यकारों के नाम हैं – ज्योतिष शास्त्र के प्रवर्तकाचार्य लगध मुनि, पंचतंत्र के रचयिता विष्णु शर्मा, बौद्ध दर्शन के विद्वान नागसेन, आयुर्वेद विद्वान तिसत आयुर्वेद के विद्वान और सुश्रुतसंहिता के टीकाकार जैज्जट, आयुर्विज्ञान मनीषी वाग्भट। अलंकारशास्त्र के विद्वान भामह द्यबौद्ध दार्शनिक रविगुप्त, साहित्य शास्त्रज्ञ आनंदवर्धनाचार्य, वसुगुप्त, सोमानंद, वटेश्वर, रुद्रट, जयंत भट्ट, भट्ट नायक, मनुस्मृति के टीकाकार मेधातिथि, उत्पलदेव, महामाहेश्वर आचार्य अभिनवगुप्त। रघुवंश के टीकाकार वल्लभदेव, गणितज्ञ उत्पल, क्षेमेंद्र, क्षेमराज, बिल्हण, कल्हण, सूक्तिमुक्तावलिकार जल्हण, महान संगीतशास्त्रज्ञ शारंगदेव, वेदांती केशव भट्टाचार्य, मम्मट, कैयट, लोल्लट, कैहट, जैहट, रल्हण, शिल्हण, मल्हण, रुय्यक, कुंतक, रुचक द्यउद्भट, शंकुक, गुणाढय, सोमदेव, पिंगल, जयदत्त, वामन, क्षीरस्वामी, मंख, पुष्पदंत, जगधर भट्ट, रत्नाकर, माणिक्यचंद्र आदि। संस्कृत विद्वान आचार्य उमेश नेपाल का कहना है, "संस्कृत साहित्य में वैज्ञानिक रीति से इतिहास लेखन की परंपरा को चलाने एवं प्रवर्तित करने का काम कश्मीर ने किया। आजतक कल्हण की राजतरंगिणी को इतिहास के विद्वान जितने सम्मान से देखते हैं, उतने सम्मान से संस्कृत साहित्य के किसी दूसरे ग्रंथ को नहीं देखते। शैवदर्शन की प्रमुख दो धाराएँ प्रत्यभिज्ञा दर्शन एवं सिद्धांत शैव, भारत को कश्मीर की ही देन है। समूचे दक्षिण भारत में शिव भक्ति का मूलभूत दर्शन शैव सिद्धांत है। इस प्रकार दार्शनिक, सामाजिक एवं धार्मिक जीवन में शिवभक्ति के तानाबाने को बुनने का काम कश्मीर ने ही किया है। संस्कृत का काव्य शास्त्र लगभग कश्मीरियों की ही बपौती है, यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है।'

आज का कश्मीर देखकर इस पर यकीन करना मुश्किल है लेकिन इतिहासकार इसकी वजह सभ्यता के विकास में बताते हैं। आर्य सभ्यता के बारे में माना जाता है कि इसका विकास पूर्वी ईरान में हुआ और बाद में इसको मानने वाले लोग अफगानिस्तान–पाकिस्तान होते हुए गंगा के मैदान तक फैल गए। पंजाब से होकर आर्य सभ्यता कश्मीर घाटी में पहुँची। इन लोगों के साथ संस्कृत भाषा भी इस क्षेत्र में आ गई और तुलनात्मक रूप से ज्यादा प्रभावशाली आर्यों के इन वंशजों ने यहाँ के समाज में संस्कृत को प्रधान भाषा बना दिया। कश्मीर के 11वीं सदी के एक कवि बिल्हण के शब्दों में, "कश्मीर में तो महिलाएँ भी धाराप्रवाह संस्कृत और प्राकृत (संस्कृत के बाद की भाषाएँ) में बात करती हैं।"

स्वतंत्रता, अलगाव और एकजुटता के अपने लंबे समय के दौरान, कश्मीर के लोगों ने सीखने और साहित्य में हमेशा के लिए योगदान देने वाली एक अनूठी संस्कृति विकसित की। कश्मीर ने भारतीय साहित्य में एक बहुमूल्य योगदान दिया है। कल्हण और बिलहाना को उनके ऐतिहासिक कार्यों के लिए अच्छी तरह से याद किया जाता है। राजतरंगिणी जो न केवल कश्मीर के इतिहास पर बल्कि भारत के इतिहास पर भी प्रकाश डालती है। बिल्हण के विक्रमादिदेव चरित का संबंध दक्षिण भारत के इतिहास से है।

इस घाटी की भाषा आधुनिक इंडो– आर्यन भाषाओं के बीच एक अद्वितीय स्थिति का दावा कर सकती है। यह इसकी प्राचीनता के कारण है जो अच्छी तरह से वैदिक काल में वापस आ सकती है। कश्मीरी फारसी और संस्कृत भाषा से काफी प्रभावित भाषाएँ रहीं हैं। कश्मीर की अन्य महत्वपूर्ण भाषाओं में पश्तो, गोजरी, बलती, उर्दू, पहाड़ी और लद्दाखी शामिल रही हैं। लद्दाखी को अब अलग केंद्र शासित प्रदेश बनाने के बाद से जम्मू एवं कश्मीर से अलग किया जा सकता है।

किसी भी समाज के निर्माण में भाषा की अहम् भूमिका होती है। आज जो हाल जम्मू–कश्मीर का है, उसमें कहीं न कहीं इसकी भाषा नीति का भी दोष है। इसमें कोई दो राय नहीं कि जम्मू–कश्मीर राज्य की भाषा नीति निहायत ही असंगत और अविवेकपूर्ण रही है। आज जो भाषा नीति यहाँ लागू है, उसकी जड़ें वर्ष 1944 के आस–पास शेख अब्दुल्ला की नेशनल कॉफ्रेंस

द्वारा प्रस्तुत 'नया कश्मीर' नामक दस्तावेज में दिखाई पड़ती हैं। हॉलांकि उससे पहले महाराजा के दौर में भी उर्दू यहाँ की राजभाषा थी। तब यहाँ की शिक्षा और भाषा नीति देश के अन्य प्रांतों, खासकर पड़ोसी पंजाब की तर्ज पर थी। कायदे से आजादी के बाद कश्मीरी और डोगरी को यहाँ की राजभाषा होना चाहिए था, लेकिन शेख अब्दुल्ला ने उर्दू को यहाँ की राजभाषा बनाए रखा। जम्मू-कश्मीर में मुख्यतः कश्मीरी, डोगरी और लद्दाखी या भोटी भाषाएँ प्रचलन में रही हैं। वैसे इनके अलावा शीना, गोजरी, पंजाबी, पहाड़ी, भद्रवाही और किश्तवाड़ी भाषाएँ भी हैं, जिनके बोलने वालों की अच्छी खासी संख्या है। कश्मीरी भाषा पहले शारदा लिपि में लिखी जाती थी। लेकिन धीरे-धीरे मुसलमानों ने इसके लिए अरबी लिपि को अपनाना शुरू कर दिया, जिसके चलते शारदा लिपि विलोपन की ओर बढ़ चली। कश्मीरी भाषा भी धार्मिक आधार पर बंट गई। हाल के वर्षों में कश्मीर से बाहर रहने वाले कश्मीरी पंडित देवनागरी में कश्मीरी को लिखने लगे, जबकि घाटी के मुसलमान अरबी लिपि में इसे लिखते हैं। इतिहास में जब कभी पुरातन भाषा की चर्चा होती है, तो निर्विवाद रूप से जिस भाषा का नाम आता है, वह है संस्कृत, कश्मीर का पुराना संस्कृत नाम काश्मीर है, जो अब बदलकर कश्मीर हो गया है। कश्मीर को 'शारदा देश' के नाम से भी जाना जाता है। शारदा देश यानी माता सरस्वती का निवास स्थान।

पिछली सदी में राजनैतिक उथलपुथल के चलते कश्मीर में इस भाषा के विकास पर किसी ने ध्यान ही नहीं दिया। पिछली शताब्दियों में यहाँ इस्लाम का प्रभाव बढ़ने लगा। ईराक से आए सूफी मीर सैय्यद शमसुद्दीन के प्रभाव से कश्मीर में इस्लाम मानने वालों की आबादी तेजी से बढ़ी। उसके बाद से क्षेत्र में संस्कृत का प्रभाव घटने लगा। कश्मीरी पंडितों के घाटी से पलायन के बाद संस्कृत का ज्ञान रखने वाले नाममात्र के लोग ही घाटी में रह गए थे।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. संस्कृति के चार अध्याय, रामधारी सिंह दिनकर, लोकभारती प्रकाशन

2. डुग्गर संस्कृति के मूल आधार, प्रो. सुखदेव सिंह चाड़क, अनुवाद डॉ. भारत भूषण शर्मा 2019

3. चाडक, सुखदेव सिंह, हिस्ट्री एंड कल्चर ऑफ हिमालयन स्टेट्स भाग - v

4. राजतरंगिनी, स्टाइन, अंग्रेजी रूपांतर, भाग 8

5. आर्य संस्कृति की खोज, रामशरण शर्मा, सारांश, 2001

6. जम्मू कश्मीर एक अनसुलझी पहेली- का सुखद अंत, डॉ. विवेक कुमार

7. चाड़क सुखदेव सिंह, ए शार्ट हिस्ट्री आफ जम्मू राज

8. शेरमन ई.ली., ए हिस्ट्री आफ ईस्ट्रन आर्ट

9. नीलमत पुराण (प्राचीन कश्मीर का इतिहास), मज्जिनसेनाचार्य, 1924

– सहायक निदेशक (रा. भा), जम्मू केंद्रीय विश्वविद्यालय, जम्मू

❑❑❑

मलयालम साहित्य में वैदिक दर्शन और योगशास्त्र

डॉ. के. वनजा

भारतवर्ष में शंकराचार्य की भूमि केरल की मज़बूत दार्शनिक परंपरा है। यहाँ वैदिक संस्कार अनेक काल से कायम हैं, इसलिए दर्शन के विकास के लिए कोई असुविधा नहीं थी। ईसवीं दूसरी शती में जीवित भवदास ने मीमांस-दर्शन के अंतर्गत आने वाली कृति जमनीय-सूत्रों की वृत्ति रची थी। ईसवीं सात सौ के आसपास प्रभाकर गुरु ने शाबह भाष्य के लिए बृहती और लघ्वी नामक व्याख्याएँ लिखीं। मीमांसा शास्त्र के पोषक पय्यूर पट्टेरियाँ भी केरल की संतान थे। वैष्णव आलवार कुलशेखर की 'मुकुंद माला' प्रसिद्ध कृति है, जिसमें दार्शनिक तत्व समाहित हैं। ऐसे महान आध्यात्मिक मार्ग पर चलने वाले लेखकों की परंपरा में ही आदिशंकर ने जन्म लेकर केरल और समस्त भारतवर्ष को धन्य किया था और अपने भाष्यों तथा 'सौंदर्य लहरी' आदि रचनाओं से अद्वैत सिद्धांत की प्रतिष्ठा की थी। मेल्पत्तूर का 'मानमेयोदयम' यहाँ याद रखने योग्य है। उपर्युक्त सभी दार्शनिकों ने संस्कृत साहित्य को समृद्ध और संपन्न करने में अपना मूल्यवान योगदान दिया है। ऐसी हस्तियों में कृष्णलीलाशुक का नाम भी बड़े आदर के साथ स्मरणीय है। ब्रह्मांणपुराण में दार्शनिकता प्रकट होने वाले कई संदर्भ हैं। गुरु गीता, सिद्धीपिका, जनकागस्त्य संवाद, तत्वमसी की व्याख्या जैसे अनेक दार्शनिक ग्रंथ निरणम कवियों में एक के द्वारा हुई।

केरल के भक्त कवियों में ज्ञान तथा सगुणलीला गायन प्रमुख रूप से विद्यमान हैं। श्रीमद्भागवत इन भक्त कवियों के लिए उपजीव्य बना है। रामायण तथा महाभारत से भी अपनी रचनाओं के लिए इन भक्तों ने काव्य सामग्री स्वीकार की है। वेदों, उपनिषदों तथा गीता से वे प्रभावित हुए थे। योगपद्धति की ओर भी वे झुके थे। मलयालम के संत कवि चेरुश्शेरी, पूंतानम्, मेलपत्तूर नारायण भट्टतिरी, एषुत्तच्छन आदि ऐसे संत थे, जो सगुण-निर्गुण दोनों को भगवान के रूप में मानते थे और ज्ञानोपदेश तथा भगवान की लीलाओं का गायन भी करते थे। राम और कृष्ण ही विष्णु के मुख्य अवतार थे, जिनकी लीलाओं को इन कवियों ने प्रभूत मात्रा में अपनी रचनाओं के लिए आधार माना था। पूंतनम ने 'ज्ञानप्पाना' शीर्षक रचना में भगवान के निराकार तथा ज्ञान महिमा का एक ओर तो वर्णन किया तो दूसरी ओर श्रीकृष्ण कर्णामृत में लीलावतार कृष्ण के वत्सल एवं उज्ज्वल भावों को विस्तार दिया। चेरुश्शेरी ने कृष्ण गाथा में सगुणलीला संबंधी पदों को प्रस्तुत करते हुए बीच-बीच में श्लोक रूप में निराकार ब्रह्म का उल्लेख किया। तुंचत्त रामानजन एषुत्तच्छन इस क्षेत्र में सबसे विचारणीय हस्ति हैं।

एषुत्तच्छन की रचनाओं में योगशास्त्र

हठयोगियों और कालों के समान दक्षिण के योगी भी कुंडलिनी जागरण को ही मुख्यता देते थे। कुंडलिनी वह परम जीवनशक्ति है, जो सभी व्यक्तियों के मूलाधार के नीचे त्रिकास्थियों के ऊपर तीन कुंडली बनाकर नीचे की ओर सिर किए रहती थी। उसी के ऊपर मेरुदंड स्थित है, जिसके भीतर से ब्रह्मरंध्र तक चलने वाली तीन अति सूक्ष्म नाड़ियाँ हैं। इसी शक्ति को जाग्रत करना योगियों का काम है। उसके लिए मूलाधार, स्वाधिष्ठान,

भाषा ISSN 0523-1418

मणिपूरक अनाहत, विशुद्ध आज्ञा आदि षड्चक्रों को पार करा के कुंडलिनी से सहस्र पद्म को भेदने का प्रयत्न योगियों की ओर से होता है। यही उनका परम लक्ष्य है। उस अवस्था में अमृतपान तथा अद्भुत नाद श्रवण का अवसर योगी को प्राप्त होता है और यह ब्रह्मानंद में तल्लीन हो जाता है। इस कुंडलिनी जागरण के पूर्व यम-नियमादि का पालन आसन-मुद्राबंध और प्राणायाम की विविध विधियों का अनुसरण भी आवश्यक माना जाता है। हठ योगी अपने शरीर और मन को सदैव शुद्ध बनाए रखने का प्रयत्न करता है। इसके लिए त्राटक, नेति, धौति, अग्निसारनौली, वस्ती इन शोध प्रक्रियाओं को स्वीकार करते हैं। दक्षिण सिद्धों ने इन क्रियाओं को स्वीकार किया है और इस कारण केरल में भी सर्वादृत रही हैं। पातंजलीय योगशास्त्र के अनुयायी यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान धारणा, समाधि के षड् को स्वीकार करते हैं। उनका लक्ष्य भी कैवल्य अथवा परमात्मा की प्राप्ति ही है। प्रकार भेद से अन्य योगचर्याएँ भी जैसे मंत्रयोग, स्वर योग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग, लययोग आदि को आश्लेषण करने वाले सिद्ध योगी भी दक्षिण में कम नहीं हैं।

पिंड में व्याप्त ब्रह्मांड कैलाश में स्थित सदाशिव को प्रत्यक्ष करना, विशिष्ट साधना के मार्ग से शक्ति का जागरण करना, विविध सिद्धियों को प्राप्त करना तथा ब्रह्मानंद या मोक्ष को प्राप्त करना योगियों का लक्ष्य था। वेद और उपनिषद काल से यह मार्ग प्रारंभ होकर गीता और पुराणों में गहराई से जड़ें जमा लेता है। वैखरी की स्वर-साधना करके जैसे सपेरा क्रुद्ध नाग को अपने वश में करके नचाता है वैसे योगी भी कुंडलिनी को जगाकर वश में कर लेता है। दक्षिण के योगी सिद्धियों को कभी-कभी सामाजिक कल्याण के लिए भी उपयोग में लाते थे और अंत में समाधिस्थ होने का साधन भी बना लेते थे। अपनी असीम सिद्धि और चमत्कार को समय-समय पर हम देखते आ रहे हैं।

इस योग विद्या का विशेष प्रभाव सभी भारतीय मध्यकालीन साहित्यों में प्राप्त होता है। मलयालम साहित्य का मध्यकाल सुवर्णकाल माना जाता है। उस समय के अधिकतर कवि भक्त या योगी या वैरागी थे। वेद, उपनिषद, योग-सूत्र, रामायण, महाभारत, महाभागवत आदि सभी पुराण ग्रंथ भारतीय साहित्यों को नित्य महान् स्रोत के रूप में उपजीव्य प्रदान करते थे। ईसवी दसवीं शताब्दी से लेकर महाभागवत और अध्यात्म रामायण कवियों के चिंतन मंडल को विशिष्ट सारणी प्रदान करने वाले अनुपम ग्रंथ रहे। मध्यकाल में दक्षिण भाषाओं में रामायण, महाभारत, महाभागवत तथा भागवतगीता और अन्य पुराणों का क्षेत्रीय भाषाओं में जो अनुवाद या स्वतंत्रानुवाद हुआ उन सभी में योग पद्धति का स्वर सर्वोच्च है। केरल के कवियों में कुलकूटस्थ तुंचत आचार्य रमानुजन एषुत्तच्छन का नाम मलयालम मध्यकालीन कवियों में उच्चतम है। उनकी मुख्य रचनाएँ अध्यात्म रामायण, श्रीमद्भागवत, श्रीमद्महाभारत, हरिनामकीर्तन तथा चिंतारलं स्थान-स्थान पर योगशास्त्र की महिमा को घोषित करते हैं। अंतिम ग्रंथ पूर्णतया योगशास्त्र ग्रंथ है, जो एक विशिष्ट शिष्य के लिए आचार्य के मुख कमल से निसृत योग पाठ हैं। अध्यात्म रामायण, महाभारत और भारत के भी अनेक प्रकरणों में प्रसंगवश योगचर्या का उन्होंने प्रतिपादन किया है। उनकी रचना अध्यात्म रामायण अद्वैत तत्वों का व्यापक परिचय देने वाला सैद्धांतिक ग्रंथ है, उसमें भक्ति और अन्य भारतीय सिद्धांतों का परामर्श है।

यथार्थतः एषुत्तच्छन एक साधक योगी थे। योग परक उनके चिंतन अधिकतया श्रीमहाभारतं, श्रीमहाभागवतं तथा चिंतारत्नं में स्थान-स्थान पर आए हैं। योग को ध्येय मानने वाले एक परमहंस की तूलिका से ही रचनाएँ संसार को प्राप्त हो सकती हैं। महाभारत में शांति पर्व में एषुत्तच्छन ने योग की संपूर्ण व्याख्या की। उसका सारांश निम्नलिखित है- हर साधक को चाहिए कि वह ब्रह्मर्च निष्ठा के साथ योग का अनुष्ठान करे। वेद, वेदांत, विविध शास्त्र आदि ज्ञान-विज्ञान के ग्रंथों का अध्ययन करे। वह नियम, आसन, प्राणायाम की विधियों को स्वीकार करते हुए उसको एक विशिष्ट आसन पर स्थित होकर मूलधार में स्थित कुंडलिनी शक्ति को सुषुम्ना नाड़ी द्वारा जागृत करना चाहिए। जब यह शक्ति बिजली की तरह षड्चक्रों को पार करे ब्रह्मरंध्र तक पहुँच जाती है तब चंद्रमंडल से अमृतवर्षा शुरू होती है। उस समय यह परमानंद में लीन होता है तथा काल, देश, अवस्था आदि की स्मृति से अलग हो जाता है। उसी स्थिति में परमपुरुष के रूप से संलग्नता प्राप्त कर विशिष्ट आनंद को प्राप्त करना ही योगी का लक्ष्य है।

श्रीमद्भागवत के मौसल पर्व में कवि ने श्रीकृष्ण के मुँह से बैकुंठ प्राप्ति की इच्छा व्यक्त करते हुए उसका वर्णन निम्न प्रकार से किया है बैकुंठ प्रवेश की इच्छा में रत कृष्ण सबसे पहले परमासनस्थ हो जाते हैं और शरीर को सीधा करके बैठ जाते हैं। फिर प्राणायाम के सहारे कुंडलिनी शक्ति को उद्दीप्त करके समस्त चक्रों को जला देते हैं। तदुपरांत सशरीर समाधि को प्राप्त करते हैं। उसी समय निषाद का सर निमित्त स्वरूप पैरों पर आकर लग जाता है। महाभारत के समान एषुत्तच्छन के श्रीमद्भागवत में भी योग तत्वों का विस्तार से वर्णन है। महाभागवत के विविध स्कंधों में हठयोग विद्या से कुंडलिनी जागरण और षड्चक्रों का उल्लंघन विस्तार से वर्णित है? योग की महत्ता और उससे प्राप्त परमानंद की प्राप्ति आदि योग कार्यों का सांगोपांग वर्णन करने वाले कवि के शब्दों से योगपरक ज्ञान का वास्तविक परिचर हमें प्राप्त हो जाता है। एक भुक्त योगी ही इस अनुभव रस का सच्चा वर्णन कर सकता है।

अध्यात्म विद्या का सम्यक् अध्ययन करने के लिए आई हुई अपनी शिष्या को आवश्यक तत्वोपदेश देने के उद्देश्य से ही उनकी रचना 'चिंतारत्नं' लिखी गई थी। यह कृति अत्युत्तम दार्शनिक ग्रंथ है। उपनिषदों से लेकर सांख्यवेदांतों के समग्र तत्वों के प्रतिपादन का भी प्रयत्न इस ग्रंथ में हुआ है। वेदशास्त्र में तथा मीमांसा में एषुत्तच्छन का जो अनुभव ज्ञान है, वह इस कृति में प्रमाणित है। सबसे बड़ी विशेषता यह है कि कवि ने योगशास्त्र का संपूर्ण वर्णन इस दृष्टि से किया है कि अपनी शिष्या योग विद्या को सरलला से अध्ययन कर पाएँ। इस योग विद्या के वर्णन के पूर्व ब्रह्मतत्व, विद्या, अविद्या स्थूल और सूक्ष्म शरीर के भेद, जीवात्मा परमात्मा आदि का स्वरूप इत्यादि सांख्य शास्त्र के तत्वों का प्रतिपादन करते हैं तथा मनुष्य के शरीर तत्व का परिचय देकर यथार्थ ज्ञान के लिए हठयोग के सहारे शक्ति जागरण का उपाय समझाते हैं। उस कृति से योग मार्ग संबंधी कवि के विचार नीचे उद्भत किए जाते हैं-

पंचभूतात्मकमाय त्वंङ्मांसस्थिकलकोंड
संचितत मायिट्टिरिप्पोन्निदेह क्षेत्रङल।
एषुंडु र्मातर्लातनोन्पतु कवाड वुम
ताषिकक्कुडत्तिनु कीषरुनिलकलुम।
अरायनिलय्क्कुमेलीलाराराम निलर्यात-
लारारिल परन परमेश्वरनिरिण्य तुम
उल्लकम स्वयंप्रभयाल प्रकाशिक्कुन्नतु
मुल्लिलेप्पाणकलुम करणव्यापारवुम
ओक्केयुं पार्त्तुकंडालोक्कुन्निल्लतुनिन
क्कुलक्कपिलुंडावानाय् चोल्लुवन कोळक्कुबाले

अर्थात् यह देह रूपी क्षेत्र पंचभूतात्मक है। त्वचा, मांस, अस्थि आदि का संचित रूप रहता है। उसकी सात दीवारें हैं, नौ किवाड़ हैं, ऊपर के कुंभज के नीचे छह कक्षाएँ हैं। छठी कक्षा के ऊपर बारहवीं तल्लों में छह परमपुरुष परमेश्वर स्थित हैं। भीतर स्वयं प्रभा से प्रकाशित है, हे बाले, भीतर की कारीगरी, कारण और व्यापार सभी को बाह्य नेत्रों से देखना संभव नहीं है। उसे भीतरी मन से देखने का उपाय उन्हें मैं बता दूँगा, सुन लो।

नाड़ी विवरण

तन्ङल तंङक्कुल्लोरु विरलकोंडोरु तेल्लुम
नीडत्तेयलन्नु सुक्षिच्चुनोक्किककाणुपोल
अंगुलम तोण्णूटारू कुटियालुल्लायत-
मेङुमे कुरयाते कंडीडा शरीरिणाम
न्मध्ये सुषुम्नाख्यनाडिकाकुन्नीततु
मोन्नायिट्टतु वेणुकाण्डमेन्नपतुपोले-
मुलच्चु मूलाधारंतन्निलन्नितु पिन्ने
वलर्न्नु कपालपत्मत्तोळमोन्नायिट्टु
सुषुम्नयुडे वलभागमें मूट्टिल मुल-
च्चेषुन्नु सुषुम्नमेल चुष्सुन्नु पडर्न्नुडन
वलर्नु कपालपत्मत्तोलमत्तिश्शेषि-
च्चङोडिंडु नालविरल नीलत्तिल तूंडियतु
पिंगलयेन्नुल्लोरु नाडियाकुन्नितु
तन्ने नासिका वलत्तेतायिट्टिरिप्पतुम।
पिंगला यथा ततात इडयुं वामपार्श्वे-
निन्नुन्डायितु वामनाडियाकुन्नितुं।
पिंगला सुषम्ना वा द्वै च पृष्ठ पार्श्वमा
पिंगलयप्पोल वलन्नोंटिंगु तून्डियतु
धारिक पुनरलंवुषयुमतुपोले
वामनलोचनं पिन्ने हस्तिजिह्वायां नाडि
वामकर्णमां वलत्तेच्चेवि गांधारियुं।
मूट्टिल निन्नुन्टायोरु नाडिकलेयिन्ङन
केट्टालुमतिन्नमेल मणिपूरकंनन्निल

कुक्कुटांडपोलोरू कन्दमुन्ट तिन्मेलनि-
न्नोक्कवेयुन्टाय वन्नु मट्ड्डुल ऊंरपुकल।
मुन्ने चोन्नवयेषु नाडियुमतिनुल्लिनल
तन्नेयन्यमुन्टायतीक्केयुं बहिर्भागे।
अक्किर्षान्डमेल न्नि नालु नाडिकलन्टा-
यौक्केय्क्कुं मूलमोन्नु मुखन्डुल वेवेरयाँ
सुषुम्नयुटे मुन्पिनकोक्किक्कुवामभागा-
लेषुन्नशुद्धि चक्रातिन्नधोभागत्तोलं
सुषुम्नयुटे सुषिरत्तिल तन मुखं कोटु
त्तिरुन्नुं मूद्र्धाक्किल पीयूषमुन्टाक्कुन्नु।
शंखिनियन्ने नाडियाकुन्नीतिलूटे
मुंन्पिलुन्टोरु नाडि तनमामं पर्यास्वीनी
तनमुन्पिल विश्वोदर याकुन्नीतवट्टिपु
मोन्नायीटुन्नु कोष्ठं तथ्न्मार्ग्गाननं द्विधा
भोजननाडियायिटुन्नितु विश्वोदरा
जीवननाडि पर्यास्वामिनियुमरिनन्नालुं
एवमिमूम्न्नु नाड़िक्कुं पुरोभागत्तिन्कल
मेवोटुन्नितु सरस्वतियाकुनन नाडि
रसयाकुन्नतेन्नरिक पिन्ने विश्वो-
दरतनमूलं रंटु मुरियायिरिप्पतिल
कीषमुरि पक्वाश्य पात्रमायतुपोले
मेलमुरियामशय पात्रवुंमरिकेटो।
पिन्नेयुं नाडीकन्दत्तिन्नधोभागार्त्तन्कल
निन्नु नाडिकल कीष्योट्टेक्कु पोयव मून्नूं
एन्ततिलवलीशकृत्यागकरिणी तदा
तन्नुटे मुखमायीटुन्नतु गुरुद्वार।
राकयेन्नेरु नाडि बालि तन मुन्पिलमूत्र
द्वारमाकुन्नितु वालियेप्पोलेतन्ने
राकाबालियेन्निव रन्टिनुं पुरोभागे
राकय्क्कु तनिक्कु मन्तरद्वार रण्डायिट्ट
बाह्य भागतु मुखोन्नायि शुकस्विनि
नाडियाकुनिनतुतन्ने शुक्लवाहिनि
इन्डुने पतिन्नालुनाडिकल देहंतन्निल
तिन्डिटुं वलंपून्टिट्टुल्लतेन्नरित्रालुं।
पिन्नेयुं नाडीकन्दाल तिर्यकमूर्ध्वाधोभागाल
पोडि्यन्नुवायोरिपत्तीररयिरं
एण्णुकिल कुरिविल्ला नाडिकल देहंतन्नि
लेन्डुमे पटर्न्नितु देहरक्षार्त्थम तदा।
सुषुम्नयुटे पिन्निल तन्डेल्लामतु बलं
कलर्न्नु देहक्षेत्रत्तिन्नु तूणेन्नपोले
वल्लनुं शिरस्साकुं ताषिकक्कुटत्तिनु
बलन्डुल कोटित्तिरिक्कुन्नितेन्नारित्रालुं।

अपनी-अपनी अंगुलियों से ठीक प्रकार से मापने पर मालूम होगा कि 96 अंगुल पर हर शरीर के भीतर मध्य से सुषुम्ना नाड़ी स्थित है। वह वेणुकांड की तरह मूलाधार से आगे बढ़कर कपाल पद्म तक जाकर मिल जाती है। सुषुम्ना के दाएँ भाग में नीचे से ऊपर सुषुम्ना को घेर कर कपाल पद्म तक फैलकर चार अंगुली लंबी लटकी नाड़ी पिंगला।

वह दाहिनी नाक तक पहुँचती है। इसी तरह इड़ा वाम से उगकर पिंगला की विपरीत दिशा से सुषुम्ना को घेर कर ऊपर कपाल पद्म में पहुँचकर वाम नासिका की ओर लटकती है। दाहिने क्षेत्र में उषा नामक नाड़ी है, वही अलंपुषा नाड़ी भी है। बाएँ नेत्र में हस्त जिह्वा नाड़ी है। दाहिने कान पर गांधारी नाड़ी है। अब नीचे से उत्पन्न नाड़िया जो हैं उनका नाम, सुन लो।

मणिपूरक के नीचे कुकुटाङ जैसा एक कंदमूल है। उसी से सब उगती हैं सब नसें भी उसी से उगती हैं। उसी से बाहरी नसें भी उगी हुई हैं।

उसी कंद से चार नसे जो उगी हुई हैं, उन सबका मूल एक ही है किंतु मुख भिन्न-भिन्न है। वे सुषुम्ना के आगे नाभि के वाम भाग में ऊपर शुद्धि चक्र के अधोभाग तक सुषुम्ना के विवर में मुख कर मूर्धा में पीयूष धारा पैदा करती है। शंखिनी उन में से एक है, उसके आगे पयस्विनी नामक नाड़ी है।

उसके आगे विश्वोदरा है। इनका कोष्ठ एक है तथा मार्ग दो हैं। विश्वोदरा भोजन नाड़ी है तथा जीवन नाड़ी है पर्यास्वनी, यह अच्छी तरह जान लो। इन तीनों के पुरो भाग में रसस्वती नाड़ी स्थित है। रसना के किनारे विश्वोदरा का मूल जो टुकड़ा होता है उसके नीचे का टुकड़ा पक्वाशय पात्र है और ऊपर का भाग आमाशय है। उसी तरह नाड़ी कंद के अधोभाग में से नीचे की ओर जाने वाली तीन नाड़ियाँ हैं। उनमें बलीश कृत्तयाग कारिणी का मुख है। गुरुद्वार राका नाड़ी बाली नाड़ी से आगे है वही मूत्रद्वार है। इन दोनों पुरोभाग में शुर्कास्वनी नाड़ी है। उसका तथा राका का अंतद्वार दो होकर बाहर एकमुखी हो जाता है। वही शुक्ल वाहिनी है। इसी तरह चौदह नाड़िया शरीर में

संपूर्ण बल के साथ स्थित हैं, जान लेना नाड़ी कंद से तिर्यक, ऊर्ध्व तथा अधोभाग से उगने वाली 22000 नाड़िया शरीर में सर्वत्र व्याप्त होकर देहरक्षार्थ स्थित हैं। सुषुम्ना के पीछे उस को सभी प्रकार का बल देने समस्त शरीर में स्तंभ के समान व्याप्त होकर कुंभज को बल देकर ये रहा करती हैं।

गात्रक्षेत्र

पन्चभूतन्ङलुटे गुणकोन्टुलवायि
सन्चितं त्यागादि धतुक्कलाला गात्रक्षेत्रं
तोलि चोर मांसं मेदे/स्थिमज्जयेन्निव
पल साधनन्ङलाल पणितिरितीरिक्कुन्न
मात्रक्षेत्रत्तिनोटु तुल्यमाय वन्नीटुमो
मूरं कल्लेन्नव कोंटुण्डायतु
ईश्वनिरिकुन्न क्षेत्रवुं प्रतिमयुं
गात्रक्षेत्तोलं महत्वं मदून्य था
क्षेत्रङ्ळकिल्लेन्नरिञीटुक मध्यभागे
निन्नरटुं सुषुमानयाम् नाडितन्नन्तर्भागे
श्रीकोविलांरुटतनिलोरोरो पीठन्ङलुं
श्रीकरमायुल्लतिन्मेल स्थितिचेयतीटुन्नु
शिवशक्तिकलकलयोटु निष्कलामायु-
मविटेत्तन्ने चराचरेषु वसिक्कुन्नु।
प्रतयेकमोरो शिवशक्ति क्षेत्रत्ति पुक्कु
नित्यवुं पूज क्रमाल वेय्तीटा मस्सिनु
मानस ध्वजमल्ले जीवन्नतिनाले
मानससहितनाय जीवन गमिच्चीटुं।
मूलारादयाधारमारिलुं पूजिक्कुम्पोल
मेले निन्नीटुं निरञ्जननां जीवन तदा।
तन्नन्तर्भगत्तिन्कलुल्लक्षेत्रन्ङतोरुं
ननायि स्थितचेय्युमीश्वरस्वूरपत्ते
तन्त्रियेप्पोले पूजिच्चीटां पूजाद्रव्यन्ङ
लेन्तेन्नालतुनिवेदिक्कां दासकवल सदा।
सेविक्कां वलंवय्क्कां सतुतिक्कां नमिच्चीटां
भवन्ङल तनिक्केनतेन्नालतु साधिच्चीटाम।
पिन्नेयेन्तिन वृथा सेविक्कुन्नन्यक्षेत्रं
तन्निल चेन्नीशन प्रतिमकलिलुन्डेन्नोर्त्तुम?
दीप तन्नुटे कैयिलिरिकुम नेरत्तिन्कल
तीयन्वेषिच्चु नटक्केणमेन्निल्लयलो।
वल्लजातियुं भगवतस्वरूपत्तेक्काण्क-
यल्लातेयोरू श्रद्धयिल्लल्लो मनस्सिनु।
एन्नान निन मनस्सिनालनन्नायि विचारिच्चु
तन्नुडे क्षेत्रंतन्नुटेन्नु बोध्ययमावा-
लन्यक्षेत्रान्ङलिलुं सेविच्चाल फलमुन्टां।
कण्णिल्लात्तंवन मोहाल पशुवेन्नुरचोरू
कन्निनेक्कोन्टपो वन्नीटुमरियाञाल।
गात्रमोर्क्कुम्पोल शिवक्षेत्रमाकुन्नतति-
लास्थया शिवन परमार्त्थकैवल्यप्रदन
नित्यन्वयन परमानन्दन परमात्मा
सत्यसन्कल्पनात्मावाकुन्नु निरामयन।
गात्रमायिरिक्कुन्न क्षेत्रवुमन्यमुल्ल
क्षेत्रवुं तम्मिलुल्ल भेदन्ङल निरूपिच्चाल
तीर्त्तुं चोल्लीटां सममल्लेन्नु, महिमक-
लेरेयमुन्टल्लो गात्रक्षेत्रत्तिनतुमल्ल,
गात्रङ्कलकोन्टु वेप्टिचुन्टाक्कटुन्नोरन्य-
क्षेत्रन्ङल धरातलंतन्निलुल्वयेल्लां।
गात्रमां क्षेत्र कर्म्म सहितं धावविनाल
कल्पितं पंचभूतसन्चितं तत्वावृत्तं।

पंचभूतों के गुणों से उत्पन्न हैं त्वक् आदि धातुएँ, उससे संचित है गात्र रूपी क्षे। त्वक्, रक्त, मांस मेदा, अस्थि, मज्जा आदि अनेक वस्तुओं से निर्मित शरीररूपी क्षेत्र के समकक्ष क्या लकड़ी, पत्थर आदि से निर्मित मंदिर रहेगा? ईश्वर का वास स्थान जो मंदिर और मूर्ति है, वही मानव जाल है क्योंकि वह पात्र होकर रहता है, गात्र रूपी क्षेत्र को जो महत्व है, हे वरानने, जान लो वह मंदिरों को प्राप्त नहीं है, ऐसे गात्र रूपी मंदिर के मध्य से जाने वाली सुषुम्ना नाड़ी के भीतर गर्भगृह है, उनमें एक-एक पीठ है। ऐश्वर्य प्रदान करते हुए वही शिव और शक्ति कलाओं के साथ निष्कलंक होकर रहते हैं। वहीं चराचर भी रहता है। एक-एक शिवक्षेत्र में प्रवेश कर रेज़ क्रम से मन-पूजा कर सकता है। जीवन मानस ध्वज है, इसलिए मानससहित होकर जीवन भी गमनशील होता है।

मूलाधार आदि छह आधारों की पूजा करते समय निरंजन रूपी जीवन ऊपर रहेगा। उसके भीतरी हर क्षेत्र में अच्छी तरह रम कर रहने वाले ईश्वररूप की तंत्रियों की तरह पूजा की जा सकती है। पूजा द्रव्य जो भी हैं, उन्हें दास की तरह अर्पित कर सकते हैं, सेवा कर सकते हैं, प्रर्दाक्षणा कर सकते हैं। इस तरह अपने सभी भावों की प्राप्ति की जा सकती है। तब क्यों अन्य मंदिरों

की सेवा करें? यह सोचकर कि मूर्तियों में हमारे ईश्वर निवास करते हैं। जब दीप हमारे हाथ में रहता है तब आग की खोज क्यों करें? किसी न किसी प्रकार भगवान के स्वरूप के दर्शन की बात को छोड़कर दूसरी श्रद्धा मन में नहीं रह जाती है। तुम्हें अच्छी तरह मन में ध्यान कर अपने भीतर रहने वाले ईश्वर के अस्तित्व का बोध जब हो जाता है तब अन्य मंदिरों की सेवा करने से फल वृद्धि होगी। नहीं तो उस अंधे जैसी स्थिति हो जाएगी, जो एक बछड़े को गाय समझ लेता है। हमारा शरीर शिव मंदिर ही है। उसी में आस्था के साथ परमार्थ कैवल्य प्रदान करने वाले नित्य, अद्वय परमानंद प्रदान करने वाले परमात्मा सत्य संकल्प निरामय ईश रहा करते हैं।

गात्र रूपी मंदिर तथा अन्य मंदिरों का अंतर सोच-विचार करने पर यही है- दोनों समान नहीं हैं। गात्र मंदिर की महिमा बड़ी है। संसार के सभी मंदिर गात्र रूपी मंदिरों से ही कार्यन्वित हैं। गात्र रूपी मंदिर कर्म सहित है, दात से कल्पित है, पंचभूत संस्थित है तथा तत्वों से आवृत है।

त्वङ्मांसास्थिकलकोन्टु रम्यमां शरीरत्तिल
निर्मलमाय मनोरथमुन्टतिनमीते
निन्नीटुमात्मा सच्चिन्मयनव्ययन सदा
जमादिहीनन जगत्क्कारणन परब्रह्मं
सर्वसाक्षियाय स
नातननाय सर्वात्मावाय
निर्विकारियायुल्ल परमात्मावुतन्ने
जीवनायतुमात्त्मावायतुं महामाया
देवियायतुं मायाकर्म्मनन्ङलायुल्लतुं
सत्तमायतुं मिध्ययातुं जगत्रय-
कर्तावायुतुमन्यमल्लेन्नु बोधिच्चालुं।
जीवात्मावेन्नुमात्मावेन्नुं चोल्लीटुन्नतु
केवलमल्ल मायाकार्यहेतुक्कल्लो
मायोपाधिकलिल मेवीटुम्पोल चोल्लुं जीव-
नायोन्नात्मावोन्नयन्यं परमात्मवोन्नेवं
एरियुं कूप घट मिन्ङने मून्नायिट्टु
पेरु चोल्लुन्नु जलं मुन्निलुमोन्नुतन्ने
कुंभ जीवनं कूपजीवनमोरिक्षीरं
सांप्रत्रमुपाधि भेदन्ङलकोन्टेवं चोल्लुं।
कुम्भत्तिलुल्ल जलं कूपत्तिल चेन्नीटुम्पोल
कुम्भशंकरमेन्न नामवुमिल्लातेयां।
कूपजीवनमन्टन्नेरमायततुमोरि-
क्षीरत्तिल चेक्कुमप्पोल कूपतोयवुं नहि,
एरियिलन्नु वेराय तीन्निय नीरुं क्रमा
लेरियिल तन्ने चेरुमन्नेरमतुपीले
जीवनचैतन्यं परमार्थिकनायीटुम्पोल
जीवनेन्नुल्ल नामे पोय पारमार्थिकनां
पारमार्थिकायोरात्मावु कूटस्थनाय
चेरणं परमानन्दामृतमायीटुन्न
परमात्माविनोटन्नेरमातवुतन्ने
परमात्मावुमेन्नु बोधिक्का वषिपोले।

त्वचा, मांस अस्थि आदि से बने इस रम्य शरीर में निर्मल मनोरथ स्थित है, उसके ऊपर स्थित आत्मा सच्चिन्मय, अपव्यय सदा जन्मादिहीन जगत् कारण सर्वसायी, स्नान, सर्वात्मा, निर्विकार परब्रह्मरूपी परमात्मा ही है। समझ लो कि वही जीवन है, आत्मा है, महामाया देवी है, मायाकर्म है, सत्य है, मिथ्या है, जगत्रय कर्ता है, दूसरी नहीं है।

जो जीवात्मा परमात्मा के भिन्न नाम से अभिहित हैं वे केवल माया नहीं कार्य कर्तव्य है। माया की उपाधियों के रहते समय जीवात्मा परमात्मा भिन्न नामों से पुकारे जाते हैं। जैसे तालाब, कूप, घट आदि के जल तीन नामों से पुकारे जाते हैं। कुंभ और कूप का जल आदि सभी एक ही जल है, उपाधि भेद से भिन्न कहा जाता है। कुंभ का जल जब कूप में पहुँचता है तो कुंभजल नाम भी मिट जाएगा। इसी तरह कूप जल को तालाब के जल में मिलाने पर कूप जल नहीं रहता, दोनों एक हो जाते हैं। इसी प्रकार जीवन चैतन्य भी पारमार्थिक बन जाता है तो जीवन का नाम मिटेगा, पारमार्थिक नाम रहेगा। पारमार्थिक आत्मा कूटस्थ से मिलने पर परमानंदामृत रूप परमात्मा हो जाता है, यह बोध धीरे-धीरे उत्पन्न हो जाता है।

इसी तरह योग विद्या के विस्तार से कवि वर्णन करते हैं और सभी छोटी-बड़ी प्रक्रिया का व्यावहारिक परिचय शिष्या को प्रदान करते हैं। वस्तुतः यह ग्रंथ अध्यात्म विद्याओं की अनुपम व्यावहारिक रचना है, जिसे एक भुक्त भोगी योगी कवि ने तैयार किया है।

इसी से मालूम होता है कि 'तिंतारत्न' में संख्याशास्त्र तथा अन्य आध्यात्मिक सिद्धांतों का संकलन करके

योग तत्वों का प्रतिपादन करना ही कवि का मुख्य उद्देश्य रहा है। चिंतारत्न वस्तुतः आध्यात्मिक चिंतन के सभी रत्नों की एकावली है। परमात्मबोध प्राप्त करने के लिए योग की प्रधानता को इस ग्रंथ में स्पष्ट कर दिया गया है।

मध्यकालीन साहित्यकारों में एषुत्तच्छन के अलावा सर्वश्रेष्ठ भक्त कवि पूंतानम के अनेक स्रोत तथा ज्ञानप्पाना नामक ग्रंथ विशेष उल्लेखनीय हैं। वेदांतों के रत्नों को संचित रखते हुए योगमार्ग का भी आंशिक परिचय उस कवि ने दिया है। एषुत्तच्छन के शिष्यों में भी करुणाकरा एषुत्तच्छन के 'ब्रह्मपुराणम' में तथा 'शिवरात्रिमाहात्म्यम' में योग संबंधी चर्चा मिलती है। गोपालन एषुत्तच्छन के स्कंध पुराण में योग सिद्धांतों का उल्लेख प्राप्त होता है। बाद में कोट्टयम केरल वर्मा से रचित भीष्मोपदेश मोक्षदायकं, वैराग्य चंद्रोदयं आदि रचनाओं में भी अष्टांग योग महिमा का लघु विवरण है।

केरल में व्यापक रूप से सर्पों की आराधना होती है। सर्प मूर्तियों को देखते समय ऐसा लगता है कि सुषुम्ना को घेरी हुई इडा और पिंगला नाड़ियाँ हों। सचमुच सर्पकुंडलिनी का प्रतीक माना जाता है। उसी जागरण का कर्म केरल के सत सिद्ध करते थे, जिसके लिए सर्पों की पूजा करते थे। मलयालम साहित्य में अनेक कुंडलिनी गीत और सर्प गीत प्राप्त हैं। उनका विषय भी योगांर्तगत कुंडलिनी योग ही है। इसी तरह गणपति के आकार में कुंडलिनी का आरोप कुछ विद्वान करते हैं। केरल में गणेश पूजा भी बहुत प्राचीन है।

यही मध्यकालीन केरल की संत परंपरा आगे तक चलकर चट्टंपी स्वमिकल तथा श्री नारायण गुरु में आकर नया उन्मेष पाती है। ये दोनों संत शूद्र थे ओर वेदाध्ययन, योग साधना तथा पूजा क्रम को स्वीकार करके कर्म से अपने को द्विज सिद्ध कर गए। साधारण से साधारण जन को भी समझने लायक सरल देशीय भाषा में वैदिक धर्म सिद्धांतों को चट्टंपी स्वामिकल ने अपनी रचनाओं में प्रकाशित किया। संस्कृत को त्याग कर देशीय भाषा ने उन सिद्धातों को समझाने का प्रयत्न किया। कठिन से कठिन साधना मार्ग के व्यावहारिक परिचय देकर उन्होंने सभी जातियों एवं वर्णों के लोगों को इस भारतीय धर्म-मार्ग की ओर आकृष्ट किया। चट्टंपी स्वामिकल के ही मार्ग को स्वीकार कर श्री नारायण गुरु ने भी भारतीय जनता में व्याप्त जाति-पाति एवं भेद-भावनाओं का खंडन किया-

"ओरु जाति ओरु मतं ओरु दैवं मनुष्यनु"

ओरु योनियोराकारेमोरु भेदव मिल्लतिल' का सिद्धांत वाक्य प्रस्तुत कर उन्होंने अपने सिद्धांत पर ज़ोर दिया कि- मनुष्य की एक ही जाति है, एक धर्म है एक ईश्वर है। एक ही योनि से वह पैदा होता है, एक ही आकार लेकर आता है। इसलिए मनुष्य-मनुष्य में कोई भिन्नता नहीं है। आधुनिक जन जीवन में जाति, धर्म, भाषा, वर्ग, आदि के आधार पर परस्पर संघर्ष करने वाले जनसमूहों के लिए यह कैसा दिव्य उपदेश है, इसका हम अनुमान कर सकते हैं। इसी प्रकार इन संतों ने मानवतावादी चिंतन से युक्त समसृष्टि स्नेह, सहयोग, स्नेह, स्वार्थ, त्याग, उदारता, दूसरों के प्रति सहानुभूति आदि महान आदर्शों के साथ ही साथ धर्मभेद, जाति-पाति, पंडित-पामर भेद आदि हीन भावनाओं को त्यागने का महान उपदेश दिया। स्वयं उन्होंने यह करके दिखाया। इस हेतु जन साधारण को वे अपने प्रवचनों की ओर आकृष्ट कर पाए। करनी और कथनी की यह एकरूपता आज के युग में दुर्लभ है, किंतु स्नेह रहित, विद्वेष एवं स्वार्थता से जटिल, युयुत्सा वृत्ति से कलुषित आधुनिक जीवन में हमारे संतों की वाणी रुग्ण हृदय को लेपन के लिए सुखदायक ही सिद्ध होगी। इसलिए निस्तर्क यह कहा जा सकता है कि मध्यकालीन भारतीय संतों का मानवतावादी दृष्टिकोण एवं सांस्कृतिक आध्यात्मिक चिंतन की एकरूपता एवं आदर्शपूर्ण सुख-समृद्ध लोक कल्याणदायक लोकजीवन का लक्ष्य इस यांत्रिक युग में भी प्रासंगिक है, स्वीकार्य है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि एषुत्तच्छन से लेकर कवियों तक ने भारतीय वैदिक दर्शन के विविध रूप विविध प्रकार से मलयालम साहित्य में प्रयुक्त किए हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. चिंतारत्नम - एषुत्तच्छन
2. योयचिकित्सा शस्त्रम- डॉ. एन रामन नायर

– प्रोफेसर, हिंदी विभाग, कोच्ची विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, कोच्ची - 22

❑❑❑

काव्य और छांदोग्योपनिषद् की प्राणमयी संस्कृति

डॉ. राजेश कुमार

संस्कृत-काव्यशास्त्र में काव्य को केंद्र में रखकर गहन चिंतन-मनन किया गया है। अनेक लब्धप्रतिष्ठ आचार्यों ने काव्य को सुपरिभाषित करने का प्रयास किया है। प्रत्येक आचार्य स्वयं की श्रेष्ठता को निरूपित करने हेतु चेष्टाशील उद्योग करता हुआ दिखाई पड़ रहा है। रसवादी आचार्य ने 'रस' को आधार मानकर काव्य को परिभाषित किया है, जबकि 'अलंकार', 'ध्वनि', 'वक्रोक्ति', 'रीति', 'औचित्य' के समर्थक आचार्यों ने अपने ढंग से काव्य की अवधारणा प्रस्तुत की है। 'काव्य' शब्द और अर्थ की रमणीय भावदशा है, जिसमें जीवन की प्राण-संस्कृति का ध्वनन अपरिहार्य है। महर्षि यास्क ने 'कवयकर्त्ता' को कवि की संज्ञा से अभिहित कर उसे क्रांतदर्शी माना है -

"कवयतीति कविः तस्य कर्म काव्यम्।
कवयः क्रांतदर्शिनः।"[1]

आचार्य भामह ने शब्दों और अर्थों के समन्वय को काव्य माना है। भामह अलंकारवादी आचार्य हैं। इसीलिए शब्दालंकार और अर्थालंकार को प्राथमिकता देते हुए उन्होंने कहा है -

"शब्दार्थो साहितौ काव्यं, गद्य पद्यं च तद्विधा।"[2]

भामह की उपर्युक्त परिभाषा में 'अतिव्याप्ति' दोष है। शब्द-अर्थ प्रत्येक ग्रंथ में होते हैं, लेकिन उन्हें 'काव्य' नहीं कहा जा सकता है। आचार्य मम्मट ने दोषरहित शब्द-अर्थ को गुणों की उपस्थिति में काव्य माना है, जब उनमें कभी-कभी अलंकारों का भी पुट हो-

"तद्दोषौ शब्दार्थो सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।"[3]

काव्य की सर्वोत्कृष्ट परिभाषा का निरूपण करते हुए 'पंडितराज' जगन्नाथ ने रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्दों को काव्य की संज्ञा प्रदान की है -

"रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम।"[4]

आचार्य विश्वनाथ ने रस को प्रधान मानते हुए रसयुक्त वाक्य को काव्य माना है -

"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।"[5]

उपर्युक्त के आलोक में यह कहना मुझे युक्तिसंगत प्रतीत हो रहा है कि पंडितराज जगन्नाथ की परिभाषा सभी प्रकार के मानकों पर औचित्यपूर्ण है। जहाँ रसवादी रस को वरीयता दे रहे हैं, वहीं अलंकारवादी 'अलंकार' को प्रधानता दे रहे हैं। ध्वनिवादी आचार्य आनंदवर्द्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है, तो कुंतक ने वक्रोक्ति को काव्य के लिए अनिवार्य माना है। रीतिवादी आचार्य वामन ने 'काव्य की आत्मा' रीति को स्वीकार किया है। आचार्य क्षेमेंद्र ने तो 'औचित्य' के रूप में 'संप्रदाय' ही स्थापित कर दिया है, जिसमें उन्होंने औचित्य को सर्वोपरि माना है -

"कंठे मेखलया नितम्ब फलके तारेण हारेणवा।
पाणौ नूपुर बंधनेन चरणे केयूरपाशेन वा।।
शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया न यान्ति के हास्यताम्।
औचित्येन विना प्रतनुते नालङ्कृतिर्नो गुणाः।।"[6]

अर्थात् कंठ में मेखला, नितंब-फलक पर हार, हाथों में नूपुर बाँधने अथवा चरण में केयूर पहनना, शौर्य दिखाने की जगह शत्रु पर करुणा का भाव प्रदर्शित

करना, औचित्य के बिना इनकी सार्थकता अलंकरण नहीं करती है। कहने का अभिप्राय यह है कि संस्कृत काव्य-शास्त्र में काव्य की गूढ़-गम्भीर मीमांसा की गई है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'चिंतामणि' में कविता को हृदय की मुक्तावस्था का प्रकटीकरण कहा है। हृदय की मुक्तावस्था से उनका अभिप्राय 'मैं' और 'मेरे' की भावना से मुक्त होने से है। जिस प्रकार हमें अपने बच्चों के सुख-दुख में आत्मीय अनुभूति होती है, ठीक वैसी ही अनुभूति दूसरों के बच्चों के सुख-दुख में हो, तभी हम हृदय से मुक्त होते हैं। इसी हृदय की मुक्तावस्था का शाब्दिक ध्वनन कविता कहलाता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है -

"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं। इस साधना को हम भावयोग कहते हैं और कर्मयोग और ज्ञानयोग के समकक्ष मानते हैं।"[7]

उपर्युक्त के संदर्भ में आचार्य शुक्ल जी ने हृदय की मुक्तावस्था की शब्द-संयोजना को कविता माना है। आत्मा की मुक्तावस्था का अर्थ है - व्यक्ति का अज्ञान से पृथक हो जाना। हृदय की मुक्तावस्था का अर्थ है - अपने और पराए की भावना से पृथक हो जाना। हृदय की मुक्तावस्था का प्रकटीकरण जब शब्दबद्ध होता है, तभी काव्य की सर्जना का औचित्य सिद्ध होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि कवि-कर्म जीवन की प्राण-चेतना से सुसंबद्ध होता है। देश-काल की परिस्थितियों से जीवन की क्रांतदर्शिता का प्रवेग जाग्रत होता है। इसीलिए काव्य जीवन-सापेक्ष होता है।

काव्य में तद्युगीन जीवन की संपूर्ण प्रवृत्तियाँ भासमान होती हैं युगीन चेतना की व्यक्त, अव्यक्त आकांक्षाएँ काव्य में अभिव्यक्त होती हैं। भले ही काव्य में स्पष्टतः युगीन विकरालता की व्यंजना चाहे प्रत्यक्ष हो या परोक्ष हो या प्रतीक-ध्वनि आदि के संकेतित अर्थ में हो, किसी न किसी रूप में युगीन परिस्थितियाँ एक सच्चे रचनाकार को अपनी ओर आकर्षित करती रही हैं। हिंदी के लब्ध प्रतिष्ठ कवि और आचार्य त्रिलोचन जी ने वैदिक मंत्रों की जिस तरह आधुनिक परिप्रेक्ष्य में मीमांसा की है, वह न केवल उनकी स्थितप्रज्ञ मनीषा का दिग्दर्शन है, अपितु जीवन की विराट व्याख्या के संकेत-चिह्नों का प्रकटीकरण है। प्रसिद्ध सविता-मंत्र की ओर लक्ष्य करते हुए त्रिलोचन जी ने लिखा है -

"वैदिक काल में संगठित रूप से आर्य लोग अपने शत्रु का सामना करते थे। इस कारण उनके साहित्य में सामाजिक ऐक्य की भावना का परिपूर्ण विकास पाया जाता है। प्रसिद्ध गायत्री मंत्र तक में 'नः' का प्रयोग है।

आर्यों की दृष्टि अधिकतर सामूहिक अभ्युदय साधना की ओर थी, इसलिए जिस प्रकार संघर्ष के समय, उसी प्रकार शांति के समय भी उनका सामाजिक अवबोध निरंतर जागरूक रहता था।"[8]

उपनिषद् साहित्य में जीवन की सांस्कृतिक विचारशीलता का स्तवन पाया जाता है। याज्ञिक वेदों से ही कर्मकांड की आवृत्ति करते थे और उसकी श्रेष्ठता का उद्घोष भी करते थे। घोड़ों की बलि का जो विधान वेद में है, उससे अध्वर्यु को क्या मिलता है, यह तो राम जानें। इतना अवश्य है कि रसनेंद्रिय की तृप्ति का आशय सभी को विदित था।

जीवन की प्राणमयी संस्कृति का वैज्ञानिक विवेचन करने के लिए छांदोग्योपनिषद् से 'नारद' और 'सनत्कुमार' की विचार-चिंतना का निरूपण बहुत आवश्यक है।

नारद समस्त शास्त्रों का अध्ययन करने के उपरांत आचार्य सनत्कुमार के पास उपसन्न हुए। नारद ने कहा - "भगवन! मैं मंत्र वेत्ता हूँ आत्मवेत्ता नहीं।" आप जैसों से मैंने सुना है कि आत्मवेत्ता शोक को पार कर लेते हैं। कृपया मुझे शोक से पार कीजिए। सनत्कुमार ने कहा कि तुमने अब तक जो ज्ञान अर्जित किया है, उसके आगे से मैं तुम्हें समझाऊँगा। नारद ने कहा - "संसार में श्रेष्ठ क्या है।" सनत्कुमार ने कहा - नाम श्रेष्ठ है, अतः तुम नाम की उपासना करो -

> "नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वण - श्चतुर्थ इतिहासपुराणः पंचमो वेदानां वेदः पित्यो राशिर्दैवो निधिर्वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्या ब्रह्मविद्या भूतविद्या क्षत्रविद्या नक्षत्रविद्या सर्वदेवजनविद्या, नामैवैतन्नामोपास्स्वेति।"[9]

अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद पाँचवा वेद इतिहासपुराण, व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातज्ञान, निधिज्ञान, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, निरुक्त, वेदविद्या, भूतविद्या, धनुर्वेद, ज्योतिष, गारुड़, संगीतादि कला और शिल्पविद्या - ये सब नाम हैं। तुम नाम की उपासना करो। छान्दोग्योपनिषद् में नारद-सनत्कुमार के संवाद द्वारा नाम से लेकर प्राण तक की महत्ता का निदर्शन है।

नारद ने कहा - क्या नाम से भी कुछ श्रेष्ठ है।

सनत्कुमार ने कहा- "नाम से बढ़कर भी है ही।"

इस प्रकार यह कहे जाने पर नारद बोले - "यदि है तो भगवन्! मुझे बतलाइए।"

सनत्कुमार ने कहा - वाक् ही नाम को विज्ञापित करती हैं वाक् ही ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, आथर्वण वेद, पंचम वेद इतिहास-पुराण, वेदों के वेद व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातज्ञान, निधि ज्ञान, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, निरुक्त, वेद विद्या, भूत विद्या, धनुर्वेद, ज्योतिष, गारुड़, संगीतशास्त्र, द्युलोक, पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, तेज, देव, मनुष्य, पशु-पक्षी, तृण-वनस्पति, श्वापद, कीट-पतंग, पिपीलिकापर्यंत प्राणी, धर्म और अधर्म, सत्य और असत्य, साधु-असाधु, मनोज्ञ-अमनोज्ञ जो भी हैं, उसे वाक् ही विज्ञापित करती है। अतः तुम वाक् की उपासना करो -

"वाग्वाव नाम्नो भूयसी वाग्वा ऋग्वेद विज्ञापयति यजुर्वेद - सामवेदमाथर्वण चतुर्थमितिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदं पिष्यँ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविधाँ-सर्पदेवजनविद्यां दिवं च पृथ्वि च वायुं चाकाशं चापश्च तेजश्च देवांश्च मनुष्याँश्च पशूँश्च वयाँसि च तृण वनस्पतीश्वापदान्याकीटपतंगपिपीलिकं धर्मं चाधर्मं च सत्यं चानृतं च साधु चासाधु च हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं च यद्वै वाङ्नाभविष्यन्न धर्मो नाधर्मों वयज्ञापयिष्यन्न सत्यं नानृतं न साधु नासाधु न हृदयज्ञो नाहृदयज्ञो वागेवैतत्सर्वं विज्ञापयति वाचमुपास्स्वेति।"[10]

इसके पश्चात् सनत्कुमार वाक् की अपेक्षा मन की श्रेष्ठता का निरूपण करते हैं, क्योंकि मन की शक्ति से ही वाणी विज्ञापन करती है -

"मनो वाव वाचो भूया यथा वै द्वे वामलके द्वे वा कोले द्वौ वाक्षौ मुष्टिरनुभवत्येवं वाचं च नाम च मनोऽनुभवति स सदा मनसा मनस्यति मंत्रा-नधीयीयेत्यथाधीते कर्माणि कुर्वीयेत्यथ कुरुते पुत्राँश्च पशूँश्चेच्छेयेत्यथेच्छत इमं च लोकममुं चेच्छेयेत्यथेच्छते मनोह्यात्मा मनो हि लोको मनो हि ब्रह्म मन उपास्स्वेति।"[11]

मन ही वाणी से श्रेष्ठ है। जिस प्रकार दो आँवले, दो बेर अथवा दो बहेड़े मुठ्ठी में समाहित हो जाते हैं। उसी प्रकार वाणी और नाम का मन में तिरोभाव हो जाता है। यह पुरुष जिस काल में मन से विचार करता है कि 'मंत्रों का पाठ करूँ' तभी वह ऐसा करता है। जिस समय उसकी चेतना-शक्ति 'काम करूँ' तभी वह काम करता है, जब वह विचार करता है कि पुत्र और पशुओं की कामना करूँ, तभी संकल्प करता है। इस लोक और परलोक की कामना करूँ, तभी वह उनकी कामना करता है। इस प्रकार सिद्ध है कि मन ही आत्मा है, मन ही लोक का अभिधान है और मन ही ब्रह्म है। अतः तुम मन की उपासना करो। इसी प्रकार मन को जो ब्रह्म मानकर उपासना करता है, उसकी गति वहाँ तक हो जाती है, जहाँ तक मन की गति होती है। इस संदर्भ में छान्दोग्योपनिषद् से उदाहरण द्रष्टव्य है -

"स यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्मनसो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो मनो ब्रह्मोत्युपास्तेऽस्ति भगवो मनसो भूय इति मनसो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति।"[12]

मन से संकल्प की श्रेष्ठता उद्बुद्ध करते हुए छान्दग्योपनिषद् के चतुर्थ खंड में वर्णित है -

"संकल्पो वाव मनसो भूयान्यदा वै संकल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति तामु नाम्नीरयति नाम्नि मंत्र एकं भवक्ति मंत्रेषु कर्माणि।"[13]

संकल्प से चित्त की प्रधानता है। चित्त की अपेक्षा ध्यान का महत्व है। इस संदर्भ को समझाते हुए सनत्कुमार ने पृथ्वी, अंतरिक्ष, द्युलोक, जल, पर्वत, देवता, मनुष्य की ध्यान-वृत्ति को अंगीकार किया है -

"ध्यानं वाव चित्ताद्भूयो ध्यायतीव पृथ्वी ध्यायतीवांतरिक्षं ध्यायतीव द्यौर्ध्यायंतीवायो ध्यायंतीव पर्वता

ध्यायंतीव देवमनुष्यास्तस्माद्य इह मनुष्याणां महत्ताँ प्राप्नुवन्ति ध्यानापादाँशा इवैव ते भवन्त्यथ येऽल्पा:कलहिन: पिशुना उपवादिनस्तेऽथ ये प्रभावो ध्यानापादाँशा इवैव ते भवन्ति ध्यानमुपास्स्वेति।"[14]

इसी प्रकार सनत्कुमार ने ध्यान से विज्ञान, विज्ञान से बल को श्रेष्ठ माना है, क्योंकि सौ विज्ञानियों को एक बलवान विचलित कर देता है –

"बलं वाव विज्ञानाद्भूयोऽपि ह शतं विज्ञानवतामेको बलवानाकम्पयते। स यदा बली भवत्यथोत्थाता भवत्युत्तिष्ठन् परिचरिता भवति परिचरन्नुपसत्ता भवत्युपसीदन् द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्त्ता भवति विज्ञाता भवति। बलेन वै पृथ्वि तिष्ठति बलेनांतरिक्षं बलेन द्यौर्बलेन पर्वता बलेन देवमनुष्या बलेन पशवश्च वयाँसि च तृण वनस्पतय: श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलिकं बलेन लोकस्तिष्ठति बलमुपास्स्वेति।''[15]

बल ही विज्ञान से श्रेष्ठ है। सौ विज्ञानियों को एक बलशाली उद्विग्न कर देता है। जिस समय यह पुरुष बलवान होता है, तभी उठने वाला होता है तभी परिचर्या करने वाला होता है ओर तभी समीपगमन करने वाला होता है, श्रवण करने वाला होता है, मननशील होता है, बोधयुक्त होता है, कर्त्ता होता है और विज्ञाता होता है। बल से पृथ्वी का आधार है, बल से ही अंतरिक्ष, बल से ही द्युलोक, बल से ही पर्वत, बल से ही देवता, बल से ही मनुष्य, बल से ही पशु–पक्षी, तृण, वनस्पति, श्वापद और कीट–पतंग तथा चींटी सहित समस्त प्राणी अवस्थित हैं। बल से ही संसार स्थित है। इसलिए बल श्रेष्ठ है।

बल से अन्न को श्रेष्ठ माना है, क्योंकि अन्न से ही बल पैदा होता है तथा अन्न से ही ऊर्जा का संचरण होता है। यदि कोई भोजन का परित्याग कर दे तो उसका बल क्षीण हो जाएगा। इस संदर्भ में उदाहरण द्रष्टव्य है–

"अन्नं वाव बलाद्भूयस्तमाद्यद्यपि दशरात्री नाश्नीयाद्यद्यु ह जीवेदथवाद्रष्टा श्रोतामंताबोद्धाकर्ताविज्ञाता भवत्ययथान्नस्यायै द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्ता भवति विज्ञाता भवत्यन्नमुपास्सवेति।"[16]

अन्न की अपेक्षा जल को वरेण्य माना है। जल की अपेक्षा तेज की प्रधानता स्वीकार की गई है। तेज से आकाश की प्रधानता स्वीकार की गई है।

आकाश की अपेक्षा स्मरण का महत्व बतलाया गया है। स्मरण से आकाश की महत्ता प्रतिपादित की गई है।

"आशा वाव स्मराद्भूयस्याशेद्धो वै स्मरो मंत्रनधीते कर्माणि कुरुते पुत्रँश्च पशूँ श्वेच्छत इमं च लोकममुंचेच्छत आशापास्स्वेति।"[17]

इसी क्रम में आशा को स्मरण से श्रेयस्कर माना गया है। इस प्रकार जीवन की प्राणमयी संस्कृति को छांदोग्योपनिषद में निरूपित किया गया है। ये वे चीजें हैं, जो विश्व को भारतीय संस्कृति की महती देन हैं। प्राण आशा से श्रेष्ठ है।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि संस्कृत–आचार्यों ने काव्य की अवधारणा तथा प्राणमयी संस्कृति को लेकर अध्यात्म की विराट चेतना का पल्लवन किया है। मनोविज्ञान के धरातल पर भी छांदोग्योपनिशद् का चिंतन–मनन उदात्त है। जीवन की विस्तृत और विराट मानव–संचेतना के विकास में छांदोग्योपनिशद् का वैविध्य अनुपम है। नारद और सनत्कुमार की संवाद–योजना जीवन के विविध संदर्भों को ज्ञान–विज्ञान के निकष पर सार्थक बनाती है।

संदर्भ–ग्रंथ सूची

1.'निरुक्त', महर्षि यास्क, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी।

2.'काव्यालंकार', आचार्य भामह, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी।

3.'काव्य प्रकाश (1/4)', आचार्य मम्मट, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी।

4.'रसगंगाधर; (काव्यमाला पृष्ठ 4), पंडितराज जगन्नाथ, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी।

5.'साहित्यदर्पण', आचार्य विश्वनाथ, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी।

6.'औचित्यविचार चर्चा', आचार्य क्षेमेंद्र, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी।

7.'चिंतामणि' (भाग–1), आचार्य रामचंद्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, पृष्ठ : 192–193

8.'काव्य और अर्थ-बोध', त्रिलोचन, साहित्यवाणी प्रकाशन, 28 पुराना अल्लापुर, इलाहाबाद-211006, प्रथम संस्करण, 1995, पृष्ठ : 153
9.'छांदोग्योपनिषद्', गीताप्रेस, गोरखपुर-273005 (उ.प्र.), अठारहवाँ पुनर्मुद्रण संख्या 2070 वि. पृष्ठ : 677
10. वही, पृष्ठ : 680
11. वही, पृष्ठ : 683
12. वही, पृष्ठ : 685
13. वही, पृष्ठ : 686
14. वही, पृष्ठ : 697
15. वही, पृष्ठ : 704
16. वही, पृष्ठ : 708
17. वही, पृष्ठ : 723

– एसोसिएट प्रोफेसर हिंदी, सेठ पी.सी. बागला (पी.जी.) कॉलेज, हाथरस, उत्तर प्रदेश-204101

❑❑❑

संस्कृत और वैदिक धर्म : श्रीमद्भागवद्गीता के विशेष संदर्भ में

प्रो. रवींद्र कुमार

वैदिक धर्म, वास्तव में, सनातन धर्म है। शब्दार्थ और स्वयं में निहित मूल भावना, दोनों के दृष्टिकोण से शाश्वत, अर्थात् सदा स्थापित व्यवस्था–बिना प्रारंभ तथा अंतरहित सदैव प्रवाहमान नियम सनातन धर्म है। सनातन धर्म चर–अचर एवं दृश्य–अदृश्यमान ब्रह्मांड–जगत के एक ही व्यवस्थापक, नियंत्रक और संचालक –ईश्वर, परमेश्वर, परमात्मा, प्रभु आदि असंख्य नामों से संबोधित एकमात्र शाश्वत सत्ता, जो परमसत्य भी है, और उसी के आधार पर सार्वभौमिक एकता की वास्तविकता को समर्पित है। यह शाश्वत परिवर्तन नियम की सत्यता को अंगीकार कर सर्वकल्याण के उद्देश्य से अनुकूल परिस्थितियों का अपने परम कर्तव्य के रूप में निर्माण करने एवं अस्तित्व की प्रत्याभूति, प्रगति और लक्ष्य–प्राप्ति हेतु अपरिहार्य वृहद् सजातीय सहयोग व सामंजस्य हेतु अहिंसा को, इसकी दो सर्वोत्कृष्ट तथा व्यावहारिक अभिव्यक्तियों सहिष्णुता और सहनशीलता के साथ, दैनिक गतिविधियों और परस्पर संबंधों का आधार बनाने का मानव का आह्वान करता है।

संपूर्ण एकता –अविभाज्य समग्रता की सत्यता और एक ही सार्वभौमिक सत्ता ब्रह्म की वास्तविकता के प्रकटकर्ता वेद –ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद, सनातन धर्म के आदिकालीन व आधारभूत ग्रंथ हैं, मूल व्याख्याता हैं। वेद विश्व की प्राचीनतम तथा अत्यंत ही परिमार्जित एवं वैज्ञानिक व्याकरण की धनी संस्कृत भाषा में, जो हिंदी, सिंधी, बांग्ला, मराठी, पंजाबी, गुजराती, ओड़िया, असमिया आदि सहित अधिकांश आधुनिक भारतीय भाषाओं के साथ ही नेपाली भाषा की भी जननी है तथा जिसका अन्य भारतीय भाषाओं –मलयालम, तेलुगु, तमिल तथा कन्नड पर गहन एवं कई एशियाई–यूरोपीय भाषाओं पर भी, न्यूनाधिक, प्रभाव है, रचित हैं। अन्य लगभग सभी आधारभूत वैदिक धर्म ग्रंथ भी संस्कृत भाषा में ही रचित हैं। संस्कृत में ही रचित उपनिषद् वैदिक वाङ्मय के अभिन्न भाग हैं। अर्थात्, वेदों के भाग हैं और वे, इसीलिए, वेदांत भी कहलाते हैं। वेदों की मूल भावना के अनुसार ही ब्रह्म –परमात्मा, सार्वभौमिकता, आत्मा, अध्यात्म आदि सहित समस्त मूल मानवीय विषयों से संबंधित ग्राह्य परम ज्ञान अद्वितीय गुरु–शिष्य परंपरा के माध्यम से उपनिषदों द्वारा निरूपित है। प्रमुखतः वेदों और उनके अभिन्न भाग उपनिषदों द्वारा व्याख्यायित और प्रसारित होने के कारण ही सनातन धर्म को वैदिक धर्म भी कहा जाता है।

चूँकि वैदिक धर्म के मूल –आधारभूत ग्रंथ संस्कृत में हैं, अन्य प्रमुख ग्रंथ–रण्स्मृतियाँ, संहिताएँ, वेदांग, पुराण, आरंयक सहित ब्रह्म, जीव और जगत ज्ञान के व्याख्याता उपनिषद् आदि भी इसी भाषा, वैदिक और लौकिक संस्कृत में हैं, संस्कृत भाषा में प्रकट वैदिक मंत्रों और इसी में रचित अन्य ग्रंथों के श्लोकों के माध्यम से वैदिक धर्म के मूल सिद्धातों की विवेचना–व्याख्या हुई है, इसलिए वैदिक धर्म और संस्कृत एक–दूसरे से घनिष्ठतः संबद्ध हैं।

श्रीमद्भागवद्गीता वेदों में प्रकट सार्वभौमिकता और ब्रह्मवाद तथा उपनिषदों के अध्यात्म –ग्राह्य परम ज्ञान को अपने में समाहित करती है। तदनुसार मानव

का उसकी जीवन सार्थकता के परमोद्देश्य से मार्गदर्शन करती है। इस प्रकार श्रीमद्भागवद्गीता स्वयं सनातन –वैदिक धर्म के एक मूल, अति प्रभावशाली एवं अनुकरणीय ग्रंथ के रूप में उभरती है। वैदिक धर्म की मूल भावना को, स्वयं धर्म की श्रेष्ठतम व्याख्या करते हुए और धर्म को मानव–कर्तव्य के रूप में प्रतिष्ठापित करते हुए, प्रस्तुत करती है। जगत–स्वरूप के संबंध में अश्वत्थ विद्या, ब्रह्म के संदर्भ में अव्ययपुरुष विद्या, परा प्रकृति–जीव के विषय में अक्षरपुरुष विद्या, अपरा प्रकृति–भौतिक जगत के संबंध में क्षरपुरुष विद्या का सूक्षमता, स्पष्टता तथा निष्पक्षता से विश्लेषण एवं योगशास्त्र, 'कर्मयोग' 'योग कर्मसु कौशलम' द्वारा मानवतावाद को प्रकटकर्ता पवित्र और ग्राह्य संदेश श्रीमद्भागवद्गीता को अध्यात्म क्षेत्र की एक अद्वितीय और शीर्षस्थ कृति के रूप में स्थापित करता है। 'योग कर्मसु कौशलम' का वासुदेव श्रीकृष्ण का आह्वान प्रत्येक मनुष्य के लिए है। श्रीमद्भागवद्गीता किसी भी प्रकार के भेदभाव के बिना प्रत्येक मानव का तदनुसार मार्गदर्शन करते हुए संशयों, द्वंद्व और असमंजस की स्थिति से बाहर निकालकर उसे सुकर्मों की ओर अग्रसर करती है।

श्रीमद्भागवद्गीता (18 अध्यायों में 700 श्लोकों को समाहितकर्ता व मूल रूप से महाभारत के भीष्मपर्व के भाग से निर्गत ग्रंथ) वेदों एवं उपनिषदों की ही भांति मूलतः संस्कृत भाषा में स्थापित एक ऐसा अति उत्कृष्ट ग्रंथ है, जिसने सैंकड़ों वर्षों से भारत ही नहीं, विश्वभर के विद्वानों, चिंतकों और मानवतावादियों के विचारों और कार्यों को गहराईपूर्वक प्रभावित किया है।

लौकिक संस्कृत में रचित श्लोक श्रीमद्भागवद्गीता की एक अति उत्कृष्ट विशेषता है। इसने सैंकड़ों वर्षों से देश–विदेश के परम विद्वानों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है। परिणामस्वरूप इसके मूल संस्कृत पाठ का विश्वभर की पचास से भी अधिक भाषाओं में अनुवाद हुआ है। प्राचीन से आधुनिककाल तक के अनेकानेक ऋषितुल्य भारतीय संतों–चिंतकों, विशेषकर आदि शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, ज्ञानेश्वर, बाल गंगाधर तिलक, अरविंद घोष, स्वामी विवेकानंद व महात्मा गांधी के साथ ही डब्लू. डी. पी. गिल, सेनार्ट, जी. थिबुत, एडगर्टन, फॉलर, एवं थिओडोर जैसे अग्रिम पंक्ति के विदेशी विद्वानों ने भी इस पर, इसमें प्रमुखता से उभरे विषयों को केंद्र में रखते हुए, भाष्य–टीकाएँ लिखीं। वैदिक धर्म के मूल सिद्धांतों के साथ ही विशेष रूप से श्रीमद्भागवद्गीता में प्रकट निष्कामकर्मयोग –स्वाभाविक कर्मों में संलग्न रहते हुए और ब्रह्मांड –जगतपति परमेश्वराधीन रहकर ही निःश्रेयस प्राप्ति –जीवन सार्थकता का सिद्धांत, जैसा कि हम सभी जानते हैं, इनमें सर्वप्रमुख रहा है। इस रूप में श्रीमद्भागवद्गीता, निस्संदेह, विश्वभर के गिने–चुने धर्म ग्रंथों में से एक है। इस ग्रंथ की समानता करने वाला कोई और धर्म ग्रंथ, कदाचित, पूरे विश्व में नहीं है।

परमात्मा के अनादि, सर्वमूल –तेज, बुद्धि, शक्ति और सत्य के स्रोत एवं जगत कारक होने की वास्तविकता को प्रकट करते श्रीमद्भागवद्गीता के अध्याय सात के तीन (6, 7 तथा 10) अति मूल्यवान और लोकप्रिय श्लोकों का उल्लेख यहाँ प्रासंगिक होगा:

"एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।।
मत्तः परतरं नान्यत्किञ्दिस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।।
बीजं माँ सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।।"

संक्षेप में, सार्वभौमिक एकता, सर्वसमानता और सत्य की पराकाष्ठा सर्वशक्तिमान परमेश्वर –ब्रह्म सहित वैदिक धर्म के मूल सिद्धांतों की अतिश्रेष्ठ व्याख्या व तत्वज्ञान का लौकिक संस्कृत –सुसंस्कृत काव्यशैली में वर्णन श्रीमद्भागवद्गीता की विलक्षणता है। इसी के साथ श्रीमद्भागवद्गीता वैदिक धर्म और संस्कृत भाषा की घनिष्ठता का एक बेजोड़ एवं अतिश्रेष्ठ उदाहरण भी है।

– मेरठ विश्वविद्यालय, मेरठ, उत्तर प्रदेश

❑❑❑

स्वामी दयानंद सरस्वती का वेदों के प्रचार में योगदान

डॉ. राजरानी शर्मा

वेद हमारे वैदिक धर्म और हिंदू धर्म के मूलग्रंथ हैं। भारत में धार्मिक विकास, विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं के विकास और नाना संप्रदायों के ज्ञान के लिए वेदों का ज्ञान अपेक्षित है। "अपने प्रातिभ चक्षु के सहारे साक्षात्कृत धर्मा ऋषियों के द्वारा अनुभूत अध्यात्मशास्त्र के तत्वों की विशाल विमल राशि का ही नाम वेद है"।[1] वेद विद्या, सृष्टि-विद्या का ही दूसरा नाम है।

वेदों के विषय में पूर्व और पश्चिम के दो पृथक दृष्टिकोण सामने आते हैं। पश्चिमी दृष्टिकोण के अनुसार वेद मानवीय मस्तिष्क की आरंभिक चेतना की अटपटी उक्तियाँ हैं। मनुष्य जाति के सीखतर बच्चे जिस कौतूहल के साथ विश्व की प्रत्येक वस्तु को नवीनता की दृष्टि से देखते हैं, वही छाया वेदों में है। एक सीखतर बच्चे की अनुभूतियों में किसी उच्च एवं प्रतिष्ठित दार्शनिक विचारधारा की कल्पना नहीं की जा सकती।

भारतीय दृष्टिकोण, वेदों को ऋषि-मुनियों का संचित ज्ञान मानता है। उनके अनुसार "जो कोई दिव्य समष्टि ज्ञान है, वे उसी की शब्दमयी अभिव्यक्ति है।" भारतीय दृष्टिकोण वेदों के प्रति अथाह श्रद्धा रखता है। वस्तुतः भारतीय दृष्टिकोण ही व्यापक और संतुलित है।

अत्यंत महिमा मंडित उपनिषद और ब्राह्मण ग्रंथों का आधार वेद ही हैं। इस साहित्य से प्राप्त अमृतार्थ को वाक्-तत्व कहते हैं; जिसके परा और अपरा नामक दो रूप हैं। अपरा स्थूल शब्द मयी वाक् है और परा वाक् मूल अक्षर-तत्व है जो हृदय का स्पर्श करता है।

वैदिक सृष्टि-विद्या की दृष्टि से विश्व में दो ही मूल तत्व हैं-एक देव, दूसरा भूत। प्रजापति के भी दो रूप हैं- एक अनिरूक्त, दूसरा निरूक्त, एक अमूर्त दूसरा मूर्त, एक प्रत्यक्ष, दूसरा परोक्ष। वेदों में सृष्टि को 'सप्ततंतुमय यज्ञ' कहा है। एक मन, एक प्राण और पंच भूत इन सात तंतुओं से सृष्टि का निर्माण होता है। तंतुओं में आकाश तत्व सबसे सूक्ष्म है। मन, प्राण, वाक् का त्रिक् क्रमशः सत्व, रज और तम कहलाता है। यह त्रिक् विश्व-रचना का आधार है। "सृष्टि की वैदिक कल्पना त्रिक पर समाश्रित है। तीन लोक, तीन देव, तीन छंद, तीन मात्राएँ, अनेक रूपों में त्रिक की व्याख्या की जा सकती है। ये जो अ, उ, म अक्षर हैं वे ही उस त्रिपाद ब्रह्मा की भास्वती तनू हैं। जिसे ओम भी कहते हैं। स्त्री-पुरुष- नंपुसक, यह लिंगवती तनू है। अग्नि, वायु, आदित्य इन तीनों का नाम भास्वती तनू है। ब्रह्मा, रुद्, विष्णु यह अधि. पतिवती तनू है। ऋक, यजु, साम यह विज्ञानवती तनू है। भू, भुव, स्व यह लोकवती, भूत, भव्य, भविष्यत यह कालवती, प्राण, अग्नि, सूर्य यह प्राणवती, अन्न, आप्, चंद्रमा यह वाप्यायनवती, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आहवनीय यह मुखवती, बुद्धि, मन, अहंकार यह चेतनवती और प्राण, अयान और व्यान यह प्राणवती तनू हैं"।[2]

इससे पूर्व कि स्वामी दयानंद सरस्वती द्वारा वेदों के प्रचार-प्रसार पर आया जाए, वैदिक साहित्य पर एक सरसरी नज़र डाल लेते हैं। वैदिक साहित्य के तीन भाग हैं-

1. संहिता- यह वैदिक साहित्य की सृजनात्मक और पद्यात्मक सीढ़ी है। इसमें चार संहिताएँ हैं। "मंत्रों के समुदाय को संहिता कहते हैं और किसी देवता

विशेष की स्तुति में प्रयुक्त होने वाले अर्थ-स्मारक वाक्य को मंत्र कहते हैं"।[3] ये मंत्र या तो 'ऋक' (SENTENCES) (VERSES)के रूप में हैं या 'सामन' (CHANTS) के रूप में या यजुष् (VERSES) के रूप में। ऋग्वेद संहिता में 1017 सूक्त और 10580 ऋचाएँ हैं। जिनमें अनेक देवी-देवीताओं की स्तृति की गई है। मंत्रों को दस भागों में संग्रहित किया गया है, उनमें से प्रत्येक को मंडल कहते हैं।

सामवेद संहिता के कुल 1549 पदों में से 75 को छोड़कर शेष सब ऋग्वेद में भी हैं। मूल यजुर्वेद की दो प्रमुख शाखाएँ हैं- शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद, इनकी आगे अनेक शाखाएँ-उपशाखाएँ हैं। यजुर्वेद की व्याख्यात्मक सामग्री ब्राह्मण में मिलती है। यह गद्य और पद्य दोनों में लिखा गया है इसमें धर्माचार के किसी विशेष अंग की प्रधानता के स्थान पर पूर्ण यज्ञाचार पर बल दिया गया है। ऋक्, साम और यजु: का संबंध यज्ञानुष्ठान से है और अथर्ववेद का संबंध जन्म-मरण आदि से संबंध रखने वाले संस्कार या राज्यारोहरण जैसी राजकीय प्रथाओं से है। अथर्ववेद का विषय मुख्यत: शांतिपौष्टिक है। जिसका लक्ष्य उत्पात की शांति और राज्य की पुष्टि है। सभ्यता के ऐतिहासिक विकास की जानकारी अथर्ववेद में ही है। इसके बीस भाग है जिसमें कुल छह हजार मंत्र हैं। अंतिम भाग के लगभग संपूर्ण मंत्र ऋग्वेद में मिलते हैं।[3]

2. ब्राह्मण- ब्राह्मण ग्रंथों में यज्ञानुष्ठान का विस्तारपूर्वक उल्लेख है। इनका प्रधान विषय ब्रह्मन अर्थात् बढ़ने वाला, वितान, यज्ञ होने के कारण इन्हें ब्राह्मण कहा गया''। इनका वर्ण्य-विषय विधि, अर्थवाद और वेदांत, इन तीन प्रकरणों में विभक्त किया जा सकता है। 1-विधि रूप में (IN THE FORM OF PRECEPTS), ये धर्मानुष्ठान, यज्ञादि का आदेश, अनुष्ठान के समय और साधनों का निर्देश तथा उसकी रीति का वर्णन करते हैं। 2-विधि-विधान की पुष्टि विमर्श (EXEGESIS), तर्क (POLEMIC), देवाख्यान (MYTHOLOGY), सिद्धांत (DOGMA), आदि से की गई है, इस काम को अर्थवाद कहते हैं। 3-विषय-प्रतिपादन में यत्रतत्र दार्शनिक विचार भी उठ खड़े होते हैं, जो बहुधा ब्राह्मणों के अंत में मिलते हैं, उन्हें वेदांत का नाम दिया गया है"।[4]

वेदों का अंत होने के कारण उपनिषदों को ही वेदात कहा जाता है। ब्राह्मणों के पूरक 'आरण्यक' कहलाते हैं।

3. सूत्र-ग्रंथ- "वैदिक साहित्य की अंतिम सीढ़ी सूत्र-साहित्य है। जिसका संग्रह वेदों और शाखाओं के अनुसार हुआ है। सूत्रों का उद्देश्य ब्राह्मणों के प्रकरणों को, जिन पर वे आश्रित हैं, संक्षिप्त रूप से क्रमबद्ध करके व्यवहारोपयोगी बना देना है। संक्षेपमूलक उद्देश्य के कारण वे ऐसी शैली में लिखे गए हैं कि उनका बोध भाष्य के बिना अति दुष्कर है। इसी प्रकार की शैली का अनुकरण भारतीय दर्शन-साहित्य और व्याकरणों में हुआ दीख पड़ता है"।[5]

अत: ब्राह्मण ग्रंथ 'संहिताओं' के और सूत्र ग्रंथ 'ब्राह्मण ग्रंथों' के अनुयायी होते हैं।

सूत्र साहित्य के तीन भाग हैं-

1. श्रौत-सूत्र- इनका संबंध ऐसे कर्मों से है जो आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि से साध्य माने जाते हैं।

2. गृह्य-सूत्र-गृहस्थ के जन्म से लेकर मरण तक के संस्कारों से संबंधित नियमों का निदर्शन है।

3. धर्मसूत्र- गृहस्थ के कर्तव्य, आत्मपरिशोधन, तप, निषिद्ध आहार, ब्रह्मचारी के कर्तव्यों का निदर्शन है।

लेख में आगे महर्षि दयानंद के विचारों पर वेदों का प्रभाव और हिंदी भाषा को वेदों के रूप में स्वामी दयानंद के योगदान पर बात की जाएगी। इतिहास में स्वामी दयानंद समाज-सुधारक के रूप में देखे जाते हैं। जैसा कि पहले भी लिखा जा चुका है कि वेदों की महत्ता को लेकर पाश्चात्य और भारतीय दो विचार धाराएँ प्रचलित थीं। स्वामी दयानंद ने वेद के विषय में एक तीसरी नवीन और महान विचारधारा का आरंभ किया। वे वेदों को न तो कर्मकांड की पुस्तक मानते थे न आदिम आर्य जाति के गीत। वेदों के संबंध में स्वामी दयानंद की दो मुख्य मान्यताएँ थीं-

1. वेदों के ज्ञान का प्रकाश ईश्वर ने सृष्टि के आरंभ में अग्नि, अगिरा, वायु व आदित्य नामक चार ऋषियों के अंत: करणों में मानव जाति के ज्ञान व कल्याण के लिए किया।

2. सनातन सर्वज्ञ परमात्मा का ज्ञान होने से वेद में सारा ज्ञान-विज्ञान बीज रूप में विद्यमान है, इसी से वेद स्वतः प्रमाणित हैं।

"दयानंद ने वेद में निहित ज्ञान को मुख्य रूप से चार विषयों में बाँटा है- एक विज्ञान अर्थात् सब पदार्थों को यथार्थ रूप से जानना, दूसरा कर्म, तीसरा उपासना तथा चौथा ज्ञान"[6]

विज्ञान से दयानंद का अभिप्राय ज्ञान, कर्म और उपासना के समुचित उपयोग से ईश्वर सहित पूरी सृष्टि का बोध करना है। कर्म के अंतर्गत वे कर्मकांड आते हैं जिससे जीवन में परमार्थ व लोक-व्यवहार की सिद्धि होती है। ज्ञान का अर्थ है प्रकृति के सभी पदार्थों का ठीक से ज्ञान करके कार्य सिद्ध करना। दयानंद की इस नवीन विचारधारा के अनुसार वेदों में समस्त ज्ञान-विज्ञान बीज रूप में उपस्थित है और वैदिक ग्रंथों में ऋषियों ने उसी का विकास किया है। इसी विचारधारा के उन्मेष के कारण न तो अब वे मात्र कर्मकांड की पुस्तक थे न ही प्रकृति की शक्तियों की पूजा। अब वेद आध्यात्म और ईश्वरीय ज्ञान के परिचायक बन गए।

वेदों के विषय में स्वामी दयानंद की एक और महत्वपूर्ण स्थापना है, वह है- "एक नवीन यथार्थवादी दर्शन का प्रतिपादन जो त्रैतवाद कहलाया। ईश्वर-जीव और प्रकृति इन तीनों सत्ताओं को अनादि मानना ही त्रैतवाद है। स्वामी दयानंद वेदों को बहुदेवोपासना और बहुईश्वरवादी की बजाय एकेश्वरवादी मानते हैं। दयानंद जी ने कहा कि वेदों में परा और अपरा दोनों विद्याएँ हैं तथा वेदों का परम तात्पर्य सर्वशक्तिमान परमात्मा का बोध कराना है, इससे यह परा विद्या प्रधान है- अतः परमोऽर्थो वेदाना ब्रह्मौवास्ति"।[7]

वस्तुतः वेदों में एकेश्वरवाद की स्थापाना करके दयानंद जी मैक्डोनल, मैक्समूलर आदि पाश्चात्य विचारकों के उन मतों का खंडन कर रहे थे, जिनमें इन विचारकों ने वेदों को अद्भुत देवनगर बनाकर उषा देवी को कभी सूर्य की पत्नी मान लिया और कभी माता। कभी वेदों में तैंतीस देवताओं की उपासना की बात कह दी, कभी वैदिक देवताओं की तुलना ग्रीक गाथा-शास्त्र के 'अपेलो' आदि देवताओं से कर दी। दयानंद ने इन पाश्चात्य विद्वानों के मतों को नकारा और बहुदेवोपासना का खंडन करते हुए कहा- "चारों वेदों में देव शब्द अनेक मंत्रों में आया है और प्रायः विद्वानों ने इसके अर्थ ईश्वर के रूप में किए हैं, जिसमें वेद के वास्तविक अभिप्राय को समझने में कठिनाई हो गई है क्योंकि देव से ईश्वर को ग्रहण करने पर उसे उपासनीय बना दिया गया है, जबकि वेदों में सदैव ही देव उपासनीय नहीं है और विशेष रूप से जब तक कि इससे परमदेव परमात्मा का तात्पर्य न हो। देवता शब्द से ईश्वर का अर्थ लेना वेद के संबंध में एक भारी भूल है"।[8] निरूक्त में भी कहा गया है-

"देवो दानाट्ठा द्योतनाद्भ द्युस्थानो भवतीति वा"[9]

अर्थात् दान देने से देव है, प्रकाश करने से देव है, उपदेश देने और पालनादि करने से (गुरु, माता-पिता) देव हैं, सूर्यादि लोकों का प्रकाशक भी देव है। निरूक्त के अनुसार ये सभी मनुष्य के लिए लाभकारी होने के कारण देव की श्रेणी में तो आ जाते हैं परंतु ये उपासनीय देवता नहीं है। दयानंद जी ने दो प्रकार के देव माने- 1 व्यावहारिक देव-सूर्य, चंद्र, उषा आदि व्यवहार के देव हैं, उपासना के योग्य नहीं हैं। इनमें कुछ पार्थिव हैं, कुछ प्रकृति की शक्तियाँ हैं तथा कुछ परमात्मा की शक्तियाँ हैं।

उपासनीय देव-केवल ईश्वर की उपासना की जा सकती है।

'शतपथ ब्राह्मण' ग्रंथ में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जो परमात्मा के अतिरिक्त किसी अन्य देवता की उपासना करता है, वह पशु के समान है-

"योन्या देवतामुपान्ने न स वेद यथा पशुरेव स देवानामा"[10] निश्चित रूप से 'शतपथ ब्राह्मण' पाश्चात्य विचाराकों से अधिक प्रामाणिक होगा। वस्तुतः वेदों में इंद्र, सूर्य, उषा, मरूत आदि देवताओं के लिए भी उन्हीं विशेषणों का प्रयोग किया गया है, जो ईश्वर के लिए आते हैं और भ्रांति का कारण भी वही हैं। इस भ्रांति के निवारण के लिए दयानंद जी ने हमें 'प्रकरण और विशेषण' का नियम दिया। इसके अनुसार "जिस-जिस स्थल पर वेदों के मंत्रों में स्तुति, प्रार्थना, उपासना, सर्वज्ञ, व्यापक, शुद्ध, सनातन और सृष्टिकर्ता आदि विशेषण दिए हैं, वहाँ पर देवताओं के नामों से परमेश्वर के अर्थ ग्रहण करने चाहिए क्योंकि सर्वज्ञत्व सनातनता, शुद्धता व सृष्टि कर्तृत्व आदि गुण केवल परमात्मा में ही हो

सकते हैं। वेद में 'अग्न्यादि नामों से मुख्य अर्थ परमेश्वर का ही ग्रहण होता है'।[11]

यदि गहराई से वेदों का विश्लेषण किया जाए तो उनमें भी दयानंद जी एकेश्वरवाद का समर्थन करते हैं। यजुर्वेद में कहा गया है–

"ईशावास्यमिदं सर्व यत्किचं जगत्याच्जगत"[12] अर्थात् सृष्टि में जो कुछ भी चर–अचर संसार है वह सब सर्वशक्तिमान परमेश्वर में व्याप्त है।

"तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चंद्रमा। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापति"।[13] अर्थात् वही ज्ञानस्वरूप होने के कारण अग्नि है, सबको ग्रहण करने से वही आदित्य है, अनंत बलवान होने से वही वायु है, आनंददायक होने से वह चंद्रमा है, शुद्धभाव युक्त होने से शुभ है, महान होने से वह ब्रह्म है, सर्वत्र व्यापक होने से आप और सबका स्वामी होने से प्रजापति है।

एकेश्वरवाद की पुष्टि करते हुए ही ऋग्वेद में लिखा है–

"तमीशान् जगतस्तस्थुपस्पति घियं जिन्वमवसेहूमहे वयम् पूषानो यथा वेद सामसद वृवे रक्षिता पायुरदब्ध स्वस्तये"[14] अर्थात् हम लोग अपनी रक्षा के लिए उस ईश्वर की जो जंगम और स्थावर सबका स्वामी है, बुद्धि का प्रेरक है। वह परमात्मा हमारे वनों की वृद्धि करता है, हमारा कल्याण करता है, हमारा रक्षक और पालक है। एक अन्य स्थान पर भी लिखा है–

"ईद्रं मित्र वरुणमग्निमाहुरथोदिव्य न सुपर्णो गरुत्यान्। एक सद्विप्रा बहुधावदन्तिऽग्नि यमं मातरिश्वानमाहु"[15] अर्थात् विद्वान सद्रूप परमात्मा का अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं, उसी को इंद्र, मित्र, वरुण, अग्नि, उत्तम ज्ञानी, उत्तम कर्म वाला, यम और मातरिश्वा वायु भी कहते हैं।

इसी की पुष्टि अथर्थवेद में भी हुई है–

"सधाता सविधर्ता स वाययुर्नभ उच्छ्तम्। सोडर्यमा स वरूण सरूद्र स महादेवः। सोडग्नि स उ सूर्यः स उ एव महायम''।[16]

अर्थात् वह परमात्मा पोषण करने वाला, वही धारण करने वाला, वही महाबली वायु है और सबका नायक अर्यमा है, वही श्रेष्ठ वरुण है, वही रूद्र है, वही महादेव है, वही अग्नि है, वही सूर्य है और वही सबसे बड़ा न्यायकारी महायम है। वेद में एक अन्य स्थान पर और इसी भाव का विस्तार है–

"ससर्वस्मै वि पश्यति यच्च प्राणति यच्च न। तमिदं नि गत सहं स एष एक एकवृदेक एव। सर्वे अस्मिन् देवा एकवृत्तो भवन्ति''।[17]

अर्थात् वह परमात्मा, संसार को विविध प्रकार से देखता है, जो श्वास लेता है और नहीं भी लेता, उसको सब प्राप्त है। वह आप ही एक अकेला, अपने आप में एक है। सारे देव इसी के रूप में स्थित हैं। इस प्रकार से चारों वेदों में अनेक मंत्र है, जो एकेश्वरवाद को सिद्ध करते है।

जिस प्रकार वेदों में एकेश्वरवाद को लेकर दो मत चलन में आए। उसी प्रकार कुछ आधुनिक इतिहासकार और पाश्चात्य विचारक यह मानते आए थे कि वेदों में ब्रह्म–विद्या नहीं है, उसका विकास उपनिषदों में हुआ–[18]

दयानंद जी के विचार इसके विपरीत हैं वे कहते हैं कि "वेदों का मुख्य तात्पर्य परमेश्वर को ही प्राप्त कराने और प्रतिपादन करने में है। xx सब वेदवावयों में ब्रह्म का ही प्रतिपादन है कहीं साक्षात रूप से और कहीं परंपरा से"।[19] वे अपने इस कथन को कठोपनिषद से प्रमाण देते हुए पुष्ट करते हैं– "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपासि सर्वाणि च यद्वदन्ति"[20] अर्थात् सारे वेद जिसे गाते हैं वह 'ओउम' है। महर्षि दयानंद के अनुसार चारों वेदों में वर्णित ब्रह्म–विद्या, वेदों से ही ली गई है।

वेदों में सृष्टि–रचना के विषय में भी अनेक वचन मिलते हैं जैसे वेदों की रचना का आरंभ–कारण और उपादान सामग्री क्या है, और वह किस प्रकार से, जिसमें जगत का सृष्टा जगदीश्वर भूमि तथा सूर्यादि लोकों को उत्पन्न करता हुआ उन्हें अपनी महिमा से विविध प्रकार से आच्छादित करता है–

"किस्विदासीदधिष्ठानमात्रम्मणं कतमस्वित्कथासीत यतो भूमिजनयन्विश्वकर्मा वि द्यामौणान्महिना विश्वचक्षा"[21]

यह वेदों की रचना–पद्धति है कि पहले प्रश्न करते हैं फिर उत्तर देते हैं– सर्वत्र जिसकी दर्शन शक्ति है सर्वत्र जिसका उपदेश हो रहा है, जो सब प्रकार से पराक्रम युक्त है और सर्वत्र जिसकी शक्ति व्याप्ति है वह अद्वितीय परमात्मा देव परमाणुओं से पृथ्वी व द्यू लोको की रचना करता हुआ अपने अनन्त पराक्रम से सब जगत को सम्यक् प्राप्त होता है–

"विश्वतश्चक्षुरूत, विश्वतोमुखो विश्सतोवाहुरूत विश्वतस्पात्। सै बाहुभ्यां धमति स पतत्रैर्धवाभूमी जनयन्देव

एक"।[22]

स्वामी दयानंद की यह मान्यता है कि वेदों में सृष्टि का रचयिता परमात्मा को माना गया है जिसकी महिमा अपार है। वे ईश्वर को सृष्टि का निमित कारण भी मानते हैं। जैसा कि ऋग्वेद के एक मंत्र में कहा भी गया है-

द्वा सुपर्णा सयुजा सरवाया समान वृक्ष परिषस्व जाते तयोरन्य पिप्पल स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाक शीति"।[23] अर्थात् दो सुपर्ण यानि ब्रह्म और जीव एक ही प्रकृति रूपी वृक्ष पर मित्रतायुक्त साथ-साथ रहते हैं इनमें से जीव कर्मफलों का भोग करता है तथा परमात्मा भोग न करते हुए केवल उसका प्रकाश करता है। इस मंत्र में द्रष्टा ऋषि तीन अनादि तत्वों का संकेत करता है- एक ईश्वर या ब्रह्म जो सृष्टि का निमित कारण है, दूसरा जीवात्मा जिसके भोग के लिए सृष्टि का निर्माण हुआ है तथा तीसरी प्रकृति जो कि सृष्टि की निर्माण सामग्री होने से सृष्टि का उपादान कारण है। इन्हीं को सांख्यों ने सत्व-रज-तम की अव्यक्त प्रकृति कहा है और इसी को स्वामी दयानंद परमेश्वर की सामर्थ्य कहते हैं।

अतः दयानंद जी के विचार से वेदों में जीवात्मा, परमात्मा से भिन्न और अनादि है। आत्मा को शाश्वत मानने पर पुनर्जन्म और उसके लिए कर्म-सिद्धांत को मानना आवश्यक है। वेदों की अन्य धारणाओं की भाँति कुछ विद्वान वेदों में पुनर्जन्मवाद को स्वीकार नहीं करते, जबकि दयानंद सरस्वती वेदों में पुनर्जन्मवाद को पूर्णतः स्वीकार करते हैं। अपने मत की पुष्टि के लिए स्वामी जी ने ऋग्वेद से भी उदाहरण दिए हैं और वेदों के अपने द्वारा किए भाष्यों से भी-

"असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम"[24] अर्थात् हे सुखदायक परमेश्वर आप कृपा करके पुनर्जन्म में हमारे बीच में उत्तम नेत्र आदि सब इंद्रियों का स्थापन कीजिए तथा प्राण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, बल, पराक्रम आदि युक्त शरीर पुनर्जन्म में कीजिए। इसी प्रकार यजुर्वेद में लिखा है- "पुनर्मनः पुनरायुर्य आगन् पुन प्राणः पुनरात्मा म आगन् पुनश्चक्षु पुन श्रोत्र म आगन्"[25] अर्थात् हे परमेश्वर जब-जब हम जन्म लेवें, तब-तब हमको शुद्ध मन, पूर्ण आयु, आरोग्यता, प्राण, कुशलतायुक्त जीवात्मा, उत्तम चक्षु और श्रोत्र प्राप्त हों। अतः स्पष्ट है कि पुनर्जन्मवाद का सिद्धांत वेदों से चला आ रहा है। उपनिषदों के पनर्जन्मवाद का मूल स्रोत वेद ही हैं जिन्हें स्वामी दयानंद ने अधिक तार्किक भाव से प्रकट किया है।

पुनर्जन्मवाद के साथ वेदों में कर्म और कर्मफल का सिद्धांत भी है। जीव जैसे कर्म करेगा, उन्हीं के अनुसार उसे अगला जन्म प्राप्त होगा। इस प्रकार पुनर्जन्म और कर्म एक-दूसरे पर आश्रित हैं। कुछ विद्वान वेदों में वर्णित कर्मफल को केवल यज्ञों और उनसे प्राप्त स्वर्ग और नरक तक सीमित रखते हैं। ये कर्मवाद की व्याख्या कर्मकांड के रूप में करते हैं। स्वामी दयानंद वैदिक कर्मवाद को पूर्ण वैज्ञानिक तरीके से बताते हैं-

"आयो धर्माणि प्रथमः ससाद ततो वदू षि कृणषे पुरुणि धास्युर्योनि प्रथम आविवेशा यो वाचमनुदिता चिकेत"।[26] इस मंत्र के भाष्य में स्वामी जी ने लिखा है-''जो मनुष्य पूर्वजन्म में धर्माचरण करता है, उस धर्माचरण के फल से अनेक उत्तम शरीर को प्राप्त होता है। जो पुनर्जन्म में किए हुए पाप-पुण्य के फलों को भोग करने के साथ रहता है। जल, औषधि व प्राण आदि में प्रवेश करके वीर्य में प्रवेश करता है तदनंतर योनि अर्थात् गर्भाशय में स्थिर होके पुनः जन्म लेता है"।[27]

जीव के व्यवहार के लिए दयानंद, वेदों में वर्णित दो मार्गो के बारे में बताते हैं- पितृयान और देवयान। उनके अनुसार ''पितृयान वह मार्ग है जिस पर चलकर जीव माता-पिता के संसर्ग से देह धारण कर अपने पूर्व किए पाप और पुण्य कर्मों का फल भोगता है तथा पुनः पुनः शरीर धारण करता रहता है तथा देवयान वह मार्ग है, जिस पर चलकर जीव कर्म-बंधन से मुक्त होकर फिर जन्म धारण नहीं करता अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है''।[28] यजुर्वेद में एक स्थान पर कहा गया है-

"कुर्वन्ने वेह कर्माणि जिजीविषेच्छ त समा
एवं त्वयि ननन्यथेतोडस्ति न कर्म लिप्यते नरे"[29]

अर्थात् कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीने की कामना करो परंतु कर्म इस प्रकार करो कि वे तुम्हारे लिए बंधनकारी न हो। इस प्रकार गीता के निष्काम कर्म के सिद्धांत का मूल भी वेदों में ही है।

स्वामी दयानंद ने वेदों के संबंध में एक और नवीन, क्रांतिकारी विचार प्रस्तुत किया। वे कहते हैं कि वेद, उन्नत जीवन व सश्य समाज के लिए यज्ञ और उत्तम कर्म करने की ओर प्रेरित करते हैं लेकिन प्रगति

का यह अंतिम पड़ाव नहीं है, वरन भोग से ऊपर उठकर वेद उस अमृत-पंथ की ओर अग्रसर करते हैं जिसकी प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ से अर्जित किए गए सुखों का त्यागपूर्वक भोग करना चाहिए। जिसे आजकल 'मोक्ष' कहते हैं। उन्होंने अपने मत की पुष्टि के लिए वेदों के उदाहरण दिए हैं-

"स्तुता मया बरदा वेदमाता प्र चोदयान्ता पावमानी द्विजानाम आयु प्राण पशु कीर्ति द्रविण, ब्रह्म वर्चसम्। महयं दत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम"।[30]

अर्थात् द्विजों की पवित्र वेदमाता की मैं स्तुति करता हूँ, यह मुझे आयु, प्राण, स्वास्थ्य, संतान, पशु, कीर्ति, धन तथा ब्रहमज्ञान को दे, जिससे मैं ब्रहम लोक को प्राप्त हो जाऊँ। स्वामी जी वेदों को मुख्यत: ब्रह्म-प्राप्ति का साधन मानते हैं। वेदों की इस मान्यता का प्रभाव उपनिषद काल तक चला, बाद में लोप हो गया। दयानंद जी ने सदियों से चली आ रही भूल को सुधारते हुए कहा कि चारों वेद मूलत: ब्रह्म-प्राप्ति का मार्ग प्रतिपादित कर रहे हैं।

वेद, ब्रह्म-पद को ही परमपद मानते हैं। "तद्विष्णों परम पद सदा पश्यन्ति सूरय"[31] अर्थात् यही विष्णु का परमपद जिसे मुक्त ज्ञानी पुरुष सदैव देखते हैं। इस परमपद की प्राप्ति के लिए विद्या और उत्तम कर्मो का होना ज़रूरी है। "जो मनुष्य विद्या व अविद्या के स्वरूप को साथ ही साथ जानता है, वह अविद्या अर्थात् कर्मोपासना से मृत्यु को तर के विद्या अर्थात् यथार्थ ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है"।[32] यजुर्वेद में द्रष्टा ऋषि ने अत्यंत प्रभावशाली ढंग से मुमुक्षुओं को मुक्ति का मार्ग बताया- "वेदाहमेत पुकष महांतमादित्यवर्ण तमस परस्तात्। तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्य पन्या विद्यतेऽयनाय"।[33]

अर्थात् जो सबसे बड़ा, सबका प्रकाश करने वाला और अविद्या अंधकार अर्थात् अज्ञानादि दोषों से अलग है उसी पुरुष को परमेश्वर और इष्टदेव मानता हूँ। उसको जाने बिना कोई मनुष्य यथावत ज्ञानवान नहीं हो सकता, क्योंकि उसी परमात्मा को जानकार और प्राप्त करके जन्म-मरणादि क्लेशों के समुद्र समान दुख से छूट के परमानंद स्वरूप मोक्ष को प्राप्त होता है, अन्यथा किसी प्रकार से मोक्ष सुख नहीं हो सकता।

महर्षि दयानंद मुक्ति के विषय में एक नया विचार लेकर आए वह है- मुक्ति से पुनरावृत्ति। स्वामी जी का कहना है कि वेदों के अनुसार जीव की मुक्ति अनन्त काल के लिए नहीं होती वरन् मुक्ति की अवधि समाप्त कर फिर जन्म-मरण के चक्र में आ जाता है। वे कहते हैं कि जिस कार्य का आरंभ होता है उसका अंत भी निश्चित होता है। इस संबंध में उन्होंने ऋग्वेद से दो मंत्र दिए, जिनमें से पहले में प्रश्न है दूसरे में उत्तर-

1 "कस्य नून कतमस्यामृताना मनामेह चारू देवस्य नाम। को नो मह्या अदितये पुनर्दात पितरच दृशोय मातर च।"

2 "अग्नेर्वय प्रथमस्यामृताना मनामहे चाक देवस्य नाम। स नो महम अदितेय पुनर्दात पितरच च दृशेय मातर च"[34] पहले मंत्र में वेद प्रश्न करता है कि हम किसका नाम पवित्र जानें? कौन नाशरहित, पदार्थों के मध्य में वर्तमान देव सदा प्रकाशस्वरूप है, जो हमको मुक्ति का सुख भुलाकर पुन: इस संसार में जन्म देता और माता-पिता के दर्शन कराता है। अगले ही मंत्र में वेद उत्तर देता है कि हम इस स्वप्रकाशस्वरूप अनादि सदा मुक्त परमात्मा का नाम पवित्र जाने, जो हमें मुक्ति से आनंद भगाकर पृथ्वी में पुन: माता-पिता के संबंध में जन्म देकर माता-पिता का दर्शन कराता है। दार्शनिक जगत के लिए यह बिल्कुल नया दृष्टिकोण है।

इस प्रकार स्वामी दयानंद ने वेदों में ईश्वर के रूप, सृष्टि-रचना, पुनर्जन्म, कर्मफल और मुक्ति की अवधारणा के साक्ष्य और भाष्य प्रस्तुत किए। वेदों के विकास और प्रचार में उनका योगदान अविस्मरणीय है।

संदर्भ ग्रंथ

1 वैदिक साहित्य-बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ-16 प्रकाशक शारदा मंदिर-21/17 गणेश दीक्षित, काशी प्रथम संस्करण- 1955

2 वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति-गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी-भूमिका भाग वासुदेवशरण अग्रवाल, पृष्ठ-12 बिहार राष्ट्रभाषा परिषद-पटना, प्रथम संस्करण-1960ई

3 बलदेव उपाध्याय-भा. द. भारतीयदर्शन पृष्ठ-49

4 एस. सी. सेन-दी मिस्टिक फिलासफी ऑफ दी उपनिषद्स Cosmo Publications, New Delhi

5 ड्यूसेन-दी सिस्टम ऑफ वेदांत, पृष्ठ-12, KISSINGER Publishing, 17 Jan 2007 डॉ. विद्याभूषण भारद्वाज-प्रकाशन प्रतिष्ठान-सुभाष बाज़ार मेरठ

6 दयानंद ग्रंथमाला, पृष्ठ 273 शताब्दि संस्करण,

भाग-2-दयानंद महाविद्यालय लाहौर द्वारा संपादित, प्रकाशक वैदिक मंत्रालय अजमेर, परोपकारिणी सभा, वि. सं. 1981

7 दयानंद ग्रंथमाला भाग-2, पृष्ठ-312

8 सत्यार्थ प्रकाश-दयानंद सरस्वती, पृष्ठ-175, वैदिक मंत्रालय, अजमेर से प्रकाशित, वि. स.-2002

9 निरुक्त-7-15

10 शतपथ ब्राह्मण-14-4-2, कंठि 19,22

11 सत्यार्थ प्रकाश-पृष्ठ-5

12 यजुर्वेद संहिता-भाषा-भाष्य श्री पंडित जयदेव शर्मा प्रकाशक आर्य-साहित्य-मंडल अजमेर, सन् 1930 ई., 40/1

13 वही, 32/1

14 ऋग्वेद संहिता-काशी संस्कृत ग्रंथमाला, संपादक मोक्षमूलर चौरवम्बा प्रकाशन वाराणसी-1965, तृतीय संस्करण अध्याय-1, अंक-6, व.-15, मं.-5

15 वही, 1/1/64/46

16 अर्थववेद संहिता-दामोदर भट्ट संपादक, प्रकाशक-औंधराज धान्या, वि. सं.- 1995, 13/4/3/4,5

17 वही, 13/4/19/20-21

18 A History of Indian Philosophy – S N Das Gupta Vol.1, Page -20, Publisher – Motilal Banarsidas Delhi – First edition – 1922

19 दयानंद ग्रंथमाला-भाग-2, पृष्ठ-313, 314

20 कठोपनिषद-शांकरभाष्य-गोरखपुर, पृष्ठ-1/25/15

21 यजुर्वेद-17-18

22 यजुर्वेद-17-19

23 ऋग्वेद 1/16/8/20

24 ऋग्वेद 8/1/23/1

25 यजुर्वेद-4-15

26 अथर्ववेद-का. 5, सूक्त-1 यंत्र-2

27 दयानंद ग्रंथमाला, भाज-2, पृष्ठ-516

28 यजुर्वेद-दयानंद भाष्य-19-1, पृष्ठ-516-517

29 यजुर्वेद-40-2

30 अथर्ववेद-19/71/1

31 ऋग्वेद-अष्टक-1, अध्याय-1, वर्ग-7, मंत्र-5

32 सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ-236

33 यजुर्वेद-31/18, इस पर देवानंद भाष्य-दयानंद ग्रंथ भाग दो, पृष्ठ-421

34 ऋग्वेद-1/24/1-2, इन दोनों मंत्रों का भाष्य प्रकाश पृष्ठ-244-245

– एसोसिएट प्रोफेसर, सत्यवती महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

❑❑❑

भारतीय भाषाओं में वेदों की नैतिक शिक्षा

(महर्षि दयानंद सरस्वती के 'वेदामृत' एवं
आचार्य विनोवा भावे के 'वेदामृत' के संदर्भ में)

सागर चौधरी

विश्व में कोई ऐसा ग्रंथ नहीं जो अपने विचारों में संपूर्ण हो किंतु शास्त्रों की मान्यताओं का भारतीय समाज के अंतर्गत आज भी उतना ही महत्व है, जितना की उस रचना निर्माण के देशकाल वातावरण में था। इस बात से 'वेद' भी अछूते नहीं हैं। 'वेदो' के महत्व को समझने के लिए विशिष्ट प्रदेश की भाषाओं में इनका रूपांतरण हुआ। प्राचीन ग्रंथों के मूल रूप में बदलाव की स्थिति समाज की मांग पर निर्भर है। इस बात को हम विडंबना नहीं कह सकते।

प्रस्तुत आलेख में महर्षि दयानंद सरस्वती लिखित 'वेदामृत' तथा मूलत: मराठी के लेखक आचार्य विनोबा भावे के ग्रंथ 'वेदामृत' के कुछ संदर्भ प्रेक्षित किए हैं। (नैतिक शिक्षा के विषय में) इन दोनों विद्वानों का समय अलग है। किंतु नैतिक शिक्षा के विचारों में कुछ साम्य है। महर्षि दयानंद सरस्वती एवं आचार्य विनोबा भावे का साहित्य विश्व की अनेक भाषाओं में अनुदित हो चुका है।

प्रस्तुत आलेख का मूल उद्देश्य उपर्युक्त ग्रंथों के नैतिक शिक्षा संदर्भ को उजागर करना है। लेखन शैली में "मूलमुक्त अनुवाद एवं मूलानिष्ठ अनुवाद"[1] का प्रयोग किया है।

"हे सब जगत् के उत्पादक प्रभो! हे सकल संसार के परमपिता! हे सर्व मंगलमय देव! हे सच्चिदानंद स्वरूप ईश्वर!..."[2] महर्षि दयानंद सरस्वती ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि मेरा जीवन सकारात्मक विचारों से भरा हो। इन्हीं विचारों से विनोबा जी "सर्वांना सद्बुद्धि दे"[3] ईश्वर सबको सद् विचारों वाली बुद्धिप्रदान करेगा ऐसा लिखते हैं। शरीर नश्वर हैं किंतु नैतिकता को सुधारने के लिए 'उपासना' तत्व को दोनों ने माना है।

किसी व्यक्ति को कटु वचन कहने की जरूरत नहीं। परमेश्वर सब देख रहा है। "वह कर्ता है, वह मारक अर्थात् संहारक है"[4] विनोबा जी भी इसमें अहिंसा को आधार बनाते हुए कहते हैं- "कटुवचन हितकारी नहीं"[5] मनुष्य अपने मन में भी कटुवचन न रखे यदि रखता है तो वो विजय नहीं प्राप्त कर सकता। जीवन में सफलता के लिए मेहनत करना यह बात अलग है किंतु यदि हमें हर व्यवहार में विजयी होना है। "प्राये-प्राये जिगीवांस: स्याम"[6] (हमें व्यवहार में विजयी होना चाहिए) यही आचरण समस्त विश्व को जोड़ने में लाभकारी सिद्ध हो सकता है। महाभारत के विनाशकारी संहार का यही मूल कारण हो सकता है। आधुनिक युग में दो विश्वयुद्ध होने के बावजूद हमेशा शीतयुद्ध चलते रहते हैं फिर भी शांति की आवश्यकता संपूर्ण विश्व को है। महाराष्ट्र की संतपरंपरा में निवृत्तिनाथ ने महाराष्ट्र के नाथ पंथ को वारकरी संप्रदाय से जोड़ दिया। उसी आयाम से जुडे संत ज्ञानेश्वर 'पसायदान' में इस पक्ष को लेकर चिंतन करते हैं।

"जे खळांची व्यंकटी सांडो। तया सत्कर्मी रती वाढों।
भूता परस्परे पडो मैत्र जिवांचे।।"[7]

(मेरे वचनों द्वारा कर्मों द्वारा किसी भी सजीव को प्रताड़ित न किया जाए यही कामना करता हूँ।)

वेदों की निर्मिती को 'विद्' धातु से मानते हैं। 'विद्या' को 'ज्ञान' से जोड़ना यह सर्वमान्य है। विनोबा जी मराठी प्राकृत में इस चिंतन को 'विद्या विनयेत शोभते'[8] जिस विद्या में विनय नहीं उस विद्या का

कोई महत्व नहीं यह स्पष्ट करते हैं। महर्षि दयानंद सरस्वती ने अपने 'पंचामृत' में इस बात को कई जगह आत्मज्ञान से जोड़ा है तथा स्वामी जी विवेकआत्मज्ञान कहते हुए विवेक को आचरण का मूल मानते हैं।

महर्षि पतंजलि की योग साधना से मन को शांत एवं गलत विचारों को समाप्त किया जा सकता है। "योगाश्चित्त वृत्ति - निरोध"[9] योगसाधना वह माध्यम है, जिसके द्वारा परमपरमेश्वर की प्राप्ती हो सकती है। विनोबा जी के इस चिंतन में स्वामी जी के 'ज्ञानयोग' को सर्वप्रथम मानना इसका साम्य वेद तथा गीता से भी जोड़ा जा सकता है। स्वामी जी इस बात को स्वीकार करते हैं कि योगसाधना के बिना कर्मसाधना कदापि संभव नहीं हो सकती।

आचार्य विनोबा मित्रता को निस्वार्थ भाव से जन्मी प्रकृति मानते हैं। वहीं स्वामी जी कुत्सित कर्म एवं निंदा को मित्रता समाप्त करने वाला भाव मानते हैं। माफी माँगना अपनी गलती को स्वीकृत करना है। इस बात को आचार्य विनोबा एक तपस्या मानते हैं। इस तपस्या को हमेशा साथ रखा जाए तो व्यवहार में उत्कृष्टता आ सकती है। जो माफी नही माँग सकता उसे महर्षि दयानंद 'मूर्ख जन' कहते हैं। अपेक्षा क्या है? सभी क्लेष अपेक्षा के कारण उत्पन्न होते हैं। "सब मनुष्य समान नहीं"[10] यहाँ आचार्य जी और महर्षि (स्वामी जी) के चिंतन में अद्भुत साम्य नजर आता है। इसका सार यह है कि मनुष्य शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक अंश में समान नहीं हैं, केवल मनुष्य ही नहीं किंतु सब प्राणियों में ऐसी अवस्था विद्यमान हैं। अतएव मानव समाज में वैषम्य अथवा पारस्परिक मनोमलिन्य और असामर्जस्य देखकर अचंभित नहीं होना चाहिए। यही कारण है व्यक्ति व्यवहार के इस विचार को नहीं समझते। मनोविज्ञान भी इस बात को मान्य करता है। हर व्यक्ति अगर एक दूसरे की अभिव्यक्ति स्वीकृत कर ले तो व्यवहार में अधिक स्पष्टता हो सकती है। यह बात मानव धर्म से जुड़ी है।

महर्षि दयानंद सरस्वती अतिअज्ञानी व्यक्ति का त्याग करने की बात करते हैं वहीं आचार्य विनोबा "सा विद्याया विमुक्तये"[11] (जो सभी बंधनों से मुक्त करे, वही ज्ञान का कर्म है और कर्म का ज्ञान है) विनोबा जी का स्पष्ट मानना है कि किसी उपजाऊ धरती पर बार-बार पानी बरसाया जाए तो वनस्पति के अंकुर निकल आते हैं। इस बात को हम आधुनिक युग के ज्ञान की महत्ता से जोड़ सकते हैं। वेद भी यही कहते हैं, ज्ञान बाँटने से बढ़ता है तथा उस विद्वान का कोई महत्व नहीं जो ज्ञान बाँट न सके। ज्ञान का अहंकार रखना उचित नहीं।

प्रस्तुत आलेख में महर्षि दयानंद सरस्वती (1824-1883) के 'वेदामृत' तथा आचार्य विनोबा भावे (1895-1982) के 'वेदामृत' इन दोनों ग्रथों से केवल 'नैतिक शिक्षा' का अध्ययन किया गया है। इन दोनों विद्वानों का समय अलग होने के बावजूद वेदों के नैतिक विचारों को स्पष्ट करने की शैली में साम्य नजर आता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. तिवारी भोलानाथ, अनुवाद विज्ञान, पृ. सं. 22 शब्दकार 158, गुरु अंगदनगर (वैस्ट) दिल्ली - 110092 संस्करण-1995

2. महर्षि दयानंद सरस्वती, वेदामृत, पृ. सं. 1, जन-ज्ञान प्रकाशन, नई दिल्ली-5, श्रावणी - सवंत् 32

3. भावे विनोबा, वेदामृत, परंधाम प्रकाशन, पुणे, पृ. सं. 9, संस्करण-1993

4. तिवारी भोलानाथ, अनुवाद विज्ञान, पृ. सं. 62 शब्दकार 158, गुरु अंगदनगर (वैस्ट) दिल्ली - 110092 संस्करण-1995

5. भावे विनोबा, वेदामृत, परंधाम प्रकाशन, पुणे, पृ. सं. 42, संस्करण-1993

6. शेवालकर राम, विनोबा सारस्वत, पृ. सं. 49, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली - 111001 (प्रथम आवृत्ती 1987)

7. भावे विनोबा, वेदामृत, परंधाम प्रकाशन, पुणे, पृ. सं. 82, संस्करण-1993

8. वही पृ. सं. 105

9. वही, पृ. सं. 89

10. महर्षी दयानंद सरस्वती, वेदामृत, पृ. सं. 66, जन-ज्ञान प्रकाशन, नई दिल्ली - 5, श्रावणी सवंत 32

11. वही, पृ. सं. 123

– शोधाार्थी, के. टी. एच. एम. महाविद्यालय, नासिक, महाराष्ट्र

❑❑❑

वैदिक सौंदर्यबोध और रामविलास शर्मा का चिंतन

अमन कुमार

भारतीय चिंतन परंपरा में सौंदर्य चिंतन अत्यंत प्राचीन और व्यापक है। भारतीय चिंतन सौंदर्य की सर्वोच्च स्थिति परमब्रह्म में देखता है। वैदिक काल में सौंदर्य चिंतन परमब्रह्म की अलौकिक सत्ता से रहा है तथा इसी रूप में इसका प्रयोग वैदिक ऋषियों द्वारा किया गया है। 'ऋग्वेद के कवि संसार को रूपों से भरा हुआ देखते हैं। रूप उनका पारिभाषिक शब्द है। जितने भी पदार्थ हैं, वे सब रूप हैं। इन पदार्थों में एक ऊर्जा प्रवाहित है- वह अरूप है, वह दिखाई नहीं देती। उसे अनेक नामों से पुकारा जाता है। वैदिक कवियों के लिए 'सौंदर्यबोध का संबंध रूप और अरूप यानी 'ऊर्जा और पदार्थ' दोनों से हैं। 'रूपों के बाहर कहीं अरूप की सत्ता नहीं है। वैदिक कवियों का सौंदर्यबोध उनकी एक व्यापक शक्ति से संबद्ध है। इंद्र के लिए कहते हैं - 'रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव।' 1.47.18) वह प्रत्येक रूप में उसी के अनुरूप बन जाता है।'[1]

डॉ. रामविलास शर्मा ने अपनी अंतिम पुस्तक 'भारतीय सौंदर्यबोध और तुलसीदास' में वैदिक कालीन कवियों के सौंदर्यबोध पर व्यापक चिंतन किया है। हालाँकि इससे पहले उन्होंने सौंदर्य संबंधी चिंतन अपनी पुस्तक 'आस्था और सौंदर्य' में भी किया है। परंतु 'भारतीय सौंदर्यबोध और तुलसीदास' में उनका सौंदर्यबोध संबंधी चिंतन अपने सर्वोच्च स्तर पर है। यहाँ उन्होंने सौंदर्यबोध पर अत्यंत गहराई और व्यापकता से विचार और विश्लेषण किया है। डॉ. रामविलास शर्मा द्वारा वैदिककालीन कवियों के सौंदर्यबोध पर किए गए चिंतन पर दृष्टि डालने से पहले, हमें रामविलास जी की सौंदर्य संबंधी मान्यताओं को समझना आवश्यक है ।

'आस्था और सौंदर्य' पुस्तक में 'सौंदर्य की वस्तुगत सत्ता और सामाजिक विकास' नामक निबंध की शुरूआत सौंदर्यशास्त्र के उद्देश्य को लेकर होती है। रामविलास शर्मा का मानना है कि "सौंदर्यशास्त्र का उद्देश्य सौंदर्य तथा उसकी अनुभूति की व्याख्या करना है।"[2] अक्सर सौंदर्यशास्त्री जिस सौंदर्य का विवेचन करते हैं वह साहित्य तथा अन्य ललित कलाओं का सौंदर्य होता है। परंतु रामविलास शर्मा का स्पष्ट मानना है कि "प्रकृति और मानव जीवन के सौंदर्य की व्याख्या किए बिना कलात्मक सौंदर्य का विवेचन करना संभव नहीं है।"[3] रामविलास शर्मा मानते हैं कि "सौंदर्यशास्त्र का विषय उस व्यापक सौंदर्य की व्याख्या है जो प्रकृति, मानव जीवन तथा कलाओं में विद्यमान है।"[4] रामविलास शर्मा सौंदर्य को प्रकृति और मानव जीवन से जोड़कर देखते हैं। प्रकृति और मानव जीवन से अलग कलात्मक सौंदर्य की व्याख्या उन्हें मान्य नहीं है। सौंदर्य की परिभाषा देते हुए वे लिखते हैं-

"प्रकृति, मानव जीवन तथा ललित कलाओं के आनंददायक गुण का नाम सौंदर्य है।"[5] लेकिन प्रश्न यह उठता है कि कला में कुरूप, वीभत्स, घृणा और असुंदर वस्तुओं को भी स्थान मिलता है, क्या यह भी सुंदर कही जाएँगी। इस प्रश्न का जवाब देते हुए डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं कि ''कला में कुरूप और असुंदर विवादी स्वरों के समान हैं जो राग के रूप को निखारते हैं। वीभत्स का चित्रण देखकर हम उससे प्रेम नहीं करने लगते हम उस कला से प्रेम करते हैं जो हमें वीभत्स से घृणा करना सिखाती है। वीभत्स से घृणा करना सुंदर कार्य है या असुंदर। जिसे हम कुरूप,

असुंदर और वीभत्स कहते हैं, कला में उसकी परिणति सौंदर्य में होती है।"[6]

सौंदर्य क्या है इस बात से एक और प्रश्न जुड़ा है कि सौंदर्य कहाँ है। क्या दर्शक श्रोता या पाठक के मन में या इससे अलग सुंदर वस्तु में। रामविलास शर्मा सौंदर्यबोध के विकास के संदर्भ में लिखते हैं- "मनुष्य का सौंदर्यबोध मूल रूप से सामाजिक विकास की देन नहीं है। उससे भी पहले वह उसके प्रागमानवीय विकास का परिणाम है।"[7] आगे वे लिखते हैं- "सौंदर्यबोध एक संश्लिस्ट इकाई है। सौंदर्य प्रकृति में है, मनुष्य के मन में भी। उसकी अनुभूति व्यक्तिगत होती है, समाजगत भी। व्यक्ति समाज का अंग है इसलिए न तो समाज-निरपेक्ष व्यक्ति की सत्ता है, न समाज-निरपेक्ष सौंदर्यानुभूति की संभावना होती है--- सौंदर्य की वस्तुगत सत्ता होती है, इसलिए शुद्ध सौंदर्य नाम की कोई चीज नहीं होती।"[8] अपने इस कथन पर वे दृढ़ता से कायम रहते हैं। सौंदर्य को वस्तुवादी सिद्ध करने के लिए वे विभिन्न प्रकार की मिसालें देते हैं। कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं-

"कुछ सुंदर वस्तुओं की मिसालें लीजिए। ताजमहल तारों भरी रात, भादों की जमुना, अवध के बाग, तुलसीकृत रामायण, देशप्रेम, संसार में मानव मात्र का भाईचारा और शांति- ये सभी सुंदर हैं। हो सकता है, कुछ लोगों को ताजमहल भयानक मालूम हो, तारों भरी रात में भूत दिखायी दें, भादों की जमुना में आत्महत्या के भाव उठते हों, अवध के बागों में आग लगा देने का जी चाहे, तुलसीकृत रामायण प्रतिक्रियावादी मालूम हो, देशप्रेम के नाम से चिढ़ हो और शांति तथा भाईचारे की बातों से कम्युनिज्म की बारूद की गंध आती हो।"[9]

आगे इसी बात को दोहराते हुए और सौंदर्य को वस्तुगत साबित करने में उनका तर्क आहत करने वाला नहीं बल्कि कायल करने वाला है-

''जो भी सबब हो, दोष या तो ताजमहल में होगा या आप में। जहाँ तक आपके मन में दोष या द्वेष होने का सवाल है, हम चार भले आदमियों से पुछवा देंगे कि ताजमहल को शाहजहाँ ने बनवाया अलबत्ता था, लेकिन उसे बनाया था कारीगरों ने। अगर कारीगरों से दुश्मनी न हो तो मुहब्बत का मजाक उड़ाए जाने की बात छोड़ दीजिए और संगमरमर से कोढ़ी की याद आती हो तो कुछ दिन के लिए अस्पताल में भर्ती हो जाइए। रही मीनारों और नफासत की बात, तो वह गुण या दोष ताजमहल में ही हो सकता है और उसका संबंध ताजमहल की वस्तुगत सत्ता से ही होगा।"[10]

सौंदर्यशास्त्र की एक समस्या वस्तु और रूप अर्थात् विषयवस्तु और अभिव्यक्ति का संबंध है। डॉ. रामविलास शर्मा इस समस्या पर गंभीरता से विचार करते हैं। वे मार्क्सवाद के संस्थापकों काल मार्क्स और फेडरिक एंगेल्स की विचारधारा यानी विषयवस्तु और अभिव्यक्ति यानी शैली में अंतर स्पष्ट करते हुए इस बात को समझाते हैं। वे लिखते हैं, "यदि कोई यह समझता है कि शैली विचारधारा का अंश है, तो उसे कहना चाहिए: एंगेल्स की शैली मार्क्स से भिन्न है, इसलिए उनकी विचारधारा भी मार्क्स की विचारधारा से भिन्न है।"[11]

इस प्रकार रामविलास शर्मा ने इस भ्रम को खत्म कर दिया कि सौंदर्यबोध केवल विचारवस्तु या विचारधारा है। उसका जितना संबंध वस्तु से है उतना रूप से भी। इसलिए सौंदर्यबोध के निर्माण में इंद्रियबोध, भाव, विचार और रूप सभी का संतुलन बना रहता है। इस महत्वपूर्ण तथ्य को उन्होंने 'ऋग्वेद' के कवियों के सौंदर्यबोध से जोड़ कर देखा- "ऋग्वेद के कवि संसार को रूपों से भरा हुआ देखते हैं। रूप उनका पारिभाषिक शब्द है। जितने भी पदार्थ हैं, वे सब रूप हैं। इन पदार्थों में एक ही ऊर्जा प्रवाहित है- वह अरूप है, वह दिखाई नहीं देती। उसे अनेक नामों से पुकारा जाता है। सौंदर्यबोध का संबंध रूप और अरूप-ऊर्जा और पदार्थ-दोनों से है। रूपों के बाहर कहीं अरूप की सत्ता नहीं है। वैदिक कवियों का सौंदर्यबोध उनकी एक व्यापक शक्ति की धारणा से दृढ़ता पूर्वक संबद्ध है।"[12]

डॉ. रामविलास शर्मा ने वैदिक कवियों द्वारा प्रयोग किए जाने वाले सौंदर्य-सूचक शब्दों की खोज की है। जिसका वर्णन इस प्रकार है-

"ऋग्वेद के रचनाकार अनेक सौंदर्य-सूचक शब्दों का व्यवहार करते हैं। उनमें एक है चित्र। अग्नि अपनी ज्वालाओं से चित्रे विभाति- सुंदर और विलक्षण रूप में प्रकाशित होता है।"[13]

उसी प्रकार 'चित्र की तरह एक शब्द है 'चारु'। कभी-कभी चित्र के साथ ही 'चारु' का व्यवहार करते हैं- रूद्र के जन्म के लिए कहते हैं चारुचित्रम्-सुंदर और विलक्षण है।"[14]

चित्र की तरह ही एक शब्द है 'शुभ'। 'शुभ' क्रिया का मूल अर्थ है सँवारना, सुंदर दिखना। मरुद्‌ण शुभा शोभिनिष्ठाः- अलंकारों से सुहाने वाले हैं। मरुद्‌ण मनुष्यों के सामने शुभयंत- अपने आपको सुशोभित करते हैं।

'शुभ' क्रिया मूल से शोभा का सीधा संबंध है- शोभते, शोभमान आदि शब्द ऋग्वेद में सौंदर्य-सूचक हैं। कवि की वाणी 'प्र शाभे'- अत्यंत सुशोभित हो रही है। शोभा से मिलता-जुलता सौंदर्य सूचक शब्द है श्री। अग्नि विश्वा श्रियः अधि दधे- संपूर्ण सोभा धारणा किए हुए हैं।'[15]

वैदिक कवियों के सौंदर्यबोध का निर्माण सामाजिक जीवन से होता है। इस बात को डॉ. रामविलास शर्मा ने रेखांकित किया और लिखा- "कवि अपने सामाजिक जीवन में नित्य ही एक बहुत सुंदर वस्तु देखते हैं, वह रथ है, इसलिए अग्नि की उपमा रथ से देते हैं। रथम् न चितम् -वह रथ के समान सुंदर है।"[16]

डॉ. रामविलास शर्मा ने वैदिक कवियों के सौंदर्यबोध संबंधी एक विशेषता पर ध्यान दिलाया है कि 'वैदिक कवियों की भाषा में सुंदरतासूचक एक छोटा-सा उपसर्ग 'सु' है। मनुष्य के बाह्य जगत और अंतर्जगत में जो कुछ उन्हें अच्छा लगता है, उसके पहले यह उपसर्ग जोड़ देते हैं। अग्नि हमें प्रिय हो और प्रियाः सुअग्नयः वयम्- सुंदर अग्नियों को हम भी प्रिय हों।'[17]

आगे रामविलास शर्मा इस पर टिप्पणी करते हैं कि 'अनेक संदर्भों में वैदिक कवियों ने सौंदर्यसूचक उपसर्ग 'सु' का बार-बार प्रयोग किया है। इससे उनके सौंदर्यबोध की व्यापकता का अनुमान होता है। प्रकृति में, मनुष्य में, अपनी कल्पना सृष्टि में, जहाँ भी उन्हें सौंदर्य दिखाई देता है, उसका वे उल्लेख करते हैं।'[18]

इन बातों से डॉ. रामविलास शर्मा ने एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाला वह यह कि "सौंदर्य का विशेष संबंध देखने से है। अग्नि दर्शतः दर्शनीय है। यही नहीं वह दर्शतश्री- दर्शनीय सौंदर्य वाले हैं।"[19]

डॉ. रामविलास शर्मा ने वैदिक कवियों में सौंदर्यबोध की चेतना को समझने के संदर्भ में पाया कि वैदिककालीन मनुष्य सुंदर वस्तुएँ देखकर आनंदित होता है। उन्हीं के शब्द हैं- "सुंदर वस्तुएँ देखकर मनुष्य आनंदित होता है और जिन वस्तुओं से वह आनंदित होता है, उन्हें सुंदर कहता है। आनंद सूचक रम् क्रिया के व्यवहार में आनंद और सौंदर्य का संबंध देखा जा सकता है।"[20] आगे रामविलास शर्मा बताते हैं कि इसी "रम् क्रिया से राम, राम्या आदि शब्द बने जिनका संबंध कृष्ण वर्ण अंधकार अथवा रात्रि से है। परंतु एक संदर्भ में राम्या शब्द का व्यवहार आनंद और सौंदर्य के लिए होता है।"[21]

वैदिक काल में सौंदर्य विन्यास के लिए आभूषण, केशविन्यास और वस्त्र-सज्जा का विशेष महत्व था। विभिन्न प्रकार के आभूषण शरीर पर धारण किए जाते थे।

जैसे "छाती पर रुक्म नाम का सोने का अलंकार धारण करना, पैरों में कड़े पहनना, कंठ में निष्क पहनना, कंगन, मणि, कानों में स्वर्ण के आभूषण इत्यादि धारण किए जाते थे।"

डॉ. रामविलास शर्मा इन सभी आभूषणों और अलंकारों की सज्जा पर टिप्पणी करते हैं- "ये सारे अलंकार पुरुषों के लिए हैं। पुरुष ही इनसे अपने शरीर सजाते हैं।"[23] आगे वे लिखते हैं कि "पुरुष क्यों अलंकार धारण करते थे--- इसका रहस्य दधिक्रा के संदर्भ में ज्ञात होता है। स्रजं कृण्वानो जन्यो न शुभ्वा- स्त्रीकामी जैसे अपने शरीर को मालाओं से सजाता है, उसी तरह मालाओं के पहनने के कारण वह अश्व अत्यंत शोभायमान हुआ।"[24]

वैदिक काल में पुरुष आभूषणों से अपने को इसलिए अलंकृत करता था ताकि वह स्त्रियों को अपनी ओर आकर्षित कर सके। डॉ. रामविलास शर्मा ने इस बात को इस प्रकार समझा कर कहा-

"नारी आभूषणों से पुरुष को आकर्षित नहीं करती, पुरुष आभूषणों से नारी को आकर्षित करता है।"

अपनी इस बात को प्रमाणित करने के लिए वे मनुष्येतर प्राणी मयूर-मयूरी और नर कोयल और मादा कोयल का उदाहरण देते हुए कहते हैं- "मनुष्येतर प्राणियों में मयूर नाचता है और नर कोयल गाता है, मयूरी को, मादा कोयल को, आकर्षित करने के लिए।"[25]

आभूषणों के बाद वैदिक कालीन मनुष्य का सौंदर्यबोध केश-प्रसाधन से भी प्रकट होता है। डॉ. रामविलास शर्मा बताते हैं कि 'कुछ लोग केश-प्रसाधन पर विशेष ध्यान देते हैं, क्योंकि यह केश-प्रसाधन सौंदर्य और पहचान दोनों से जुड़ा हुआ था। केश-प्रसाधन एक

प्रकार का विशेषण था, पहचान के लिए। जैसे- इंद्र को वशिष्ठ गोत्र के कवि बहुत प्रिय हैं। वशिष्ठ गोत्र के कवि कि एक पहचान यह है कि वे दक्षिणत: कपर्दा हैं, यानी 'सिर के दाहिनी ओर चोटी रखने वाले लोग हैं।'[26]

वैदिक काल में जटाओं, चोटियों, शिखाओं का उल्लेख जिस प्रकार हुआ है। वह उनके शारीरिक सौंदर्य और पहचान से जुड़ा हुआ है।

रामविलास शर्मा का मानना है कि "जटाओं, चोटियों, शिखाओं का उल्लेख अधिकतर पुरुषों के संदर्भ में है किंतु एक मंत्र में एक युवती का उल्लेख है- चतुष्कपर्दा युवति: सुपेशा- वह चार चोटियों रखती है' ओर सुंदर वस्त्र पहने हुए हैं।"[27]

केश-प्रसाधन के विकास के संदर्भ में डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं- "अनेक प्रकार से केश-प्रसाधन पहले पुरुषों ने किया, फिर सभ्यता के विकास के साथ क्रमश: उनका अनुकरण स्त्रियों ने किया।--- उत्तरकालीन साहित्य में शिव तथा अर्जुन दोनों गुडाकेश कहे गए हैं। यहाँ केश-विन्यास की वैदिक परंपरा का अनुसरण किया गया है।"[28]

वहीं वस्त्र-विधान भी वैदिककालीन सौंदर्य बोध में सहायक होता है। वस्त्र के रूप में लबादा, अंगरखा इत्यादि का प्रयोग किया जाता था। जैसे 'सोम जो द्रापि लबादा पहनते है' वह दिवस्पृश: द्युलोक को छूने वाला है।'[29] वहीं इंद्र 'वसानो अत्कं सुरभिं दृशे-सबके देखने के लिए सुरभित अंगरखा धारण करते हैं। इंद्र का अंगरखा ऐसा है 'जो शरीर पर चुस्त दिखाई दे।'[30] वह इसलिए कि "इंद्र के अंगरखे की गंध दूर से नहीं सूँघी जा सकती, परंतु उसका सुनहला रूप दूर से देखा जा सकता है।"[31]

वैदिक कवियों का सौंदर्यबोध आभूषण, केशविन्यास और वस्त्र-सज्जा इत्यादि के अलावा वैदिक कवि मनुष्य और पशु के देह-सौंदर्य को भी निहारते हैं। विशेषकर युवती के संदर्भ में वैदिक कवियों ने उदात्तता से नारी-देह का सौंदर्य वर्णन किया है। नारी-शरीर के विभिन्न अंगों पर कवियों की दृष्टि अधिक जाती है।

यहाँ रामविलास शर्मा टिप्पणी करते हैं कि "वस्त्र सुंदर हैं- वस्त्रों से ढका हुआ शरीर और भी सुंदर है।"[32]

ऋग्वेद के कवि का ध्यान शरीर पर अधिक है। यही रामविलास शर्मा बताना चाहते हैं। इस संदर्भ में रामविलास शर्मा वैदिक कवियों का एक कथन उद्धृत करके अपनी टिप्पणी करते हैं- कवि उषा के लिए कहता है- "शुद्ध स्वच्छ छाती के समान समीप ही उषा दिखती है। माता के द्वारा सजायी हुई युवती के समान उषा--- अपना सुंदर शरीर लोगों को दिखाती है।"[33]

अब इस पर रामविलास शर्मा की टिप्पणी है- "उषा के सौंदर्य का वर्णन करते हुए कवि-कल्पना में सद्य: स्नाता वस्त्रहीन युवती का चित्र उभरता है।'[36] सिंधु नदी के लिए कवि ने कहा "अश्वा न चित्र वपुषी इव दर्शता- वह घोड़ी के समान सुंदर है और वपुषी-सुंदर शरीर वाले स्त्री के समान दर्शनीय है।"[35]

इस प्रसंग पर डॉ. रामविलास शर्मा कवि द्वारा प्रस्तुत दो बिंब 'अश्वा' और 'युवती पर अपनी टिप्पणी करते हैं- "दो बिंब हैं- एक अश्वा का जो स्वभावत: वस्त्रहीन है, दूसरा युवती का जो दर्शनीय है। दोनों बिंब एक साथ आए हैं और एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। यहाँ कोई रंग नहीं है, कोई वस्त्र नहीं है। मूर्तिकार के समान कवि केवल शरीर देखता है।"[36]

वैदिक कवियों के शारीरिक सौंदर्य बोध का विश्लेषण करते हुए रामविलास शर्मा की उपर्युक्त दो सबसे महत्वपूर्ण टिप्पणीयाँ इस प्रकार है-

पहली- "वस्त्र सुंदर हैं- वस्त्रों से ढँका हुआ शरीर और भी सुंदर है।"[37]

दूसरी टिप्पणी- "यहाँ कोई रंग नहीं है, कोई वस्त्र नहीं है। मूर्तिकार के समान कवि केवल शरीर देखता है।"[38]

इन दोनों टिप्पणियों पर सूक्ष्मता से दृष्टि डालने से यह साफ पता चलता है कि रामविलास शर्मा रूप और वस्तु के द्वंद्व में वस्तु के साथ ही अपनी पक्षधरता रखते हैं। शरीर के ऊपर पहने जाने वाला वस्त्र उस शरीर का बाहरी और आरोपित रूप है। उसी तरह रंग भी वस्तु का ऊपरी और बाहरी रूप हुआ। यहाँ सिर्फ शरीर ही वस्तु है, जिसे डॉ. रामविलास सर्वाधिक महत्व देते हैं। जैसे वैदिक कवि 'मूर्तिकार के समान कवि केवल शरीर देखता है।'[39]

यहाँ तक वैदिक कवि दृश्य और अनुभव के सहारे प्रकृति और जीवन में सौंदर्य की अनुभूति करता था। जब सौंदर्य उपयोगिता के साथ जुड़ गया। तब उपयोगिता और सौंदर्य के कारण नई कलाओं का विकास होने लगा।

रामविलास शर्मा कला-कौशल के विकास को (जिसमें शिल्प एवं निर्माण कार्य-मूर्तिकला और अस्त्र निर्माण भी शामिल है) कवियों के सौंदर्यबोध से जोड़ते हैं। वे मानते हैं कि कवि ने अपनी सौंदर्यसूचक शब्दों की साम्रगी वस्तुओं के निर्माण इत्यादि को देखकर, वहीं से अपने काव्य में प्रयुक्त किए हैं। इस संदर्भ में वे लिखते हैं- "संभव है कि कवि ने कारीगरों को घोड़ो की मूर्तियाँ बनाते देखा हो। रथ बनाते तो देखा ही था। इस तरह उसने कल्पना की कि द्वंद्व के घोड़े भी किसी कारीगर देवता ने बनाए हैं।"[40]

कवि एक मंत्र में इंद्र से कहता है- "तुझे बहुत बड़ी संपत्ति के लिए भी दूसरों को न दूँ। हे वज्रधारी इंद्र! मैं तुझे हजार के लिए भी न दूँ, दस हजार के लिए भी न दूँ, असंख्य या अपरिमित के लिए भी न दूँ।"[41]

डॉ. रामविलास शर्मा इसे भौतिकता से जोड़ते हैं कि कवि जिस इंद्र से बात कर रहा है और जिस इंद्र को बेचने की बात कर रहा है वह आसमान से रहने वाला इंद्र नहीं बल्कि "कवि के सामने इंद्र की मूर्ति है, जिसे वह बेचना नहीं चाहता।"[42] क्योंकि उस मूर्ति में सौंदर्य है और कवि उस मूर्तिकला से सौंदर्यबोध की प्रतीति कर रहा है। इस बात से यह धारणा पुष्ट होती है कि उस समय तक मूर्तिकला का विकास हो चुका था।

रामविलास शर्मा वैदिक इंडेक्स का हवाला देते हुए कहते हैं- "इंद्र से आशय इंद्र की मूर्ति से है, यह बात वैदिक इंडेक्स के लेखकों ने स्पष्ट की है। शुल्क का अर्थ है क्रम मूल्य और यह मूल्य दिया जाएगा फॉर एन इमेज ऑफ इंद्र, इंद्र की मूर्ति के लिए। इससे मूर्तिकला के विकास की धारणा पुष्ट होती है।"[43]

वैदिक काल में देव निरपेक्ष कला का भी विकास हो गया था। देवताओं के अतिरिक्त मनुष्य की मूर्तियाँ भी बनाई जाने लगी थी। रामविलास शर्मा ने इस बात को भी प्रमाणित किया। इस संदर्भ में उन्होंने लिखा-

"देवों से भिन्न मनुष्यों की मूर्तियाँ भी बनाई जाती होंगी। काष्ठ पर बनाए हुए युवती के एक चित्र का तो स्पष्ट उल्लेख है। मजबूत नई और छोटे लकड़ी के टुकड़े पर अंकित- कनीनका इव- पुतली जिस प्रकार शोभित होती है। इंद्र के घोड़े भूरे हैं। काष्ठ पर रंगीन चित्र बनाया जाता होगा। देव निरपेक्ष कला का विकास भी हुआ था।"[44]

आगे रामविलास यह भी उल्लेख करते हैं कि 'वैदिक काल में मूर्ति बनाने वाले शिल्पी अवश्य थे।' परंतु उनके शिल्प का विकास कितना हुआ था इसके अनुमान लिए यथेष्ट सामग्री प्राप्त नहीं है,

परंतु वस्तुकला का यथेष्ट विकास हुआ है, इसके अनेक संकेत ऋग्वेद में हैं। संभवतः मूर्तियों के लिए मंदिरों का निर्माण भी होता था। एक दानी पुरुष के घर का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है- परिष्कृतं देवमानेव चित्रम्- देवों के मंदिरों के समान अद्भुत मनोहर सुसज्जित होता है।'[45]

वहीं भवन निर्माण का उल्लेख भी ऋग्वेद में मिल जाता है। जो कि उपयोगिता और सौंदर्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण था। भवनों में बड़े-बड़े स्तम्भों का निर्माण किया जाता था। रामविलास शर्मा ने इन स्तम्भों के निर्माण और इसके विकास को वैदिक काल से हड़प्पा सभ्यता और अशोक के कार्यकाल तक जोड़ते हैं। उन्हीं के शब्द हैं-

"उपयोगिता और सौंदर्य, दोनों के विचार से भवनों में स्तंभों का निर्माण किया जाता था।--- स्तम्भ-निर्माण का यह कौशल वैदिक काल से हड़प्पा सभ्यता से होता हुआ अशोक के मगध तक चला आया है। जहाँ अनेक मार्ग मिलते थे, सम्भवतः वहाँ भी स्तम्भ बनाए जाते थे।"[46]

वैदिक कवि अपने सूक्तों की रचना करते समय भवन के स्थापत्य से काफी प्रभावित हैं। वे अपने सामने जो भी सुंदर भवन, आकृति का निर्माण कार्य देखते हैं। उसका अपनी रचनाओं में प्रत्यक्ष रूप से चित्रण करते हैं।

रामविलास शर्मा ने इस बात को वैदिक कवियों के सौंदर्यबोध से जोड़कर देखा। वे मानते हैं कि चित्रकला से प्रभाव ग्रहण कर अपने साहित्य में उसके सौंदर्य का चित्रण करने वाले अनेक देशों में हुए हैं "परंतु स्थापत्य से प्रभावित होने वाले कवि कम रहे हैं और उन पर लिखा भी बहुत कम गया है।"[47]

आगे वे लिखते हैं कि "ऋग्वेद के कवि जो भवन देखते थे, उनके स्थापत्य से प्रभावित हुए थे इन भवनों का वर्णन उन्होंने अपने सूक्तों में किया है। इसके सिवा सूक्त-रचना पर भी इस स्थापत्य का प्रभाव दिखाई देता है।"[48]

वैदिक कवियों की कला संबंधी विशेषता पर डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं कि "उनकी कला की विशेषता यह कि विराट की अभिव्यक्ति के लिए वह लघु फलक लेते हैं।"[49]

'भारतीय सौंदर्यबोध और तुलसीदास' पुस्तक में रामविलास ने सौंदर्यबोध के निर्माण में इंद्रिय बोध की महत्ता स्वीकार की है। परंतु वे यह भी बताते हैं कि हर प्रकार का इंद्रियबोध कलाओं की विषयवस्तु नहीं हो सकता। उन्हीं के शब्द हैं-

"इंद्रिय-बोध के बिना कलाओं का अस्तित्व नहीं हो सकता परंतु हर तरह का इंद्रियबोध कलाओं का विषय नहीं हो सकता। जैसे मनुष्य भोजन करता है। भोजन में से उसे स्वाद आता है। वह स्वाद का शब्दों में वर्णन कर सकता है, परंतु चित्र बनाना या उसे संगीत में व्यक्त करना यदि असंभव नहीं तो दुष्कर अवश्य है।"[52]

संदर्भ सूची

1. उद्धृत-शर्मा रामविलास; भारतीय सौंदर्य-बोध और तुलसीदास पृष्ठ -37
2. शर्मा रामविलासय आस्था और सौंदर्य; पृष्ठ -26
3. वही , पृष्ठ -26
4. वही , पृष्ठ -26
5. शर्मा रामविलास; आस्था और सौंदर्य: पृष्ठ-27
6. शर्मा रामविलास; आस्था और सौंदर्य: पृष्ठ-27
7. शर्मा रामविलास; आस्था और सौंदर्य: पृष्ठ-33
8. शर्मा रामविलास; आस्था और सौंदर्य: पृष्ठ-36
9. शर्मा रामविलास; मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य; पृष्ठ-263
10. शर्मा रामविलास; मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य; पृष्ठ-263
11. शर्मा रामविलास; मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य; पृष्ठ-507
12. शर्मा रामविलास; भारतीय सौंदर्य-बोध और तुलसीदास पृष्ठ -37
13. उद्धृत -शर्मा रामविलास; भारतीय सौंदर्य-बोध और तुलसीदास; पृष्ठ -38
14. उद्धृत -शर्मा रामविलास; भारतीय सौंदर्य-बोध और तुलसीदास; पृष्ठ -38
15. उद्धृत -भारतीय सौंदर्य-बोध और तुलसीदास : रामविलास शर्मा पृष्ठ -37
16. उद्धृत -भारतीय सौंदर्य-बोध और तुलसीदास: रामविलास शर्मा, पृष्ठ -39
17. उद्धृत-भारतीय सौंदर्य-बोध और तुलसीदास: रामविलास शर्मा, पृष्ठ -39
18. उद्धृत-भारतीय सौंदर्य-बोध और तुलसीदास: रामविलास शर्मा, पृष्ठ -38
19. उद्धृत-भारतीय सौंदर्य-बोध और तुलसीदास: रामविलास शर्मा, पृष्ठ -41
20. शर्मा रामविलास; भारतीय सौंदर्य-बोध और तुलसीदास पृष्ठ -41
21. शर्मा रामविलास; भारतीय सौंदर्य-बोध और तुलसीदास पृष्ठ -39
22. उद्धृत-शर्मा रामविलास; भारतीय सौंदर्य-बोध और तुलसीदास पृष्ठ -41
23. वही, पृष्ठ -40
24. वही,पृष्ठ -42
25. वही,पृष्ठ -43
26. वही,पृष्ठ -43
27. शर्मा रामविलास; भारतीय सौंदर्य-बोध और तुलसीदास पृष्ठ -44
28. शर्मा रामविलास; भारतीय सौंदर्य-बोध और तुलसीदास पृष्ठ -44
29. शर्मा रामविलास; भारतीय सौंदर्य-बोध और तुलसीदास पृष्ठ -46
30. वही, पृष्ठ -46
31. शर्मा रामविलास; भारतीय सौंदर्य-बोध और तुलसीदास पृष्ठ -46
32. वही, पृष्ठ -47
33. वही, पृष्ठ -47
34. वही, पृष्ठ -47
35. वही, पृष्ठ -47
36. शर्मा रामविलास; भारतीय सौंदर्य-बोध और तुलसीदास पृष्ठ -47
37. शर्मा रामविलास; भारतीय सौंदर्य-बोध और तुलसीदास पृष्ठ -47
38. वही, पृष्ठ -47
39. शर्मा रामविलास; भारतीय सौंदर्य-बोध और तुलसीदास पृष्ठ -47
40. शर्मा रामविलास; भारतीय सौंदर्य-बोध और तुलसीदास पृष्ठ -47

41. शर्मा रामविलास; भारतीय सौंदर्य-बोध और तुलसीदास पृष्ठ 49

42. वही, पृष्ठ -49

43. वही, पृष्ठ -49

44. शर्मा रामविलास; भारतीय सौंदर्य-बोध और तुलसीदास पृष्ठ -50

45. शर्मा रामविलास; भारतीय सौंदर्य-बोध और तुलसीदास पृष्ठ -50

46. शर्मा रामविलास; भारतीय सौंदर्य-बोध और तुलसीदास पृष्ठ -51

47. शर्मा रामविलास; भारतीय सौंदर्य-बोध और तुलसीदास पृष्ठ -52

48 शर्मा रामविलास; भारतीय सौंदर्य-बोध और तुलसीदास पृष्ठ -55

49. वही, पृष्ठ -55

50. वही, पृष्ठ -107

51. शर्मा रामविलास; भारतीय सौंदर्य-बोध और तुलसीदास पृष्ठ -70

संदर्भ ग्रंथ -

1 आस्था और सौंदर्य-रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, 2015

2. भारतीय सौंदर्य-बोध और तुलसीदास- रामविलास शर्मा, साहित्य अकादमी, प्रथम संस्करण-2001

3. मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य- रामविलास शर्मा, वाणी प्रकाशन, संस्करण-1986

– शोधार्थी हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

❑❑❑

'कामायनी' में वैदिक ज्ञान-विज्ञान

डॉ. साक्षी जोशी

छायावाद हिंदी साहित्य के 'रोमांटिक' उत्थान की वह काव्यधारा है जो लगभग ईसवी सन् 1918 से 1936 ('उच्छवास' से 'युगांत') तक की प्रमुख युगवाणी रही, जिसमें प्रसाद, निराला, पंत व महादेवी प्रभृति मुख्य कवि हुए और सामान्य रूप से 'भावोच्छवास-प्रेरित स्वच्छंद कल्पना-वैभव की वह 'स्वच्छंद प्रवृत्ति' है जो देश-काल-गत वैशिष्ट्य के साथ संसार की सभी जातियों के विभिन्न उत्थानशील युगों की आशा-आकांक्षा में निरंतर व्यक्त होती रही है। स्वच्छंदता की उस सामान्य भावधारा का नाम हिंदी साहित्य में 'छायावाद' पड़ा। आत्माभिव्यक्ति, आत्मीयता, प्रकृति प्रेम, सौंदर्य भावना, नारी स्वतंत्रता की भावना, मानवतावाद, रूढ़ियों से मुक्ति, अथक जिज्ञासा, रहस्यवादिता, कल्पना का नवोन्मेष, बिंबधर्मिता, मानवीकरण, लाक्षणिकता आदि छायावाद की मुख्य विशेषताएँ हैं, जो छायावाद की चरम परिणति, 'प्रसाद' द्वारा रचित 'कामायनी' में अपने उज्ज्वल रूप में मिलती है।

कामायनी प्रसाद की अमर कृति है। इसके कथानक में दार्शनिक तत्वों का समावेश इसे वैदिक आधार देता है। कामायनी का मूल दर्शन प्रत्यभिज्ञा दर्शन है। प्रसाद के व्यक्तित्व और तदनुसार कृतित्व को प्रभावित करने वाला यह दर्शन कामायनी का गौरव है। प्रसाद ने इसी आधार पर शक्ति को महाचिति और सदैव लीला विलास करने वाला कहा है। प्रसाद के श्रद्धा सर्ग की ये पंक्तियाँ इसी में आती हैं -

कर रही लीलामय आनंद,
महाचिति सजग हुई सी व्यक्त।
विश्व का उन्मीलन अभिराम,
इसी में सब रहते अनुरक्त।।[1]

इसी प्रकार इच्छा सर्ग है परिणाम और इस त्रिकोण के मध्य बिंदु तुम शक्ति विपुल क्षमता वाले ये, एक-एक को स्थिर हो देखो इच्छा, ज्ञान, क्रिया वाले ये पंक्तियों में भी यही भाव प्रतिध्वनित है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में आए जीवन विषयक विचारों की छाया मनु के चित्रण में देखी जा सकती है। कामायनी में प्रत्यभिज्ञा दर्शन को स्थान दिया है, किंतु इसके प्रमुख विचारों को अपनाना ही प्रसाद का लक्ष्य रहा है।

नियतिवाद - प्रसाद जी की नियतिवादी धारणा शैवागमों से प्रभावित है। माहेश्वराचार्य अभिनव गुप्त ने नियति को विशेष कार्यों की योजना करने वाली अर्थात् भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए भिन्न कारणों की योजना करने वाली शक्ति बतलाया है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में ग्यारहवाँ तत्व माना गया है और मालिनी विजयोत्तर तंत्र, मृगेंद्रतंत्र, स्वच्छंद तंत्र आदि में नियति को ही विश्व के सभी कार्य-कलापों की योजिका माना गया है। स्वछंद तंत्र के अंतर्गत ही शिव के दस रूपों की स्थिति की सूचना मिलती है।

तात्पर्य यह है कि नियति शक्ति विश्व के भिन्न-भिन्न कार्यों की ओर ले जाने वाली प्रेरिका शक्ति है। योगवाशिष्ठ में 'तथा स्थितं ब्रह्म तत्वं सत्ता नियतिरुच्चते' कहकर नियति को ब्रह्म तत्व की समानधर्मा शक्ति के स्वरूप में बतलाया है। शैवागमों में नियति को केवल सीमित आत्मा की ही नियंत्रणा शक्ति माना गया है।

प्रसाद जी ने रहस्य सर्ग में श्रद्धा की सहायता से हिमगिरि की उन्नत चोटी कैलाश पर पहुँचकर नियति-तत्व के नियंत्रण से जीवात्मा के परे हो जाने का उल्लेख किया है और बताया है कि शिव तत्व के निकट पहुँच जाने पर जीवात्मा नियति के बंधन से छूट जाता है और फिर बंधन मुक्त हो जाने पर न तो नियति के कोई खेल देखने पड़ते है और न अन्य संघर्षों को ही प्राप्त करना पड़ता है। कामायनी में प्रसाद ने इसी भाव से प्रेरित हो लिखा है -

निराधार है, किंतु ठहरना हम दोनों को आज यहीं है।
नियति खेल देखूँ न, सुनो अब इसका अन्य उपाय नहीं है।।[2]

अभेदवाद - "प्रत्यभिज्ञादर्शन के अध्ययन से पता चलता हे कि शिव से लेकर पृथ्वी तक छत्तीस तत्वों को एक चिति रूप परमानंदमय प्रकाशक धनशिव से अभेद रूप में स्फुरित होते हुए बताया गया है। विश्व में जो नानारूपात्मक परिमिति पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं, वे सभी प्रकाश रूप शिव ही हैं। उनसे रहित किसी पदार्थ की सत्ता नहीं है। एकमात्र शिव ही नए प्रकार की विचित्रताओं के साथ स्फुरित होते हैं।"

प्रत्यभिज्ञा दर्शन के इस अभेदवाद की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अभेदवाद और आभासवाद में संपूर्ण जड़-चेतन पदार्थों को उसी एक चिति का स्वरूप माना गया है। यह संसार उसी का रूप है, "कर रही लीलामय आनंद, महाचिति सजग हुई-सी व्यक्त" पंक्तियों में यही भाव है। प्रसाद जी ने अभेदवादी विचारों को कामायनी में स्थान-स्थान पर व्यक्त किया है। कामायनी के प्रारंभ में ही जड़ चेतन को एक ही मानते हुए वे कहते हैं -

एक तत्व की ही प्रधानता
कहो उसे जड़ या चेतन।।[3]

उपनिषदों की छाया में ही प्रसाद ने उस परम आत्मा को स्वीकार किया है तथा बताया है कि आत्मा एक थी किंतु उसने सृष्टि की, रचना की कामना व्यक्त की और फिर सृष्टि का विकास हुआ। कामायनीकार की ये पंक्तियाँ इसी भाव का प्रकाशन करती जान पड़ती हैं -

काम मंगल से मंडित श्रेय सर्ग,
इच्छा का है परिणाम।
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल,
बनाते हो असफल भवधाम।।[4]

समरसता - प्रत्यभिज्ञा दर्शन में समरसता के सिद्धांत को विशिष्टता प्राप्त है। कामायनी में भी यही प्रमुखता लिए हुए है। स्वच्छंमतंत्र के आधार पर कहा जा सकता है कि जिस प्रकार एक नदी समुद्र में मिलकर समरस हो जाती है और समुद्र भी नदी से मिलकर एक रूप ओर अभेदात्मक हो जाता है उसी भाँति जीव परमात्मा से मिलकर एक रस हो जाता है। यही एक रसता सामरस्य है - समरसता है। बोधसार में श्री नरहरि स्वामी ने भी सामरस्य का उल्लेख किया है और निष्कर्ष दिया है कि जैसे परस्पर अत्यंत प्रेम-भाव रखने वाले दंपतियों का द्वैत दोनों के समरस हो जाने पर आनंदपुर हो जाता है, वैसे ही जीवात्मा के समरस हो जाने पर जो आनंद निर्बाध रूप से उत्पन्न होता है, उसमें यह पृथकता ब्रह्मानद का आनंद प्रदान करती है -

जाते समरसानंदे द्वैतमप्यमृतोपनम्
मित्रयोरिव दामपत्यौ जीवात्मपरमातमनोः।

डॉ. विजयेंद्र स्नातक का यह कथन ठीक ही है कि कामायनी का दर्शन आत्मवाद की सुदृढ़ भूमि पर प्रतिष्ठित है। कामायनी में ज्ञान को प्रधानता न देकर श्रद्धा को प्रधानता दी गई है। शैवागमों में चैतन्य के अतिरिक्त अन्य किसी की भी सत्ता को स्वीकार नहीं किया गया है। जब तक मनुष्य के मन में मेरे तेरे और अपने पराए की भावना विद्यमान है तब तक मानव का कल्याण संभव नहीं है।

आनंदवाद - कामायनी का मूलदर्शन श्रद्धामूलक आनंदवाद है। अपनी आनंदवादी भूमिका के लिए प्रसाद जी ने विविध ग्रंथों का सहारा लिया है। इसमें मुख्यतः शैव दर्शन का रंग है। शैवों के समान ही आनंदवाद का स्वरूप उपनिषदों में भी मिलता है। तैत्तरीय उपनिषद में लिखा है कि "आनंद ही ब्रह्म" है।

वे जीवन का लक्ष्य आंत भवन में टिके रहना नहीं स्वीकारते हैं, अपितु वे तो उस सीमा तक पहुँचने में ही गौरव का अनुभव करते हैं जिसके आगे कोई राह नहीं है और केवल आनंद का प्रसार है।

इस जीवन का उद्देश्य नहीं है श्रांत भवन में टिक रहना
किंतु पहुँचना उस सीमा तक जिसके आगे राह नहीं।

प्रसाद कृत कामायनी में आनंदवाद की यही भूमिका है और वे स्वयं जीवन और जगत में इसी आनंद का प्रसार देखना चाहते थे। उनकी कामायनी इसी का प्रचार और प्रसार करती जान पड़ती है।

कामायनी में काव्योत्कर्ष की गरिमा के साथ-साथ दर्शन, विज्ञान और मनोविज्ञान का स्वरूप भी स्पष्ट है। न्याय-वैशेषिक का परमाणुवाद भी कामायनी में दिखाई देता है। वैशेषिक दर्शन में सृष्टि के विकास की जो प्रक्रिया बतलाई है, वह कामायनी में मिलती है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु का निर्माण क्रमशः परमाणुओं के माध्यम से हुआ है। सृष्टि रचना के संदर्भ में से ये पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं -

वह मूल शक्ति उठ खड़ी हुई,
अपने आलस का त्याग किए।
परमाणु बाल सब दौड़ पड़े,
जिसका सुंदर अनुराग लिए।

डॉ. सक्सेना का यह मत ठीक ही है कि यहाँ सृष्टि-प्रक्रिया का जो उल्लेख मिलता है, उसमें न्याय-वैशेषिक के परमाणुवाद की ओर संकेत भी है। मूलशक्ति के जाग्रत होने पर ही अणुओं के मिलने का वर्णन किया गया है।

कामायनी से पूर्व की रचनाओं में भी प्रसाद जी ने मनोवैज्ञानिक धरातल को छुआ है। कामायनी के अध्ययन से ज्ञात होता है कि यहाँ तो सर्गों का क्रम और बीच-बीच में अन्य मनोवैज्ञानिक संदर्भ इस कृति को मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान करते हैं। कामायनी में सर्गों का एक क्रम है और वह मनोविज्ञान से संचालित है।

कामायनी का प्रथम सर्ग चिंता है और अधिकांश के नाम मनोवृत्तियों के ही आधार पर किए गए हैं। प्रसाद जी ने सबसे पहले चिंता मनोवृत्ति का परिचय दिया है। चिंतन या मनन मन का मूल व्यापार है। चिंता का जन्म अभाव से होता है, इसीलिए इसे कामायनी में 'अभाव की चपल बालिका' कहा गया है। मानसिक हलचल का रहना चिंता में स्वाभाविक है। मनु का मन चिंताओं से घिरा हुआ है। उन्हें अतीत का स्मरण होता है। वे सोचते हैं कि देवताओं का विलासपूर्ण जीवन कितना उच्छृंखल बन गया था। मनु चिंतालीन है और खिन्न मन से सारा प्रलय दृश्य देख रहे हैं। भारतीय शास्त्र में लिखा है कि "ऐश्वर्य नष्ट होने पर मन में चिंता मनोभाव की उत्पत्ति हो जाती है।" मनु भी देवताओं के इष्ट ऐश्वर्य के विनाश से दुखी है।

चिंता के उपरांत दूसरा सर्ग आशा है। आशा उल्लास और विश्वास की सूचिका है। आशा सर्ग में प्रलयोपरांत का दृश्य है। बताया गया है कि प्रलय जल हटते ही चारों ओर हरीतिमा और प्राकृतिक सुषमा दिखाई देने लगती है, लुप्त चेतना वापस आ जाती है और सोई वनस्पतियाँ ऐसे खिलती दिखाई देती हैं जैसे सोकर जगी हों। प्रकृत्ति का यह उल्लासपूर्ण मनोरम वातावरण मन को भी प्रभावित करता है। मन के प्रभाव से इसमें जीवन और मन दोनों में ही आशा लता लहलहाने लगती है। मन में कौतूहल के साथ-साथ विराट सत्ता के प्रति भी आस्था भाव जमने लगता है। आस्था के विकसित होते ही अहंभावना भी विकास पाने लगती है और फिर मानव मन वासना की ओर झुकने लगता है।

कामायनी के आशा सर्ग के अंतर्गत मन का उल्लास, विश्वास और व्यक्ति का अहम् चित्रित है। प्राकृतिक जागरण के साथ मन में यह उल्लास जमना और फिर अहम् मूलवृत्ति का विकसित होना कामायनी के मनु का ही मन पक्ष है। उल्लास देखकर यों भी मन में आशा बंधती है। चिंता की सीमाओं को पार करता हुआ मनु आशा सर्ग में उल्लास से भरा-पूरा और नए उत्साह से संवलित लगता है। ईश्वर के प्रति विश्वास और तत्पश्चात् आत्माभिमान की विकसित मनोवृत्ति भी इसी कारण दिखाई गई है।

तीसरा सर्ग श्रद्धा है। इस सर्ग के अंतर्गत मन और श्रद्धा का पारस्परिक संबंध जोड़ा गया है। "आशा सर्ग में मन के अंतर्गत रागात्मक भाव या अनादिवासना को जागृत होना बताया गया है। उधर रागात्मक भाव या वासना का संबंध हृदय से है। इस प्रकार रागी मन का हृदय के संपर्क में आना स्वाभाविक लगता है। इसके अतिरिक्त श्रद्धा को आस्तिक्य बुद्धि या विश्वास भी कहा गया है।" ऋग्वेद में कहे गए इन तथ्यों को सूचित करते हुए डॉ. सक्सेना ने अपने शोध-प्रबंध में यह बताने का प्रयास किया है कि- "मनु जब विश्वास, आस्तिक्य भाव, रागात्मिका वृत्ति प्रीति और आसक्ति की ओर बढ़ता है, तब उसका संबंध श्रद्धा से जुड़ जाता है। कारण उक्त सभी गुण श्रद्धा के हैं।" अतः आशा के

अनंतर मन में श्रद्धा भाव विकसित होना स्वाभाविक है। इस प्रकार कामायनी में आशा के अनंतर श्रद्धा सर्ग की अवस्थिति मनोवैज्ञानिक है।

कामायनी का चौथा सर्ग काम है। श्रद्धा के उपरांत मन में काम भाव की जागृति बतलाई गई है। न्याय दर्शन के आधार पर तो इच्छा ही काम है। हृदय से संबंध होने पर मन में भविष्य के लिए सृजनात्मक पक्ष के सहारे कुछ इच्छा होती है। इसका कारण है- मन चिंता से निकलकर आशा और उल्लास की ओर ले जाकर यह विश्वास दिलाता है कि निराशा और पराजय स्वीकार कर लेने से कुछ नहीं बनेगा- कुछ सृजन करो और ऐसा प्रस्तुत करो जिससे भविष्य निर्माण में सहायता मिल सके।

पाश्चात्य विद्वानों में मैगडूगल ने काम को मन की दुर्निवार प्रवृत्ति कहा है। फ्रॉयड ने भी दो मूल प्रवृत्तियों की चर्चा की है- अहमिक प्रवृत्ति और काम। फ्रॉयड इसे बहुत व्यापक वस्तु मानता है। मानव जीवन का प्रेरक काम बताने से यही तथ्य प्रकाश में आता है।

काम के पश्चात् लज्जा सर्ग की अवस्थिति दिखाई गई है। लज्जा को काम और वासना के पश्चात् दिखाना साभिप्राय है। काम से वासना का उदय होता है और वासना के उदय को नियंत्रित करने वाली मूल शक्ति लज्जा है। कामायनीकार ने कहा भी है-

मैं उसी चपल की धात्री हूँ,
गौरव महिमा हूँ सिखलाती।
ठोकर जो लगने वाली है,
उसको धीरे से समझाती।।

पाश्चात्य साहित्यचार्यों ने प्रत्येक मनोभाव के दो पहलू बताए हैं- शारीरिक और मानसिक। वासना शारीरिक मनोभाव है और लज्जा मानसिक अधिक है। वासना मनोभाव मन के अंतर्गत छिपा रहने पर तो परिचय नहीं दे पाता है, किंतु अपनी अभिव्यक्ति के दौरान लज्जा के रूप में प्रगट होता है। लज्जा का, वासना के उपरांत, कामायनी में वर्णन इस प्रकार किया गया है-

लाली बन सरल कपोलों में
आँखों में अंज़न सीलगती,
कुंचित अलकों से धुँघराली
मन की मरोर बनकर जगती।
चंचल किशोर सुंदरता की,
मैं करती रहती रखवाली,
मैं वह हल्की सी मसलन हूँ
जो बनती कानों की लाली।।

लज्जा के उपरांत कर्म सर्ग का विधान है। रजोगुण से युक्त मन तमोगुण की राह पर चलता दिखाई देता है। कारण, वासना का अतिरेक मन को आसुरी वृत्तियों का गुलाम बना देता है। परिणामत: हिंसा, मादकता, विलासप्रियता, प्रमाद और मोह आदि से प्रीति हो जाती है। गीता के आधार पर तमोगुणी व्यक्ति की विशेषताएँ भी यही हैं। कहा गया है कि तमोगुण की वृद्धि हो जाने पर अंत:करण और इंद्रियों में अप्रकाश, कर्तव्य-कर्मों में अप्रवृत्ति अर्थात् व्यर्थ चेष्टा और निद्रा आदि अंत:करण की मोहिनी वृत्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। आसुरीवृत्ति वाले पुरुष के लिए कहा गया है कि- "उसे प्रकृति एवं निवृत्ति का ज्ञान नहीं रहता है, उसमें शौच, आचार एवं सत्य नहीं रहते, मिथ्या ज्ञान का अवलंबन करके यह नष्टात्मा एवं अल्प बुद्धि अहित, उग्र एवं क्रूर कर्म तथा जगत के क्षय में ही लीन रहने लगता है। उसमें दंभ और मद बढ़ जाता है तथा वह किसी प्रकार भी पूर्ण न होने वाली कामनाओं का सहारा लेकर अज्ञान से मिथ्या सिद्धांतों को अपनाता हुआ भ्रष्टाचार में प्रवृत्त हो जाता है।"

कामायनी में कर्म के पश्चात् ईर्ष्या सर्ग की योजना मिलती है। आसुरी और तामसी वृत्तियों में लिप्त व्यक्ति के मन में ईर्ष्या भाव उदय होता है। प्राय: देखा जाता है कि मानव मन दूसरे के उल्लास, सुख और ऐश्वर्य को सहन नहीं कर पाता है। वह उसके सौभाग्य से ईर्ष्या करने लगता है। कामायनी में मनु के मन में इसी ईर्ष्या भाव की संस्थिति दिखाई देती है। श्रद्धा गर्भवती होती है। मनु जैसे ही इसे जानते हैं, वैसे ही उनका हृदय ईर्ष्या भाव से भर उठता है। वे श्रद्धा के शरीर पर, मन पर किसी दूसरे का अधिकार सहन नहीं कर सकते हैं। अपने रक्त पर पलने वाली संतान के प्रति उन्हें ईर्ष्या होने लगती है। वे अपने प्रेम को विभाजित देखते हैं और कहते हैं-

तुम फूल उठोगी लतिका सी,
कंपित कर सुख सौरभ तरंग
मैं सुरभि खोजता भटकूँगा
वन-वन बन कस्तूरी कुरंग।
यह जलन नहीं सह सकता मैं

चाहिए मुझे मेरा ममत्व
इस पंचभूत की रचना में
मैं रमण करूँ बन एक तत्व।।

अत:निर्वेद सर्ग भी मनोवैज्ञानिक पीठिका पर खड़ा दिखाई देता है। निर्वेद के पश्चात् दर्शन, रहस्य सर्ग आते हैं। इन सर्गों में मन की तत्वज्ञान के प्रति आस्था, श्रद्धा, आस्तिकता, भक्ति आदि का वर्णन मिलता है। निर्वेद शांति की अवस्थिति है और शांति की स्थिति पर पहुँचने पर मन का तत्वज्ञान की ओर बढ़ना स्वाभाविक है। तत्वज्ञान की प्राप्ति से ही श्रद्धा और आनंद की प्राप्ति होती है। कामायनी में धार्मिक संयोगों का स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक रूप मिलता है।

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने भी मन की तीन प्रवृत्तियाँ बताई हैं- ज्ञान, इच्छा और क्रिया। इन तीनों का पार्थक्य या वैभिन्य मन को संकट में डाल देता है। इसीलिए इनका समन्वय आवश्यक बताया गया है। व्यावहारिक और दर्शन की भूमिका पर प्रस्तुत ये सर्ग बड़े स्वाभाविक और अनिवार्य है। कामायनी का अंतिम सर्ग आनंद है। आनंद सर्ग में जो वर्णन है वह मनोविज्ञान की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। गेस्टाल्ट मनोविज्ञान के सिद्धांत Closing the gap के आधार पर यह वह स्थिति है जबकि मन में तनाव या खिंचाव उत्पन्न होने लगता है।

"...छायावाद का स्थायित्व उसके व्यक्तिवाद में नहीं, उसकी आत्मीयता में है; काल्पनिक उड़ान में नहीं, आत्मप्रसार में है; समाज-भीरुता में नहीं, प्रकृति प्रेम में है; प्रकृति-पलायन में नहीं, नैसर्गिक जीवन की आकांक्षा में है; आवेगपर्ण भावोच्छ्वास में नहीं, संवेदनशीलता में है; सौंदर्य की कल्पना में नहीं, सौंदर्य की भावना में है; स्वप्न में नहीं, स्वप्न की वास्तविक आकांक्षा में है; अज्ञात की जिज्ञासा में नहीं, ज्ञान के प्रसार में है; आदर्श में नहीं, यथार्थ में है; कल्पना में नहीं, वास्तविकता में है; दृष्टिकोण में नहीं, दृष्टि में है; उक्ति-वैचित्र्य में नहीं, अभिव्यंजना के प्रसार में है।... छायावाद को हिंदी साहित्य में भक्ति-काव्य के बाद द्वितीय स्थान दिया जाता है।... 'कामायनी' छायावाद का प्रतिनिधि काव्य है।... वह छायावाद की अनेक बिखरी रचनाओं के बीच स्तंभ के समान खड़ी है।"

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. प्रसाद, जयशंकर, कामायनी, भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहबाद, पृ.-53
2. वही, पृ.-260
3. वही, पृ.-3
4. वही, पृ.-53
5. वही, पृ.-103
6. वही, प.- 153
7. सिंह नामवर, छायावाद, राजकमल प्रकाशन, पृ.-154, 155

– हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

❑❑❑

'वैश्वानर' उपन्यास में वैदिक संदर्भ

डॉ. उमेश कुमार शुक्ल

'वैश्वानर' शिवप्रसाद जी का अंतिम उपन्यास है। यह उनकी काशीत्रयी योजना का भी अंतिम उपन्यास है। यद्यपि विषयवस्तु की दृष्टि से यह काशीत्रयी का पहला उपन्यास है। अत: काशीत्रयी की दृष्टि से इस उपन्यास का महत्व तो है ही, साथ ही अति प्राचीन वेदकालीन पृष्ठभूमि पर लिखा होने के कारण इसका महत्व हिंदी साहित्य में विशिष्ट है, इसकी कथावस्तु की आधार भूमि उतनी प्राचीन है कि इसे विशुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास न कहकर पौराणिक ऐतिहासिक उपन्यास कहना अधिक तर्कसंगत है। प्रस्तुत लेख में शिवप्रसाद जी द्वारा लिखित पौराणिक उपन्यास 'वैश्वानर' में छिपे वेद कालीन साहित्यिक तत्वों का अध्ययन किया जा रहा है।

'वैश्वानर' का कथानक महाभारत और रामायण से भी प्राचीन है। वैदिक साहित्य में दिवोदास को काशी का प्रथम राजा कहा गया है, उसी का पुत्र है प्रतर्दन। 'वैश्वानर' उपन्यास प्रतर्दन की संघर्ष गाथा है, जिसे कथा का रूप देने के लिए लेखक को पृथ्वीसूक्त, पुरुष सूक्त, नासदासीत सूक्त आदि वैदिक ऋचाओं से पर्याप्त सहायता मिलती है। प्रतर्दन प्रसिद्ध वैदिक वैद्यराज धन्वंतरि के पौत्र दिवोदास का पुत्र था। इस पूरे परिवार को वैश्वानर विशेषण से विभूषित किया गया है। वैश्वानर अर्थात् अग्नि जो हमें अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाती है। वैश्वानर से होड़ लेने वाला धन्वंतरि का इस वृद्ध आर्य जनों का परिवार सरस्वती उपकंठ को छोड़कर काशी की ओर पलायन करता है। सप्त सिंधु के सभी आर्यजनों ने मिलकर निर्णय लिया था कि काशी जनपद छत्र वृद्ध आर्यजनों को दिया जाए। उसी के अनुसार धन्वंतरि उनका बेटा भीम रथ पौत्र दिवोदास तथा प्रपौत्र प्रतर्दन पूरे परिवार के साथ काशी को निकल पड़े। यह गाथा है आर्यजनों के संघर्ष से काशी में अपने आप को स्थापित 'वैश्वानर' का कथानक वैदिक कालीन पृष्ठभूमि पर आधारित है। वैश्वानर की ऐतिहासिकता की परख इसके वैदिक संदर्भ में करना ही तर्क संगत है। इसमें वर्णित प्रमुख घटनाओं और प्रमुख पात्रों का आधार वैदिक साहित्य में प्राप्त होता है।

'वैश्वानर' का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

'वैश्वानर' वेदकालीन कथानक पर आधारित उपन्यास है। "इसके सृजन में लेखक ने केवल काल्पनिकता का आश्रय न लेकर अनेक वैदिक ग्रंथों का आधार दिया है। उनके विद्वान, गंभीर, पढ़ाकू, और जिज्ञासु व्यक्तित्व के दर्शन वैश्वानर में होते हैं। वैश्वानर पर कार्य करने से पूर्व उन्होंने संपूर्ण वैदिक साहित्य खंगाल डाला था और कार्य के दौरान भी जब किसी नवीन कृति की सूचना मिली, उन्होंने कार्य को वहीं स्थगित कर, जब तक उस कृति को उपलब्ध कर उससे गुजरे नहीं, वैश्वानर को स्थगित किया। किसी भी जिज्ञासु की भाँति व विद्वानों से उस काल पर चर्चा कर उनके मत को जानकर 1993 के दिसंबर में वे उसी उद्देश्य से डॉ. रामविलास शर्मा के यहाँ पहुँचे थे और लगभग 1:30 घंटे तक विविध वैदिक विषयों पर चर्चा करते रहे थे।"[1]

1. उपन्यास के नायक प्रतर्दन का वैदिक साहित्य में वर्णन–प्रतर्दन एक प्रसिद्ध वैदिक पात्र है उसके पिता

दिवोदास की चर्चा भी वैदिक साहित्य में प्राप्त होती है। वह ऋग्वेद में वर्णित प्रसिद्ध दास यज्ञ युद्ध का यशस्वी विजेता था। ऋग्वेद के दशम मंडल के पूर्वोक्त सूक्त का द्रष्टा ऋषि काशिराज प्रतर्दन हैं। इसी के नवम् मंडल में 96वें सूक्त का ऋषि प्रतर्दन दिवोदास को बताया गया है। स्पष्टत: यह ऋषि प्रतर्दन काशिराज भी है और दिवोदास का पुत्र भी है। राजा होने के साथ ही साथ इसने मंत्र द्रष्टा ऋषि होने का महत्व भी प्राप्त कर लिया था। महाभारत के 'शांतिपर्व' में भगवान श्री कृष्ण और युधिष्ठिर के बीच होने वाले संवाद में अत्यंत प्राचीन काल में प्रतर्दन और मैथिल राजा में संग्राम होने की बात कही गई है।[2] पुराणों में भी प्रतर्दन के शक्तिशाली राजा होने का उल्लेख मिलता है जिसे कुवलयाश्व भी कहा जाता था। इसे शत्रुजित, ऋतध्वज आदि नामों से भी पुकारा गया है। इसके पुत्र का नाम अलर्क था। लेखक ने इस संबंध में श्रीमद्भागवत पुराण और हरिवंश पुराण से उदाहरण भी प्रस्तुत किए हैं।[3]

उपनिषदों में भी प्रतर्दन का उल्लेख मिलता है। 'बृहदारण्यक उपनिषद' में उसे अजातशत्रु कहा गया है। 'कौशीतकी ब्राह्मणोपनिषद' में प्रतर्दन की अपेक्षाकृत वृहद चर्चा है और उसके नाम पर प्रतर्दन अग्निहोत्र नामक एक भिन्न याज्ञिक प्रक्रिया शुरू होने का विस्तृत वर्णन किया गया है। प्रतर्दन इंद्र संवाद उपनिषदों में प्राप्त होता है। जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रतर्दन अतुलित प्रतापी राजा था जो देवताओं के राजा इंद्र से भी प्रशंसित था। इन सभी वैदिक साक्ष्यों के आधार पर प्रतर्दन के ऐतिहासिक पात्र होने में कोई संदेह नहीं रह जाता।

2. उपन्यास के पात्र धन्वंतरि का वैदिक साहित्य में वर्णन–उपन्यास के सबसे अनुभवी, ज्ञानी और सम्मानित सदस्य के रूप में धन्वंतरिद्वीसमादृत हैं। वे एक अद्वितीय वैद्य हैं। धर्मग्रंथों में भी उनका स्मरण इसी रूप में किया गया है। 'श्रीमद्भागवत' में उन्हें आयुर्वेद का प्रवर्तक कहा गया है।[4] उपन्यास में उनको आयुर्वेद का जनक, विष्णु का अवतार, समुद्र मंथन के समय कलश लेकर निकले हुए दिव्य पुरुष आदि रूप में वर्णित किया गया है, जिसे प्रतीकात्मक मानकर उपन्यासकार ने इस प्रसंग की उद्भावना की है।

उपन्यास की कथा जिस समय से आरंभ होती है उस समय काशी में 'तकमा' रोग का भयंकर प्रकोप व्याप्त था। धन्वंतरि तकमा पीड़ितों की पुकार सुनकर सरस्वती की उपत्यकता छोड़कर काशी आए थे। दुखी जन हेतु उनका जीवन अर्पित था। तरह–तरह के रोगियों को उन्होंने जीवनदान दिया था।

काशी आकर धन्वंतरि ने अत्यंत प्रयास करके रात–रात भर जागकर वृक्षों और वनस्पतियों के गुणों का शोध कर तकमा की औषधि का अनुमान लगाया परंतु इस अनुमान को प्रामाणिक रूप देने के लिए यह आवश्यक था कि उस औषधि का किसी व्यक्ति पर प्रयोग किया जाए। आशंका यह थी कि यह औषधि जहरीली भी हो सकती थी। जनकल्याण की भावना को सर्वोपरि मानते हुए धन्वंतरि ने उस औषधि को स्वयं ही परीक्षित किया और जब पूर्ण आश्वस्त हो गए कि औषधि जहरीली नहीं है तब उन्होंने उसका अन्य लोगों के उपचारार्थ प्रयोग शुरू किया। उपन्यासकार ने इस प्रसंग को पुराण प्रसिद्ध उस घटना के स्पष्टीकरण के रूप में लिखा है जिसमें कहा गया है कि देवता और दानवों ने मिलकर समुद्र मंथन किया। पहले उसमें हलाहल विष निकला और उसके उपरांत अमृत कलश लिए हुए धन्वंतरि प्रकट हुए। उपन्यासकार ने धन्वंतरि को मानवता के समस्त गुणों से परिपूर्ण महान व्यक्तित्व का धनी दिखाया है। उन्हें हिंसा से घृणा थी, वे शत्रु पर भी दया दिखाते थे, उनका मानना था कि मनुष्य की समस्या का समाधान मनुष्य ही करेगा, मृत्यु नहीं।[5] इस प्रकार लेखक ने वैद्धराज धन्वंतरि का चित्रण ऐतिहासिक धरातल पर विश्वमानुष की महत्ता के अनुरूप किया है।

3. वैदिककाल से संबंधित अन्य घटनाएँ–राम भार्गव अर्थात् परशुराम पुराण प्रसिद्ध पात्र हैं वे जमदग्नि और रेणुका के पुत्र थे उनसे संबंधित कथानक 'बाल्मीकी रामायण', 'श्रीमद्भागवत', 'अध्यात्म रामायण', 'पद्मपुराण' आदि अनेक ग्रंथों में उपलब्ध है। राम भार्गव अर्थात् परशुराम पुराण को शिव के द्वारा प्राप्त अकुंठ परश, क्षत्रियों से युद्ध कार्तवीर्य अर्जुन से द्वंद युद्ध, कार्तवीर्य को मारने तथा जीते हुए आर्यावर्त को कश्यप ऋषि को दान में देना आदि औपन्यासिक घटनाएँ भी वैदिक साहित्य में पर्याप्त प्रसिद्ध हैं।[6] उपन्यास में दतात्रेय का योगी होना, अलर्क और कार्तवीर्य अर्जुन को दतात्रेय द्वारा शिष्य बनाना अलर्क का क्षेमक असुर को पराजित करना आदि घटनाओं का वर्णन मिलता है। भारतीय

प्राचीन चरित कोश के अनुसार यह वर्णन वैदिक साहित्य में उपलब्ध है।[7]

4. इतिहास परक घटनाओं का वैदिक साहित्य में वर्णन- 'वैश्वानर' में कतिपय ऐसी घटनाएँ भी वर्णित हुई हैं, जो कथा प्रसंग के अनुसार तो बहुत महत्वपूर्ण नहीं लगती किंतु उनका ऐतिहासिक महत्व अवश्य है।

● उपन्यास में दिवोदास के राज्याभिषेक पर उसकी पत्नी दृशद का क्रोध व्यक्त किया गया है। दिवोदास सिंहासन पर अकेले ही बैठ जाता है, न तो वह अपनी पत्नी को सिंहासन पर बैठाता है और न राज्यतिलक के आयोजन में उसकी अनुपस्थिति को ही महत्व देता है। उसके उस व्यवहार से क्रोधित दृशद कहती है कि "पत्नी के बिना किया गया राज्याभिषेक अशुद्ध और विवेकहीन है।"[8] दृशद का यह कथन वैदिक मान्यताओं के अनुसार ही है जैसा कि महादेवी वर्मा के इस कथन से पुष्ट होता है- "वैदिक समाज रचना में पत्नी सहधर्मचारिणी है, उसके बिना न कोई कर्मकांड संपन्न हो सकता है, न सामाजिक कर्म सफल हो सकता है।"[9]

● 'वैश्वानर' में गार्गी और याज्ञवल्क्य के शास्त्रार्थ की चर्चा आई है। यह प्रसंग वैदिक साहित्य में पर्याप्त प्रसिद्ध रहा है। याज्ञवल्क्य मुख्यतः यजुर्वेद और शतपथ ब्राह्मण के दृष्टा तथा भारतीय दर्शन के महत्वपूर्ण प्रतिनिधि रहे हैं।[10]

● 'वैश्वानर' में वेश्याओं का वर्णन भी मिलता है। वैदिक युग में उस प्रकार की परंपरा संभवतः रही होगी, क्योंकि वात्सायन ने 'कामसूत्र' में वेश्याओं का जैसा विशद वर्णन किया है, उससे तत्कालीन समाज में परंपरा सी चली आ रही उस व्यवस्था का संकेत मिलता है। उन्होंने कहा है कि वेश्याओं को अपनी माँ या अन्य किसी वृद्ध स्त्री के साथ रहना चाहिए तथा कुछ प्रभावी लोगों से उसे मैत्री करनी चाहिए।[11] वात्सायन ने इस प्रकार की बात अपने पूर्वकालीन सामाजिक व्यवस्था को देखकर ही कही होगी, इसलिए शिवप्रसाद जी ने वैदिक युग का चित्रण करते समय इस बात का भी ध्यान रखा है। वैश्वानर में चित्रित गणिका बसंत तिलका अपनी माँ वेशमणि के साथ ही रहती है।[12]

इस प्रकार स्पष्ट है कि वैश्वानर में आई हुई घटनाएँ और प्रसंग वैदिक और पौराणिक ग्रंथों के अनुरूप है। लेखक ने इसमें उतना परिवर्तन अवश्य किया है कि पौराणिक प्रसंगों के दैवीय या मायावी वर्णनों को मानवीय संदर्भ में तार्किक ढंग से विवेचित किया है। उदाहरणार्थ वैश्वानर में पातालकेतु राक्षस द्वारा प्रतर्दन की पत्नी मदालसा के अपहरण का प्रसंग आया है। जो श्रीमद्भागवत, पद्मपुराण आदि ग्रंथों में वर्णित है। इन ग्रंथों में पातालकेतु को पाताल में रहने वाला मायावी राक्षस बताया गया है, जो अपनी इच्छानुसार शूकर का रूप धारण कर लेता था। शिवप्रसाद सिंह जी ने इस प्रसंग को मानवीय धरातल पर विवेचित किया है। उन्होंने पातालकेतु को विंध्यपर्वत की गुफाओं में रहने वाला दिखाया है। जो गंगा के किनारे-किनारे पहाड़ी रास्ते से चलता हुआ काशी आता था, और वहाँ के पूजा स्थानों पर अपवित्र वस्तुओं को फेंककर तथा पूजा करने वालों को दंडित करके अत्यंत तीव्रता के साथ फिर गंगा के मार्ग से उन्हीं पहाड़ी गुफाओं में छिप जाता था।[13] उसी प्रकार मायावी कहा जाने वाला पातालकेतु शूकर नहीं बन जाता था "वह तो शूकराकृति था ही, थूथन उघाड़े जब भी वह हँसता दोनों पार्श्वों के कुक्करीय दंत निकले रहते।[14] उपन्यासकार का यह विवेचन अधिक बुद्धि ग्राह्य बन पड़ा है।

वैश्वानर उपन्यास की भाषा- शिवप्रसाद जी भाषा को लेकर अत्यंत सजग रहे हैं। वैश्वानर उपन्यास में लेखक ने कालखंड के अनुरूप ही भाषा का चयन भी किया है। जो उनकी सजग दृष्टि का प्रमाण है। वैदिक पृष्ठभूमि पर आधारित होने के कारण उपन्यास में तत्सम शब्दों की बहुलता है- जैसे समिधा, (ऊर्जा) प्रातराश (नाश्ता) भ्राताज, मणिकुट्टिम, धन्वंतरि, प्रकीर्ण, वृषभ, चक्रपाल आदि इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरणों के आधार पर यह प्रमाणित हो जाता है कि भाषा के आधार पर उपन्यासकार को सफलता मिली है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि शिवप्रसाद सिंह के ऐतिहासिक-पौराणिक उपन्यासों में ऐतिहासिकता को सुरक्षित रखने के लिए उनकी प्रबल अध्येतावृति सदैव सजग रही है। उन्होंने जितने भी महत्वपूर्ण प्रसंग, घटनाओं, भौगोलिक परिदृश्यों आदि का चित्रण किया है, उन सबके संबंध में पर्याप्त ऐतिहासिक साक्ष्य भी उपलब्ध हैं। लेखक ने अधिकांश प्रसंगों में ऐतिहासिक संदर्भों को भी स्वयं ही उद्धृत कर दिया है, और जहाँ कहीं कल्पना का सहारा लिया भी गया है, वहाँ प्रसंगों को स्पष्ट करने के लिए ऐसा हुआ है। उन्होंने अपनी ओर से घटनाओं को इधर से उधर नहीं खिसकाया है,

जो घटनाएँ जिस समय की हैं, उनका चित्रण उसी के क्रमानुसार किया है। हाँ, घटनाओं को तारतम्यता देने के लिए यत्र-तत्र कल्पित प्रसंगों की उद्‌भावना की गई है, परंतु उससे उपन्यासों की ऐतिहासिकता अवरुद्‌ध नहीं होती है। ऐतिहासिकता को बनाए रखकर, कल्पित प्रसंगों के माध्यम से कथावस्तु को अपेक्षाकृत रोचक और प्रभावोत्पादक बनाने में शिवप्रसाद सिंह को अद्‌भुत सफलता प्राप्त हुई है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. शिवप्रसाद सिंह का उपन्यास साहित्य, राजेंद्र खैरनार, पृ. 208

2. वैश्वानर, शिवप्रसाद सिंह (ज्वलंत प्रश्न), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2004, पृ. 8

3. वैश्वानर, शिवप्रसाद सिंह (ज्वलंत प्रश्न), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2004, पृ. 8

4 श्रीमद्‌भागवत महापुराण-9/1/7

5. वैश्वानर, शिवप्रसाद सिंह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2004, पृ. 127

6. भारतीय संस्कृति कोश, खंड 5, संपा. पं. महादेव शास्त्री जोशी, पृ. 425-427

7. भारतवर्षीय प्राचीन चरितकोश, खंड 1, डॉ. सिद्‌धेश्वर शास्त्री, पृ. 413

8. वैश्वानर, शिवप्रसाद सिंह,वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2004, पृ. 215

9. भारतीय संस्कृति के स्वर, महादेवी वर्मा, पृ. 82

10. वैश्वानर, शिवप्रसाद सिंह, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण-2004, पृ. 498-499

11. भारतीय संस्कृति कोश, खंड 9, पं. महादेव शास्त्री जोशी, पृ0 104

12. वैश्वानर, शिवप्रसाद सिंह,वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2004, पृ. 124

13. वैश्वानर, शिवप्रसाद सिंह,वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण-2004, पृ. 428

14. वैश्वानर, शिवप्रसाद सिंह,वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण-2004, पृ. 430

– सहायक आचार्य, हिंदी विभाग, उत्तराखंड संस्कृत विश्वविद्‌यालय बहादरनाबाद, हरिद्‌वार

❑❑❑

वेद सभ्यता के आदि ग्रंथ

सतीश श्रोत्रिय

वेद भारतीय सभ्यता के आदि ग्रंथ हैं।
ये अतीत जीवन के आरंभिक मंत्र हैं।।
ये भारतीय संस्कृति के सर्व प्राचीन स्रोत हैं।
दर्शन भाव धर्म विश्वास से ओत-प्रोत हैं।।
मनु स्मृति कहे वेद धर्म का मूल ज्ञान है।
वेद सनातन, पथ प्रदर्शक, अभ्यास तप विधि हैं।।
ऋग्, यजु, साम, अथर्व ये चार ग्रंथ वेद हैं।
चार संहिताएँ मंत्र संग्रह युक्त ये चार वेद हैं।।
वेदों के गूढ़ ज्ञान की व्याख्या हेतु ब्राह्मण ग्रंथ हैं।
ब्राह्मणों के दो भाग आरण्यक व उपनिषपद में मंत्र हैं।।
आरण्यकों में वानप्रस्थ जीवन का वर्णन है।
उपनिषदों में ब्रह्म विद्या का वर्णन है।।
ऋग्वेद सर्वाधिक प्राचीन सर्वमान्य ग्रंथ हैं।
इसमें धर्म दर्शन, ज्ञान-विज्ञान कला के मंत्र हैं।।
ऋग्वेद में देवताओं की मंत्रयुक्त स्तुतियाँ हैं।
इसमें तैंतीस देवताओं की सफल प्रस्तुतियाँ हैं।।
यजुर्वेद में तत्व ज्ञान, कर्म, उपासना के मंत्र हैं।
प्रसिद्ध गायत्री मंत्र यजुर्वेद का ही मूल मंत्र है।।
सामवेद का परम अर्थ ऋचा और स्वर ज्ञान है।
इसमें मंत्र गीति तत्वों से पूर्ण उपासना प्रधान है।।
अग्नि, सूर्य, सोम रूप स्तवन की मूल भावना है।
विश्व तथा समस्त चराचर की मनोकामना है।।
सामवेद का पाठ सस्वर पाँच अंशों में होता है।
हिंकार, प्रस्ताव, उद्ग्रीथ, प्रतिहार, निधान होता है।।
अथर्ववेद में आयुर्वेद, राजधर्म समाज व्यवस्था है।
अध्यात्मवाद ईश्वर, जीव, प्रकृति की व्याख्या है।।
उपनिषदों से वैदिक कर्मकांडों के तत्व प्राप्य हैं।।
मनुष्य को विद्या व अविद्या के ज्ञान से अमरत्व प्राप्य है।
शाकल ऋषि ने वेदों के मंत्रों के पाठ की रीति चलाई।
संधि विच्छेद करके उनको स्मरण करने की रीति बताई।।

– मुगलपुरा जावरा, जिला रतलाम (मध्य प्रदेश)

❑❑❑

संपर्क सूत्र

1. डॉ. नीरज शर्मा, अध्यक्षा, संस्कृत विभाग, कन्या महाविद्यालय, जालंधर, पंजाब
2. डॉ. विनोद कुमार, असिस्टेंट प्रोफेसर, मानविकी संकाय, लवली प्रोफेशनल यूनिवर्सिटी, फगवाड़ा, पंजाब
3. डॉ. विशाल भारद्वाज, असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, गुरु नानकदेव विश्वविद्यालय, अमृतसर, पंजाब
4. डॉ. सलोनी, म. न. 122, गोकुल एवेन्यू, मजीठा रोड, अमृतसर-143001
5. डॉ. प्रशांत मिश्र, सहायक आचार्य, बाबू जगजीवन राम विधि संस्थान, बुंदेलखंड विश्वविद्यालय, झाँसी
6. डॉ. दलबीर सिंह चाहल, विभागाध्यक्ष संस्कृत विभाग, गुरु नानकदेव विश्वविद्यालय, अमृतसर, पंजाब-143005
7. डॉ. राजहंस कुमार, असिस्टेंट प्रोफेसर (हिंदी) महाराजा अग्रसेन महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
8. अखिलेश आर्येंदु, ए-11, त्यागी विहार, नांगलोई, दिल्ली-110041
9. डॉ. विजेंद्र प्रताप सिंह, सहायक आचार्य (हिंदी) राजकीय मॉडल महाविद्यालय, अरनियां खुर्जा, बुलंदशहर, उत्तर प्रदेश
10. डॉ. शालिनी राजवंशी, बी-603, प्रिंस अपार्टमेंट, आई.पी. एक्सटेंशन, दिल्ली-110092
11. डॉ. अर्चना झा, विभागाध्यक्ष, हिंदी विभाग, सेंट एंस कॉलेज फॉर वीमेन, मेंहदीपट्नम, हैदराबाद
12. डॉ. कपिल गौतम, सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग, वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा, राजस्थान
13. डॉ. माधव कृष्ण, प्रबंध निदेशक, उपनिषद मिशन ट्रस्ट, द पी. आई.एस. विद्यालय, अष्टभुजी कॉलोनी, बड़ी बाग, लंका गाजीपुर-233001
14. प्रोफेसर (डॉ.) दिनेश चमोला 'शैलेश', 157, गढ़ विहार, फेज -1, मोहकमपुर, देहरादून -248005
15. डॉ. (कु.) साधना जनसारी, 'अतिथि व्याख्याता' संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विभाग, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर, मध्य प्रदेश
16. डॉ. किरण शर्मा, एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी, काशी नरेश राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, ज्ञानपुर, भदोही, उत्तर प्रदेश
17. श्री अवनीश कुमार चतुर्वेदी, असिस्टेंट प्रोफेसर, गणित विभाग, इलाहाबाद, प्रयागराज-211002
18. डॉ. नोदनाथ मिश्र, सी-180, द्वितीय तल, हरिनगर घंटाघर, नई दिल्ली-110064
19. डॉ. पूरन चंद टंडन, संकल्प, डी-67, पश्चिम विहार, नई दिल्ली
20. आ. अ. वेताल, यू यू, 179 सी, पीतमपुरा, दिल्ली-110034

21. लक्ष्मी वी., असिस्टेंट प्रोफेसर, रमय्या कॉलेज ऑफ आर्ट्स साइंस एंड कॉमर्स, बेंगलुरू
22. अमित सिंह, डॉ. राममनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय, अयोध्या, फैजाबाद
23. हरीश जैन, एन 40, बुद्ध विहार, फेस 1, दिल्ली-110086
24. डॉ. अंजू लता, एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, तेजपुर विश्वविद्यालय, असम
25. डॉ. शोभा, एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, रमय्या कॉलेज ऑफ आर्ट्स साइंस एंड कॉमर्स, बेंगलुरू-54
26. डॉ. रेखा, सेक्टर 3, मकान नं. 2340, रोहतक, हरियाणा
27. डॉ. विदुषी शर्मा, एल-108, ऋषि नगर, रानी बाग, दिल्ली-110034
28. डॉ. प्रियंजन, सहायक निदेशक (रा. भा), जम्मू केंद्रीय विश्वविद्यालय, जम्मू
29. डॉ. के. वनजा, प्रोफेसर, हिंदी विभाग, कोच्ची विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, कोच्ची - 22
30. डॉ. राजेश कुमार, एसोसिएट प्रोफेसर हिंदी, सेठ पी.सी. बागला (पी.जी.) कॉलेज, हाथरस, उत्तर प्रदेश-204101
31. प्रो. रवींद्र कुमार, मेरठ विश्वविद्यालय, मेरठ, उत्तर प्रदेश
32. डॉ. राजरानी शर्मा, एसोसिएट प्रोफेसर सत्यवती महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
33. सागर चौधरी, शोधाार्थी, के. टी. एच. एम. महाविद्यालय, नासिक, महाराष्ट्र
34. अमन कुमार, शोधार्थी, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
35. डॉ. साक्षी जोशी, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
36. डॉ. उमेश कुमार शुक्ल, सहायक आचार्य, हिंदी विभाग, उत्तराखंड संस्कृत विश्वविद्यालय बहादरनाबाद, हरिद्वार
37. सतीश श्रोत्रिय, मुगलपुरा जावरा, जिला रतलाम (मध्य प्रदेश)

❑❑❑

केंद्रीय हिंदी निदेशालय

<u>भाषा पत्रिका की सदस्यता हेतु आवेदन पत्र</u>

सेवा में,

निदेशक

केंद्रीय हिंदी निदेशालय, उच्चतर शिक्षा विभाग

मानव संसाधन विकास मंत्रालय, पश्चिमी खंड-7, आर. के. पुरम - 110066

ई-मेल chdsalesunit@gmail.com

फोन नं. - 011 - 26105211 एक्सटेंशन नं. 201, 244

महोदय/महोदया

कृपया मुझे **भाषा** (द्वैमासिक पत्रिका) का एक वर्ष के लिए / पाँच वर्ष के लिए / दस वर्ष के लिए / बीस वर्ष के लिए दिनांक ..... से सदस्य बनाने की कृपा करें । मैं पत्रिका का वार्षिक / पंचवर्षीय / दस वर्षीय / बीस वर्षीय सदस्यता शुल्क ..... रुपए, निदेशक, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, नई दिल्ली के पक्ष में नई दिल्ली स्थित अनुसूचित बैंक में देय डिमांड ड्राफ्ट सं ..... दिनांक ..... द्वारा भेज रहा/ रही हूँ। कृपया पावती भिजवाएं ।

नाम : .....

पूरा पता : .....

.....

मोबाईल/दूरभाष : .....

ई-मेल : .....

संबद्धता / व्यवसाय : .....

आयु : .....

पूरा पता जिस पर : .....

पत्रिका प्रेषित की जाए .....

सदस्यता	**शुल्क डाक खर्च सहित**
वार्षिक सदस्यता	रु. 125.00
पंचवर्षीय सदस्यता	रु. 625.00
दसवर्षीय सदस्यता	रु. 1250.00
बीसवर्षीय सदस्यता	रु. 2500.00

डिमांड ड्राफ्ट **निदेशक, केंद्रीय हिंदी निदेशालय के पक्ष में नई दिल्ली स्थित अनुसूचित बैंक में देय होना चाहिए ।** कृपया ड्राफ्ट के पीछे अपना नाम एवं पूरा पता भी लिखें ।

नाम एवं हस्ताक्षर

नोट: कृपया पते में परिवर्तन होने की दशा में कम से कम दो माह पूर्व सूचित करने का कष्ट करें ।

पंजी संख्या. 10646/61
ISSN 0523-1418

भाषा (द्वैमासिक)
BHASHA-BIMONTHLY
पी. ई. डी. 305-2-2020
700

केंद्रीय हिंदी निदेशालय
उच्चतर शिक्षा विभाग
मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार
पश्चिमी खंड–7, रामकृष्णपुरम, नई दिल्ली–110066
www.chdpublication.mhrd.gov.in
प्रबंधक, भारत सरकार मुद्रणालय, रिंग रोड, मायापुरी, नई दिल्ली – 110064 द्वारा मुद्रित